‘BHAKTI KAVYA AUR PASHCHATYA ALOCHANA’

‘भक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना’

‘BHAKTI POETRY AND WESTERN CRITICISM’

A Thesis Submitted During 2024 to The University of Hyderabad In Partial Fulfillment For The Award Of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

In

HINDI

By

AJEET ARYA

Registration no. 19HHPH03

Under the Supervision of

GAJENDRA KUMAR PATHAK

(Professor, Department of Hindi, University of Hyderabad)

हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad

प्रतिष्ठित संस्थान
INSTITUTION OF EMINENCE
राष्ट्रीय अपेक्षाएँ, वैश्विक मानक
National Needs, Global Standards

Department of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad,

Hyderabad – 500046

2024

भक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना

हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोधार्थी
अजीत आर्या

शोध-निर्देशक
प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक

शोध समिति सदस्य

डॉ. भीम सिंह (एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय)

डॉ. जे. आत्माराम (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय)

हिन्दी विभाग, मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

तेलंगाना- 500046

2024

DECLARATION

I **AJEET ARYA** hereby declare that this Dissertation entitled **"BHAKTI KAVYA AUR PASHCHATYA ALOCHANA" (भक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना)** submitted by me under guidance and supervision of Prof**. Gajendra kumar pathak** is a bonafide research work. Which is also free from plagiarism. I also declare that it has been submitted previously in part or in full to this University or Institution for the award or any Degree or Diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in Shodhganga / INFLIBNET.

Name: - AJEET ARYA

Reg. No. **19HHPH03**

Signature of the candidate

Date: -

Countersigned by:

Professor Gajendra Kumar Pathak

हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad

प्रतिष्ठित संस्थान
INSTITUTION OF EMINENCE
राष्ट्रीय अपेक्षाएँ, वैश्विक मानक
National Needs, Global Standards

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **"BHAKTI KAVYA AUR PASHCHATYA ALOCHANA" (भक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना)** submitted by **AJEET ARYA** bearing Regd. No-**19HHPH03** in partial fulfillment of the requirements for the award of D0CTOR OF PHILOSOPHY in **HINDI** is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted in part or in full to this university or any other university or institution for the award of any degree or diploma.

Parts related to this thesis have been:

A. published in the following:

1. Arya, Ajeet**, Bhakti Kavita : Hashiye Ka Vimarsh Aur Pashchimi Alochak**, Juni Khyat (Ugc care listed journal), Vol: 13, Issue: 07, No. 1, July: 2023, pp.55-60 Marubhumi Sodh Sansthan, Bikaner Rajsthan. (ISSN: 2278-4632).

2. Arya, Ajeet, **Kabeer : Pashchatya Hindisahityaitihason Main**, Apni Maati (Ugc care listed journal), Vol: 50, January : 2024, pp.275-279, Chittorgarh Rajsthan. (ISSN: 2322-0724)

B. Presented in the following conferences.

1. Ajeet Arya, **'sant ravidas ki kavita aur pashchimi alochna'** organized by *'Bhartiya Hindi Parishad,* Prayagraj and *'Janjatiya Lokkala Evam Boli Vikas Akadami,* Bhopal' from 29th to 30th July, 2023.

2. Ajeet Arya, **'Aupnivaishik Itihas Lekhan Aur : Kaithreen Meyo Ki 'Mother India'** organized by IoE project UoH and CSDS New Delhi from 7th to 9th August, 2023.

Further, the student has passed the following courses towards the fulfilment of Coursework requirement for PhD:

	Course Code	Name	Credit	Result
1.	HH801	Critical Approaches to Research	4	Pass
2.	HH802	Research Paper (Project work)	4	Pass
3.	HH805	Research Methodology	4	Pass
4.	HH826	Ideology Of Hindi Litrature	4	Pass
5.	HH827	Practical Review	4	Pass

Signature of Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

दो शब्द

आज जेएनयू के दिनों को याद कर रहा हूँ। विश्वविद्यालय प्रांगण में लगी नेहरू जी की प्रतिमा के पास एक शिलापट्टिका पर उनका यह संदेश अंकित है- ‘A university stands for humanism, for tolerance, for reason, for progress, for the adventure of ideas and for the search for truth. It stands for the onward march of the human race towards even higher objectives. If the universities discharge their duty adequately, then it is well with the nation and the people’.

बुंदेलखंड के छोटे से गाँव से निकलकर इस संदेश तक पहुँचने में बहुत लोगों का सहयोग रहा, सरस्वती विद्या मंदिर कटेरा के शिक्षक जिन्होंने क, ख, ग सिखाए और काबिल बनाया। राजकीय इन्टर कॉलेज के विज्ञान के अध्यापक रणविजय सिंह पटेल, मो. इसराइल सर, रमाशंकर यादव जिन्होंने पढ़ाई को सामाजिक उत्तरदायित्त्व की तरह करने की प्रेरणा प्रथमतया दी। इस प्रथम पाठशाला के शिक्षकों के वगैर यह सफर संभव नहीं था।

दिल्ली विश्वविद्यालय के श्री वेंकटेश्वर कॉलेज में पढ़ने के दौरान ईमानदारी और दृढ़ता के साथ मेहनत करने की सीख देने वाली आदरणीय डॉ. सुशील गुप्त मैम जिनके अनुशासन ने मुझे बहुत प्रेरणा दी। हिन्दी विभाग, विमर्श परिवार, ने मुझमें जो आत्मविश्वास भरा वह मेरी जीवन भर की पूंजी है। अध्ययन के दौरान पुलकित खन्ना और माधवी मनोरम का लगातार साथ और सहयोग मिलता रहा।

जेएनयू वह जगह रही जिसने मुझे और ज्यादा विनम्र बनाया, ज्यादा सहिष्णुता दी, दुनिया और खुद को देखने का एक नज़रिया दिया। मैं उस परिसर से कभी उऋण नहीं होना चाहता। कब डॉ. रमन प्रसाद सिन्हा आदर्श शिक्षक बन गए मालूम ही नहीं लगा। उर्वशी दीदी, एजाज भाई, देवाशीष, प्रज्ञा, राखी, श्याम मीरा सिंह, महेंद्र जैसे सहयोगी साथी और बड़े भाई प्रदीप नरवाल, वीरेंद्र सिंह महला, श्रीमंत जैनेन्द्र, मनीष कुमार जैसे बेहतर रिश्ते इसी कैम्पस ने दिए। शोध कार्य के दौरान नीलम स्नेहलता ने कई बार जरूरी पुस्तकों को स्कैन कर लगातार उपलब्ध कराया जिससे यह शोधकार्य सुचारु रूप से हो सका।

जेएनयू से हैदराबाद आने की यात्रा भारी मन से शुरू हुई थी क्योंकि दक्कन में आना ऐसे लग रहा था कि जैसे सब कुछ छूट रहा हो। लेकिन गुरुवर गजेन्द्र पाठक और नीतू मैम के अभिभावकतुल्य वात्सल्य ने इसे इतना आसान बना दिया कि आज याद करते हुए मन भारी हो रहा है। सत्यभामा राजौरिया और विकास शुक्ल के साथ HCU में कदम रखे थे, खाने की जद्दो-जहद में खुदको जल्द ही सहज किया तो कोरोना जैसी महामारी ने हमको कैम्पस से अलग कर दिया। कोरोना काल में उन दो वर्षों की अनिश्चितता में प्रो. पाठक ने जो संबल दिया वह शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है।

बड़े भाई डॉ. आशुतोष कुमार पाण्डेय आकादमिक और निजी जीवन में हमेशा एक मेंटर की तरह रहे उनके द्वारा समय-समय पर दिए गए बहुमूल्य राय-मशविरों से यह थीसिस और ज्यादा समृद्ध हो सकी है। क्या संयोग है कि तमाम लोग आज याद आ रहे हैं जो इस यात्रा के साक्षी बने याकूब और आशीष के

साथ इंदिरा गांधी मेमोरियल केन्द्रीय पुस्तकालय में बैठकर ही यह कार्य साध पाया हूँ। पुष्कर दादा, रजनीश, राहुल, आशुतोष कुमार, विनोद भाई की आत्मीयता ने हमेशा एक भाई की तरह सहयोग किया जो अन्यत्र न मिल पाता।

डॉ. भीमसिंह जी जैसा सहज बन पाना हम सब विद्यार्थियों के लिए आजीवन एक टास्क की तरह रहेगा साथ ही मेरे सहशोध निर्देशक डॉ. जे. आत्माराम जी का मित्रवत व्यवहार अविस्मरणीय है। अनुजवत गौरव सिंह उन गाढ़े दिनों के साथी है जब सब कुछ बिखरा सा था, जेएनयू के दिनों के साथी चारुचंद्र मिश्र प्रवेश लेकर हैदराबाद आये तो उस साथ को दोबारा जिया जो 2019 के बाद छूट गया था। चारु उन कंधों की तरह रहे जिनपर सिर को टिकाया जा सकता था जो सहयोग चारु ने शोधकार्य के दौरान किया वह आजीवन अविस्मरणीय रहेगा।

अंत में उन मुस्कुराते चेहरों को कैसे भुलाया जा सकता है जिन्होंने कभी यह एहसास ही नहीं होने दिया कि हम शोधार्थी हैं। इनके साथ रहकर लगा जैसे हम भी अभी MA की कक्षाओं में बैठकर इनके साथ सीख रहे हैं बहिन नीतू शुक्ल, ममता के कैम्पस में रहने से यह कैम्पस और अधिक अपना लगने लगा था। अनुज धनंजय सिंह, अनीस अहमद, अनिल, रामजीवन भील ने जो सहयोग किया वह अविस्मरणीय रहेगा। प्रूफ और थीसिस की जटिलताओं को सुगम बनाने में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव कुँवर योगेंद्र ने दिए जिससे यह सब और आसान हो पाया है।

नन्ना का सपना था कि हम खूब पढ़ें लेकिन वह यह सब देखने के लिए वह इस दुनिया में नहीं है। उनका प्रेम और स्नेह बरबस याद आकर आँखें भिगो जाता अगर वह होते तो आज बहुत खुश होते। पापा कालका प्रसाद आर्या की जीवटता ने मुझे इस लायक बनाया है अम्मा कस्तूरी देवी के लिए कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ क्योंकि उंगली चलाते ही उनका मेहनत करता हुआ हँसता चेहरा आ जा रहा है। मामा आशाराम जी अगर स्नातक के दिनों में अपना विश्वास न जताते तो आज इस मुकाम पर पहुँचना मुश्किल था। अंत में दोनों छोटे भाई हरजीत आर्या और धर्मेन्द्र आर्या जो इस यात्रा में मजबूती बने।

इस यात्रा में जो दोस्त मेरी अपनी कमजोरियों, मूर्खताओं, संवादहीनता के चलते दूर चले गए हैं, उनके प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं उनके द्वारा दिए गए बेशर्त प्रेम को लेकर अनुरक्त महसूस करता हूँ। वे साथ न होकर भी साथ हैं और उन्हें याद कर रहा हूँ और उन्हें यह शब्द अर्पित कर रहा हूँ -

‘जो पाया बन पाया जो मैं मन की आशा जो भी

मेरा सारा प्यार अजाने जाता है तुमको ही’

आप सबका इस यात्रा में साक्षी बनने के लिए बहुत शुक्रिया, मुझे हमेशा आपकी जरूरत रही है, हमेशा रहेगी।

अजीत आर्या

06 जुलाई 2024

हैदराबाद विश्वविद्यालय, तेलंगाना

समर्पण

क्रांतिज्योति ज्योतिबा- सावित्रीबाई फुले और प्रेरणास्रोत बाबा साहब डॉ. भीमराव आंबेडकर

को याद करते हुए

वैश्विक महामारी कोरोना में असमय मृत्यु को प्राप्त उन अनाम शहीदों को

जिनको व्यवस्था ने अंतिम संस्कार से भी वंचित रखा,

इस दौर के सबसे बड़े किसान आंदोलन में शहीद हुए किसानों को

भीगीं आँखों से याद करते हुए

अपना शोधकार्य समर्पित करता हूँ।

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना .... i-xix

अध्याय-1- पाश्चात्य: हिंदी साहित्य इतिहास लेखन..1-52

1.1-इतिहास: अर्थ और प्रयोग

1.2-साहित्येतिहास ग्रंथों की पूर्वपीठिका और आरंभिक कविवृत्त संग्रह

1.3-गार्सां दा तासी और इतिहास लेखन

1.4-जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन और इतिहास लेखन

1.5-रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज और इतिहास लेखन

1.6-एफ. ई. के. और इतिहास लेखन

निष्कर्ष

अध्याय-2- सूफी काव्य और पाश्चात्य आलोचना 53-106

2.1- पश्चिमी आलोचकों के संदर्भ में भक्ति काव्य का विभाजन

2.2- सूफी काव्य और पश्चिमी साहित्येतिहास

2.3- स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक और सूफ़ी काव्य

निष्कर्ष

अध्याय-3- निर्गुण संत काव्य और पाश्चात्य आलोचना.................................107-165

3.1- निर्गुण संत काव्य और पाश्चात्य आलोचना की पृष्ठभूमि

3.2 - रविदास का काव्य और पश्चिमी आलोचना

3.3 - कबीर:पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथों में

3.4 - कबीर के स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक

3.5 – अन्य निर्गुण संत और पश्चिमी साहित्येतिहास

निष्कर्ष

अध्याय-4- कृष्णभक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना..................................166-228

4.1. कृष्ण भक्ति काव्य के संबंध में पश्चिमी आलोचकों के विचार

4.2. विद्यापति और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास

4.3. सूरदास और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास

4.4. सूरदास के स्वतंत्र पाश्चात्य आलोचक

4.5. मीरांबाई का काव्य और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास

4.6. मीरांबाई के स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक

निष्कर्ष

अध्याय- 5- रामभक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना...................................229-289

5.1- रामकाव्य के पाश्चात्य अध्येता:सामान्य परिचय

5.2- गार्सा-दा-तासी का इतिहास और रामभक्ति काव्य

5.3- जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की आलोचना और रामभक्ति काव्य

5.4- रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज का इतिहास और रामभक्ति काव्य

5.5- एफ. ई. केई का इतिहास और रामभक्ति काव्य

5.6- फ़ादर रेवरेंड कामिल बुल्के की आलोचना और रामभक्ति काव्य

5.7- शर्तोल वोदिविल की आलोचना और रामभक्ति काव्य

निष्कर्ष

6. उपसंहार ....290 -311

7. संदर्भ ग्रंथ सूची ....312 -315

प्रस्तावना

भारत में यूरोपीय लोगों का आगमन सौदागर के रूप में हुआ था और वह सर्वप्रथम अहिंदी भाषी क्षेत्रों जैसे कोचीन, मद्रास, मुंबई, गोवा और कलकत्ता (बंगाल) में आए। परंतु उन्होंने जल्द ही इस बात को समझ लिया कि 'हिंदुस्तानी' या 'हिंदी' एक ऐसी भाषा है, जिसके बिना उनका काम नहीं चल सकता है। क्योंकि वह भाषा सर्वत्र कामचलाऊ ढंग से बोली व समझी जा रही थी।

शुरुआती दौर में अकादमिक स्तर पर अगर देखें तो हम पाते हैं कि सन् 1784 ईसवी में ***'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल'*** की स्थापना ***'विलियम जोंस'*** के द्वारा कलकत्ता में की गयी। वहाँ भारतीय समाज के विभिन्न अंगों का अध्ययन किया गया और पाश्चात्य जगत की नजर में भारत के संबंध में **'एक छवि गढ़ने'** का काम इस संस्था द्वारा किया गया। यही छवि बाद के यूरोपीय लेखकों को आक्रांत किए रही।

मुरलीधर श्रीवास्तव अपनी पुस्तक **'हिंदी के विकास में यूरोपियनों का योगदान'** में एक पुर्तगाली पुस्तक **'फ्लोरल द यूजेस ऑफ कॉस्टयूम'** जो सन् 1526 ईसवी में पुर्तगाली गाइडों के निर्देशन के लिए लिखी गयी थी, में उद्धृत करते हैं - **"आप जानते हैं कि मूर्ति पूजा हमारी दृष्टि में कितनी घृणित वस्तु है। भविष्य में हमारे राज्य में उसे सहन नहीं किया जा सकता। हमें यह सूचना मिली है कि गोवा के चतुर्दिक पैगने (हिन्दुओं) के सार्वजनिक या निजी मंदिरों में अनेक प्रकार के भेद वाले पैगन जाते हैं। हम आपको सदा के लिए आदेश देते हैं कि उन्हें ध्वंस कर देना, जला देना या उन्मूलित कर देना चाहिए, और इस पर ध्यान रखना चाहिए कि किसी प्रकार की काष्ठ, धातु, मिट्टी की मूर्ति का आना बंद कर देना चाहिए"**[1]। मुख्य रूप से इसमें भारत की सगुण भक्ति धारा में जो मूर्ति पूजा है, उसका किस रूप में ध्वंस कर देने का स्वर हमें देखने को मिलता है। यह मानसिकता यहाँ इसलिए वर्णित करना आवश्यक है, क्योंकि पूरे सगुण भक्ति साहित्य का अधिकतम हिस्सा इसी मूर्तिपूजा की पक्षधरता वाला है।

उपरोक्त स्थितियां उस समय की हैं, जब भारत में यूरोपीय शक्तियां इतनी शक्तिशाली नहीं थीं। इसके इतर **'एशियाटिक सोसाइटी'** से जुड़े विद्वान थे। जो शासन करने के लिए **'भारत को जान लेना'** आवश्यक मान रहे थे। बेंजामिन जोवेट ने लिखा – **"इंग्लैंड अपनी प्रजा को जाने बिना उस पर शासन नहीं कर सकता और प्रजा को तभी समझा और जाना**

[1] मुरलीधर श्रीवास्तव, हिंदी के यूरोपीय विद्वान (व्यक्तित्व और कृतित्त्व) ,बिहार,बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ-11

जा सकता है, जब उसकी भाषा और उसके साहित्य काव्य और उसकी परिश्रुति का पूर्ण ज्ञान हो जाए"[1]।

यहाँ दो दृष्टिकोण हमारे सामने हैं एक जो भारतीय मान्यताओं को मिटाने की पक्षधरता के साथ सामने आता है, और दूसरा दृष्टिकोण जिसका मानना है कि देश को समझने में यहाँ के साहित्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इससे शासन व्यवस्था चलाने में मदद मिल सकती है।

पश्चिम का प्रत्येक देश अपने-अपने तरीके से अपनी **'जातीय श्रेष्ठता'** को प्रतिपादित करने का काम कर रहा था। 'हीगल' अपनी पुस्तक **'इतिहास दर्शन'** में *'जर्मन जाति की उत्कृष्टता'* के संबंध में लिखते हैं **"विधि, जगत या जीवन का कारण अर्थात् विधाता या ईश्वर अपने उत्कृष्टतम रूप में जर्मनी की संस्कृति में उद्भभासित हुआ है। जहाँ सब मुक्त है। पूर्वी साम्राज्य, संस्कृतियाँ, सभ्यतायें और राष्ट्र जिसमें चीनी, भारतीय, ईरानी, मिस्र यहाँ तक कि ग्रीक और रोमन संस्कृतियाँ आदि सम्मिलित हैं"[2]।**

यहाँ **'प्राच्य संस्कृतियाँ'** विधि या जगत के मूल कारण की **'निकृष्ट और अपूर्ण'** उद्भास थीं। *'हीगल'* ने जिस रूप में एशिया महाद्वीप को देखा उसके सूत्र अरस्तू के चिंतन में प्राप्त होते हैं। अरस्तू अपने समय में एशिया के बारे में विचार करते हुए मुख्यतः दास प्रथा के संबंध में प्राच्य के प्रति जो स्थापनायें प्रस्तुत कर रहे थे, वह प्राच्यवाद का उद्गम मानी जा सकता है। अरस्तू ने लिखा - **'एशिया के लोगों में नैसर्गिक दास भाव होता है'।** दासप्रथा के समर्थक अरस्तू की इन्हीं अवधारणाओं को *'हीगल'* ने अफ्रीका और एशिया के संबंध में दूसरे शब्दों में वर्णित किया। दो हजार साल पहले जो तर्क प्रस्तुत किए गए थे, वह आज तक यूरोपियनों द्वारा एशिया और अफ्रीका महाद्वीप के संबंध में प्रचलित हैं।

प्राच्यवादियों ने मनुष्यों में प्राकृतिक भेद को स्वीकार करते हुए कुछ लोगों को **'दास बनने के योग्य'** और कुछ लोगों को (पश्चिमी) **'स्वामी बनने के योग्य'** पाया **"इसी नस्लवादी दृष्टिकोण का सहारा लेकर एशिया के देशों को गुलाम बनाने वाले यूरोप के व्यापारी स्वयं को श्रेष्ठ और ईसाइयों को घटिया नस्ल का घोषित करके अपने लूट, हत्या और डकैती के राज को न्यायोचित ठहराते थे"[3]।**

एशिया के प्रति यूरोपीय विद्वानों ने तीन दृष्टियों से विचार किया है-

1.एक्जॉटिसिस्ट एप्रोच - विस्मय/ आश्चर्य/ वैचित्र्य और भारत के प्रति कौतूहल।

[1] मुरलीधर श्रीवास्तव, हिंदी के यूरोपीय विद्वान (व्यक्तित्व और कृतित्त्व), बिहार,बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ-11

[2] श्रीवास्तव, तृप्ति, भक्ति परंपरा का प्राच्यवादी पाठ, नेशनल बुक ट्रस्ट,पृष्ठ-06

[3] शर्मा, रामविलास, मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, राजकमल प्रकाशन।

2.मेजेस्टेरियल एप्रोच - साम्राज्यवाद/ ब्रिटिश गवर्नरों की दृष्टि से शासित एक देश।

3.क्यूरिटोरियल एप्रोच - संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को नोट करने, वर्गीकृत करने/ प्रदर्शित करने।

पहले अप्रोच के द्वारा भारत को सपेरों, जादूगरों, तथा आश्चर्य के देश के रूप में देखा गया तथा दूसरे में इसे शासक की नज़र से और तीसरे में पाठ के विश्लेषण के रूप में देखने का कार्य प्राच्यवादी विद्वानों द्वारा किया गया। यह तीनों रूप हमें, भारत के इतिहास लेखन/ हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन/ तथा साहित्य की स्वतंत्र आलोचनाओं में प्राप्त होते है। दूसरे और तीसरे एप्रोच के आधार पर अधिकतर व्याख्यायें प्रस्तुत की गयीं हैं। जिनमें 'अरस्तू', 'हीगल','विलियम जॉन्स', 'मैक्स मूलर', 'एलफिंस्टन', 'जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन', 'मैकाले' ,'वितरनित्ज' आदि प्रमुख रूप से आते हैं।

इन विद्वानों के संदर्भ में एक तथ्य और महत्त्वपूर्ण है - इसमें जर्मनी ने 'बोलियों' या कहे 'भाखा' में लिखे साहित्य को महत्त्व नहीं दिया। बल्कि 'संस्कृत' में लिखे साहित्य को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया इस प्रश्न को रेखांकित करते हुए इतिहासकार रोमिला थापर ने इसके कारणों की पड़ताल करने का प्रयास किया है। प्रो. थापर के अनुसार- **"संस्कृत भाषा और भारत के आर्यों के यूरोप से संबंध की खोज से यूरोपीय विद्वानों के मन में संस्कृत साहित्य के प्रति अलग प्रकार की संवेदना जन्मीं जिसके फलस्वरुप 'प्राचीन भारतीय अतीत' को पूर्व कालीन यूरोपीय संस्कृति के एक विस्मृत पहलू के रूप में देखा गया और भारत के आर्यों को यूरोपियनों का निकटतम बौद्धिक रिश्तेदार माना गया"[1]।** यानि आर्य सिद्धांत को मानने वाले यूरोपियनों का जो दृष्टिकोण वैदिक साहित्य/ संस्कृत साहित्य के प्रति था, वैसा 'भाषा साहित्य (भाखा)' के प्रति नहीं था। भारतीय मध्यकाल के संबंध में यूरोपीय विद्वानों की राय को देखें तो वह भारत को पिछड़ा मानते हुए अंग्रेजी शासन को भारत के लिए 'ईश्वरीय वरदान' के रूप में देखने की वकालत करते हैं। खुद को 'सभ्य तथा सुसंस्कृत' बताने वाला यूरोपीय मानस 'दासप्रथा' को भी लगातार न्यायोचित ठहराने का काम कर रहा था। यूरोपियनों में बहुतायत लोगों का मानना यह था कि- **"भारत के जो भाग अंग्रेजों के हाथ में आ गए हैं, उन्हें ईश्वर ने ही उनके हाथों में सौंप दिया है"[2]।**

[1] अनुवाद, सिंह, आदित्य नारायण, रोमिला थापर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन

[2] द वर्क्स ऑफ सर विलियम जोन्स, खंड-3, gale ecco publicatin, पृष्ठ- 216

इसके पीछे विलियम जोन्स भारतीयों को तथा भारतीयता को जिम्मेदार ठहराते हैं, उसकी मान्यता है – **"भारत का धर्म ऐसा है और यहाँ का कानून ऐसा है कि लोग स्वाधीन रह ही नहीं सकते, फिर भी उनके इतिहास से ऐसा मालूम होता है, कि ये लोग कभी समृद्ध थे, और इस देश के संबंध कायम करने पर भारत को लाभ होगा"[1]।**

जोन्स भारत के वर्तमान को कम आंक, या सीधे कहें पिछड़ा बताते हुए अतीत की स्वर्णिमता की बात को स्थापित करने का काम कर रहे हैं। जिससे भारतीयों पर अंग्रेजों के शासन की वैधता को स्थापित किया जा सके।

रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक में जोन्स का वह कथन उद्धृत करते हैं जिसमें यह शासन वैध बताने का उपक्रम किया गया था। **"यद्यपि उस महत्वाकांक्षी राजा के बुद्धिमान गुरु की इस धारणा से हम सहमत नहीं हो सकते हैं, कि एशिया के लोग गुलाम बनने के लिए पैदा हुए हैं, फिर भी एथेंस का वह कवि सही जान पड़ता है, जब वह देखता है कि यूरोप तो एक प्रभुत्व संपन्न राजकुमारी है और एशिया उसकी सेविका"[2]।**

विलियम जोन्स ने जिस 'भारतविद्या' का सूत्रपात किया उसके मूल में यही 'नस्लीय श्रेष्ठता' विद्यमान थी। वहाँ भारत में मौजूद हर बेहतर विद्या का स्रोत कहीं न कहीं यूरोप से सम्बद्ध मान लिया गया है। उसमें नीतिकथायें, भक्ति का उदय संबंधी मत या फिर 'बेबर' द्वारा कृष्ण को 'क्राइस्ट' माना जाना। एशिया में मौजूद हर बेहतर पर यूरोप ने 'भारत विद्या' के माध्यम से अपना दावा प्रस्तुत किया है।

इसका सबसे पुख्ता प्रमाण 'मैकाले' की स्थापनाओं में प्राप्त होता है। 'मैकाले' ने भारत में शिक्षा कैसी होनी चाहिए? इसका उपयोग क्या हो? पुरातन प्रणाली की क्या खामियां हैं? नए ज्ञान-विज्ञान तथा चिंतन से जुड़कर भारत को तथा शासन को क्या लाभ हो सकता है? मैकाले की शिक्षा व्यवस्था में धार्मिक शिक्षा की स्थिति क्या थी? और शिक्षा को किसी एक वर्ग या वर्ण तक ही सीमित ना रख सब तक प्रसारित क्यों करना चाहिए? इन सभी प्रमुख बिंदुओं के आलोक में विचार किया था।

मैकाले ने शिक्षा नीति ही नहीं बल्कि भारत को किस दिशा में? और कैसे चिंतन करने की आवश्यकता है? कौन विषय भविष्य में पढ़ाये जायें? और किन पर सरकारी व्यय ना किया जाए? आदि को निर्धारित किया। इसीलिए मैकाले का प्रभाव भारत में ज़्यादा दूरगामी रहा,

[1] द वर्क्स ऑफ सर विलियम जोन्स, खंड-3, , gale ecco publicatin,पृष्ठ- 216

[2] शर्मा, रामविलास, भारतीय साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-232

बजाय उन चिंतकों के जो अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन भाषा में एक पुस्तक लिखकर भारत के संबंध में अपनी राय व्यक्त कर रहे थे।

लॉर्ड मैकाले शिक्षा क्षेत्र में नया ज्ञान, बराबरी तथा लोकतंत्र की पक्षधरता आदि के साथ अपनी नीति में आते हैं। यह उनके पारिवारिक संस्कारों का उपजीव्य था। मैकाले का परिवार दासप्रथा के विरुद्ध लड़ाई में शामिल रहा था। अखबारों पर जब सेंसरशिप लगाई गई तो मैकाले ने उसका विरोध करते हुए प्रेस की स्वतंत्रता के पक्ष में अपनी बात कही थी। इसके बावजूद उनका यह गहरा विश्वास था कि, प्राचीन काल में मिस्र, भारत या ग्रीस की संस्कृतियाँ कितनी भी महान रहीं हों आज के युग के पाश्चात्य ज्ञान व अंग्रेजी भाषा से बढ़कर कुछ नहीं हैं। अपने मिनट्स में वह लिखते हैं - **"अंग्रेजी शासन का यह कर्तव्य है कि, वह संस्कृत व अरबी आधारित दकियानूसी शिक्षा को हटाकर लोगों तक अंग्रेजी भाषा व पाश्चात्य ज्ञान- विज्ञान पहुँचाए"** इसके पीछे मैकाले की मंशा थी कि क्षेत्रीय भाषाओं के कुछ लोग अंग्रेजी भाषा में पारंगत हो जाने पर नए ज्ञान-विज्ञान को प्रसारित करने का काम करेंगे। वह उन चंद धार्मिक ग्रंथों के आधार पर दी जा रही शिक्षा को सही ना बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि स्कूलों का काम किसी भी तरह की धार्मिक शिक्षा देना नहीं हो सकता है।

मैकाले की शिक्षा नीति में मातृभाषाओं में शिक्षा देना संभव नहीं था। इसलिए वह अंग्रेजी भाषा के माध्यम से इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न कर रहे थे। उस समय तक शिक्षा के लिए दिया गया अधिकतम धन 'पुजारी' और 'मौलवियों' में बाँट दिया जाता था। और यह पद वंशानुगत होते थे। यह शिक्षक के रूप में लोकतांत्रिकता से काफी दूर रह रूढ़िगत मान्यताओं को मानते हुए धार्मिक शिक्षा देने का काम करते थे।

अंग्रेजी के संबंध में मैकाले का मत था **"पश्चिमी देशों की भाषाओं में भी अंग्रेजी सर्वोपरि है। कल्पना, ज्ञान, इतिहास व विज्ञान के क्षेत्रों में हमारी भाषा में उपलब्ध सामग्री का कोई मुकाबला नहीं है। कल्पना के क्षेत्र में अंग्रेजी की रचनाएँ शायद उतनी ही खूबसूरत है जितनी कि जो हमें यूनान (ग्रीस) से मिलीं हैं। इसमें हर तरह की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के प्रतिदर्श हैं। ऐसी ऐतिहासिक रचनाएँ हैं जिन्हें हम मात्र कथानक की दृष्टि से देखें तो भी शायद उन्हें कभी मात नहीं दी गई और ना ही कभी एक नैतिक व राजनीतिक शिक्षा सामग्री के ग्राहक के रूप में भी×××× जो कि इसी भाषा को जानता है उसके पास उस सारी बौद्धिक संपत्ति की चाबी है, जिसे संसार के सर्वाधिक विद्वान देशों ने पिछली 90 पीढ़ियों में बनाया और एकत्र किया×××× यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 300 साल पहले संसार भर की भाषाओं में जो ज्ञान**

उपलब्ध था। उससे कहीं अधिक मूल्यवान ज्ञान आज अंग्रेजी में उपलब्ध है×××× भारत का शासक वर्ग भी अंग्रेजी का ही उपयोग करता है। सरकार में पदस्थ उच्च वर्ग के स्थानीय लोग भी इसे बोलते हैं"[1]

मैकाले, ने तात्कालिक परिस्थितियों में किस प्रकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारत को शिक्षित किया जा सकता है, या कहें नवीन तथा ज़्यादा लोकतांत्रिक विचारों से अवगत कराया जा सकता है को संज्ञान में रखा। इसके पीछे उसका तर्क था कि, भारत में कपोल- कल्पना से समृद्ध साहित्य ज़्यादा है और ठोस विकल्प की उपस्थिति में हम इसे नहीं पढ़ा सकते हैं **"जब हम ठोस दर्शन व इतिहास पढ़ा सकते हैं, तो क्या चिकित्सा के वो सिद्धांत पढायेगें, जिससे एक अंग्रेजी किसान भी शर्मिंदा महसूस करेगा और उनका मजाक उड़ायेगा, क्या हम ऐसा इतिहास पढ़ायेंगे जो इस तरह की कहानियों से भरा हो जिसमें 30 फुट लंबे राजा हैं और 30000 साल तक राज करते हैं"**[2]**।**

इस तरह 'मैकाले' इतिहास विषय में भारतीय भाषाओं तथा संस्कृत को पिछड़ा हुआ मानते हैं। यूरोप में जो बदलाव आए उसके लिए मैकाले तार्किकता को प्रमुख रूप से उपयोगी मानते है तथा भारतीय ज्ञान मीमांसा में वह इसी तार्किकता का अभाव पाते हैं। जब उसकी शिक्षानीति का विरोध हुआ तो उसने स्पष्ट रूप से घोषित किया- **"मैं यह कभी नहीं मान सकता कि जब कोई ऐसा देश जिसकी बौद्धिक उपलब्धियां उत्कृष्ट हो वह एक तुलनात्मक दृष्टि से कम ज्ञान वाले देश की शिक्षा की देखभाल कर रहा हो, तो क्या उस समय सीखने वाले छात्र निर्धारित करेंगे कि शिक्षकों को क्या पढ़ाना चाहिए"**[3]**।**

वह शिक्षा को बौद्धिक विकास का लक्ष्य मानकर, बौद्धिक रुचियों के अनुरूप ना देने के पक्ष में था। भारतीय भाषाओं में मौजूद ज्ञान को मैकाले विशेष ज्ञान से युक्त नहीं मानते हैं, तथा इसमें घोर अंधविश्वास, झूठा इतिहास, झूठा खगोल, झूठा विज्ञान, झूठा चिकित्साशास्त्र जो एक झूठे धर्म के हिस्से के रूप में देखते हैं।

इस प्रकार देखा जाए तो मैकाले कुछ स्थानों पर तार्किक तथा कुछ स्थानों पर भारतीयता के संबंध में अंधविरोधी के रूप में उभर कर अपनी शिक्षानीति में आते हैं। अपनी घोषणा प्रस्तुत करते हुए मैकाले ने माना **"यदि एशिया भारत, अरबी साहित्य की ज्ञान-विज्ञान**

---

[1] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ -301

[2] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-302

[3] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-304

की सभी पुस्तकों को एकत्रित कर लिया जाए तो भी यूरोपीय साहित्य का केवल एक सेल्फ उन पर भारी पड़ेगा"[1]।

सी.एन. सुब्रमण्यम मैकाले के संबंध में लिखते हैं - मैकाले ने ऐसा क्या कर दिया जो हर व्यक्ति आधुनिक शिक्षा/समाज को लेकर उन्हें गाली देता है। वे तो भारत में केवल 4 साल ही रहे और उन्होंने तो केवल वही बात कही जो उस समय के प्रकांड विद्वान राजा राममोहन राय जैसे लोग व उस समय का मध्यवर्ग चाहता था। राजा राममोहन राय जैसे सुधारवादी नेताओं ने अंग्रेजों का समर्थन किया था। सन् 1823 ईसवी में कोलकाता में संस्कृत कॉलेज के प्रस्ताव पर उन्होंने कहा था '**भारत अंधकार में डूब जाएगा, लोग संस्कृत रटेंगे और आधुनिक ज्ञान से दूर रहेंगे'** उन्होंने कहा हमें आवश्यकता है यूरोपीय विज्ञान, गणित, साहित्य एवं रसायन की। सूक्ष्मता से देखने पर इसके मूल में वह पारंपरिक व्यवस्था काम कर रही थी जिसमें पढ़ने और पढ़ाने की सुविधा कुछ उच्च वर्गों तक ही सीमित थी तथा वर्ण व्यवस्था को आधार मानकर नियामकों द्वारा शूद्र वर्ण के लिए शिक्षा के दरवाजों को बंद कर दिया था।

इतिहासकार ट्रेवेलियन ने इस बात को प्रस्तुत करते हुए लिखा- **"भारत में ज्ञान केवल ब्राह्मणों के लिए है, आम-आदमी को संस्कृत या फारसी से क्या लेना-देना, ये भाषाएं भी उनके लिए उतनी अजनबी हैं, जितनी की अंग्रेजी अतः स्थानीय भाषाओं में अंग्रेजी की शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए"**[2]।

सन् 1824 ईसवी के मिनिट्स में एलफिंस्टन ने इस बात पर जोर दिया कि ना तो 'धार्मिक शिक्षा' पर सरकारी धनराशि व्यय करे और ना ही वह उन भत्तों को देने का काम करे जो धार्मिक शिक्षकों को दिए जा रहे हैं। इन अनुवांशिक भत्तों को बंद कर देने की अनुशंसा के कारण उस समय का तथा आज का उच्च वर्ग मैकाले और एलफिंस्टन को कोसता है।

एलफिंस्टन ने स्पष्ट रूप से लिखा **"सरकार को यह कोशिश करनी होगी कि निम्न वर्ग के अधिक से अधिक लोग पाठशाला में आए और शिक्षा प्राप्त करें"**[3] शिक्षा नीति के संबंध में मैकाले ने जहाँ शिक्षा में सदियों से व्याप्त एकाधिकार को समाप्त किया, वहीं काल्पनिक कथाओं को इतिहास मानने वाले वर्णनों पर प्रतिबंध सा लगा दिया। मैकाले ने शिक्षा के लोकतंत्रीकरण का काम करते हुए उसे सभी वर्गों के लिए खोल दिया। यही कारण

[1] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-18

[2] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ--27

[3] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-46

है कि आज जब मैकाले का मूल्यांकन एकतरफा किया जाता है तो शूद्र वर्ण जिसका वर्णन पुस्तक की प्रस्तावना में किया गया है – **"एक दलित साथी ने सादगी से कहा यदि मैकाले नहीं होता तो मैं आज आपके साथ एक मेज पर बैठकर बातचीत नहीं कर सकता था और ना ही हमारी बिरादरी का कोई व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता था"**[1]।

इस बात की पुष्टि 'हंटर आयोग' के सामने 'ज्योतिबा फुले' द्वारा दिए गए प्रतिवेदन से और स्पष्ट हो जाएगी, सन् 1882 ईसवी में मैकाले की शिक्षा नीति (1824) से 70 वर्ष बाद ज्योतिबा फुले ने 'हंटर आयोग' के समक्ष कहा **"बहुत बड़ी विडंबना है कि ब्रिटिश राज देशभर के मेहनतकश मजदूरों और किसानों की गाढ़ी कमाई से राजस्व इकट्ठा करता है, रेवेन्यू बटोरता है। लेकिन जब वह इसको खर्च करता है और शिक्षा के लिए खर्च करता है, तो उसका सारा फायदा उच्च वर्गों और उच्च वर्णों को मिलता है"**[2]

मैकाले की अनुशंसायें ठीक तरीके से लागू नहीं की गई थीं। नहीं तो क्या कारण रहे कि 'ज्योतिबा फुले' को सभी को शिक्षा देने के लिए 'हंटर आयोग' के सामने मेमोरेंडम प्रस्तुत करना पड़ा था? मैकाले की नीति शासक की भाषानीति अवश्य थी, लेकिन वह यहाँ प्रचलित शिक्षा प्रणाली से ज़्यादा लोकतांत्रिक और ज़्यादा समावेशी थी। उसका लक्ष्य धार्मिक विकास नहीं बल्कि नए ज्ञान-विज्ञान के साथ चिंतन करते हुए तार्किक और बौद्धिक विकास था।

पाश्चात्य चिंतन की 'मैकाले' और 'एलफिंस्टन' से इतर एक और धारा थी, जिसके विद्वान भारत से सीखने के लिए विद्वानों और अंग्रेज अधिकारियों को प्रेरित करने का काम कर रहे थे। जर्मन विद्वान 'मैक्स मूलर' ने कैंब्रिज के इतिहास अध्ययन मंडल के अध्यक्ष के सामने आई. सी. एस. का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे युवाओं के समक्ष कुछ व्याख्यान प्रस्तुत किए थे। जो भारत की एक सकारात्मक छवि को प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने इंग्लैंड द्वारा देखे जा रहे भारत के इतर उन सभी चित्रों और कारणों पर बात की जो यूरोपीय मानस में अनायास ही बैठा दी गयीं हैं। वह भावी अधिकारियों से प्रश्न करते हुए संवाद करते हुए **"हमें ग्रीक और लैटिन कविता, दर्शन, कानून और यूनानी कला का अध्ययन क्यों अनुकूल लगता है? इसमें एक विशेष प्रकार का उत्साह क्यों पैदा होता है? और इसे समान रूप से सम्मान दिया जाता है। जबकि संस्कृत, प्राचीन काव्य, दर्शन, कानून और भारत की कला को अधिक हुआ तो विचित्र ही माना जाता है। लेकिन ज़्यादातर लोग इसे निरर्थक उबाऊ**

[1] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-07

[2] मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक- हृदयकान्त,रमाकांत अग्निहोत्री अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन,पृष्ठ-86

और हास्यास्पद मानते हैं"[1]**।** 'मैक्स मूलर' इस भावना को अन्य यूरोपीय देशों फ्रांस, जर्मनी, इटली, डेनमार्क, स्वीडन की तुलना इंग्लैंड में ज़्यादा मानते हैं, इंग्लैंड के अलावा अन्य देशों में भारत के प्रति एक धुंधला आकर्षण लक्षित करते हैं।

इसके पीछे का कारण 'मैक्स मूलर' ने यह माना कि, भारत यात्रा पर आया कोई यात्री जो मात्र दो-तीन शहर ही घूमा हुआ होता है, खुद को 'मार्कोपोलो' से कम नहीं समझता है। वह अपने व्याख्यान में उस पैटर्न जिसमें एक बद्धमूल धारणा का अनुसरण लगातार किया जा रहा था, से इतर सोचने की सलाह देते हैं। वह उस दुखद गलतफहमी जिसमें संस्कृत भाषा में लिखे गए साहित्य को हीन या न पढ़ने योग्य माना गया है। के अंतर्गत जो सवाल यूरोपियनों की तरफ से प्रस्तुत किए जाते हैं जैसे -

हमारे लिए क्या उपयोग है?

अनुवाद मिलता है?

में सुधार करने की सलाह देते हुए संस्कृत का अध्ययन करने की बात कहते हैं।

"मैं आपको यह विश्वास दिला दूंगा कि, संस्कृत साहित्य को सही भावना से यदि पढ़ा जाए तो वह मानवीय रुचि से भरपूर है, ऐसी शिक्षाओं से भरपूर है जो यूनानी भी हमें नहीं सिखा पाए"[2]**।**

मैक्स मूलर, 'मैकाले', 'हीगल', 'अरस्तू' आदि की परंपरागत सोच से इतर भारत और संस्कृत के साहित्य के बारे में सोचते हैं। इस बारे में मूल्यांकन करते हुए भारतीय मेधा को श्रेष्ठ घोषित करते हैं **"यदि मुझसे कोई पूछे कि इस आकाश के नीचे मानव मस्तिष्क ने अपने श्रेष्ठतम वरदानों को अत्यंत पूर्णता से विकसित किया है, और जीवन की महान समस्याओं पर अत्यंत गहन चिंतन किया है,और कुछ ऐसे प्रश्नों को हल किया है जो उन लोगों का ध्यान आकर्षित कर सकता है जिन्होंने प्लेटो और कांट का अध्ययन किया है तो, मैं भारत की तरफ इशारा करूंगा"**[3]**।**

वह संस्कृत साहित्य की शिक्षाओं को सीख देने वाली तथा अधिक पूर्ण, अधिक वैश्विक और अधिक मानवीय मानने के पक्षधर थे। इस बात से पूर्ण रूप से आश्वस्त थे कि भारत का संस्कृत साहित्य जीवन को स्वच्छ बनाने वाली सीख दे सकता है। इसके लिए वह भारत के

[1] अनुवाद- सुरेश मिश्र, मैक्स मूलर, भारत हमें क्या सिखा सकता है, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-19

[2] अनुवाद- सुरेश मिश्र, मैक्स मूलर, भारत हमें क्या सिखा सकता है, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-20

[3] अनुवाद- सुरेश मिश्र, मैक्स मूलर, भारत हमें क्या सिखा सकता है, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-20

वर्तमान रूप नहीं बल्कि 3000 वर्ष पूर्व के भारत के बारे में चिंतन करते हुए उससे सीखने की सलाह युवा अधिकारियों को देते हैं।

मैक्स मूलर भारत में अध्ययन की असीम संभावनाओं तथा एक प्रयोगशाला को देखते हैं। और आर्यों को यूरोपीय मानस का करीबी रिश्तेदार मानते हुए **"अपने सबसे पास की बौद्धिक रिश्तेदारों, भारत के आर्यों, संस्कृत जैसी विस्मयकारी भाषा के निर्माताओं, हमारी बुनियादी अवधारणाओं में हमारे साथ काम करने वालों, अत्यंत सूक्ष्म दर्शन के अनुदेशकों और विस्तृत विधानों के निर्माताओं को छोड़ देंगे तो मानवीय बुद्धि के विकास के बारे में हमारी अंतर्दृष्टि वैसी ही बनी रहेगी"**[1] मूलर अपने छात्र जीवन की घटना को याद करते हैं, जब उन्हें संस्कृत का अध्ययन करने के कारण अपने अध्यापक द्वारा ही हेय दृष्टि से देखा गया था। वह अपने शिक्षकों गोटफ्रीड, हरमन, बेस्टमैन, स्टालबाम का जिक्र करते हुए इस घटना का जिक्र करते हैं। जिन्होंने तुलनात्मक व्याकरण की घृणा से टीका की थी। प्रो. बॉय ने तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित किया तो उनका जितना मजाक उड़ाया गया उतना कभी किसी का नहीं उड़ाया गया था।

उस समय तक जर्मन, स्काटिश लोगों के मध्य यह विचार तेजी से फैल रहा था। ऊपर मैक्स मूलर के कथन में लक्षित किया गया है, कुछ लोग भारतीयों (आर्यों) को अपना 'बौद्धिक रिश्तेदार' मानते थे। कुछ प्राच्यविद इस संबंध से खीज जाते थे- **"डुगाल्ट स्टीवर्ट हिंदुओं और स्काटों के बीच रिश्ता स्वीकार ना करके, यह विश्वास करते थे कि, पूरी संस्कृत भाषा, पूरा संस्कृत साहित्य जो 3000 सालों तक विस्तृत था और जो ग्रीस या रूस के प्राचीन साहित्य से भी विशाल था, धूर्त ब्राह्मणों और पुरोहितों की धोखाधड़ी थी"**[2]।

मैक्स मूलर ने कुछ पूर्वग्रहों की चर्चा अपनी पुस्तक में की है, जो भारतीयों के संबंध में उस समय में विद्यमान थी।

1. हममें यह पूर्वग्रह है कि, भारत में हमारा रहना *'नैतिक निष्कासन्'* जैसा है और हिंदू एक घटिया नस्ल के हैं जो नैतिक चरित्र में खासकर सत्य के प्रति सम्मान के मामले में जो हमसे एकदम भिन्न हैं।×××× ये लोग आत्मसम्मान, ईमानदारी, सत्यता के मान्य सिद्धांतों को नहीं मानते और इसलिए कोई उनसे सच्ची मित्रता तो क्या उनमें कोई रुचि लेने का प्रश्न नहीं उठता।

[1] अनुवाद- सुरेश मिश्र, मैक्स मूलर, भारत हमें क्या सिखा सकता है, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ- 20

[2] अनुवाद- सुरेश मिश्र,मैक्स मूलर,भारत हमें क्या सिखा सकता है,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 34

2. सभी भारतीय झूठे होते हैं।

इस प्रकार के अंतरराष्ट्रीय दोषारोपण का मैक्स मूलर विरोध करते हैं तथा इसे एक निर्दयी, अहंकारपूर्ण, दम्भी दिमाग की उपज मानते हैं। वह इस प्रकार की किसी भी स्थापना जिसमें **'सभी ब्राह्मण×××× से शुरू होता था'** वह इससे विचलित हो जाते थे। और मानते थे कि कोई भी मान्यता सभी पर लागू नहीं हो सकती है। अगर सभी से शुरू करके कोई कथन लिखा जाता है तो वह अवश्य **'गलत'** होता है।

मैक्स मूलर ने 'मिल' की किताब **'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया'** को बहुत दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं में से एक माना। जो कई दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के मूल में कारण के रूप में रही है। मूलर ने इस पुस्तक के स्थान पर 'कर्नल स्लीमेन' की **'रैंबल्स एंड रीकलेक्शंस ऑफ इंडियन ऑफिशियल'** (1844) का सुझाव प्रस्तुत कर इसको कम मूल्य में उपलब्ध कराने की बात की।

मूलर की कुछ सकारात्मक धारणाओं के पीछे इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण योगदान था और इस पुस्तक ने संस्कृत, वैदिक ज्ञान, साहित्य, खगोल, धर्म, वैदिक देवता, दर्शन, कानून आदि विषयों को सकारात्मक रूप से समझने में मदद की।

इस प्रकार भारतविद्या के एक छोर पर 'विलियम जोन्स' और 'मैकाले' थे तो दूसरे पर 'मैक्स मूलर' जैसे अध्येता भी थे, जो भारत से सीखने की सलाह यूरोपियन लोगों को दे रहे थे। 'जेम्स मिल' तथा 'कर्नल स्लीमैन' इतिहास के वह दो छोर थे, जो अलग-अलग दृष्टिकोण से भारत की व्याख्या करने का काम कर रहे थे।

इन इतिहासकारों द्वारा भारत को 'असभ्य', 'पिछड़ा' तथा 'गंवार' बताया गया, जिसका अनुकरण आगे के अध्येताओं तथा अधिकारियों द्वारा किया गया। मैक्स मूलर इन्हीं पूर्वग्रहों से इतर सोचने की सलाह प्रशिक्षण के दौरान देते हैं। लेकिन फिर भी वह प्राच्यवाद के मूल में बैठी 'नस्लीय श्रेष्ठता' से बाहर नहीं निकल पाते हैं। वह भारत के मध्यकाल, जो भक्तिकाव्य रचना का भी समय था, पर भी इसी तरह की व्याख्याओं का आरोपण करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस संदर्भ में लिखते हैं **"इसमें संदेह नहीं कि यूरोप के देशों की तरह, इस देश में भी मध्यकाल में एक ज़बदी हुई मनोवृत्ति का राज रहा है।**

काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, मूर्ति आदि जिस क्षेत्र में भी दृष्टि जाती है सर्वत्र एक प्रकार की अधोगति का ही आभास मिलता है"[1]।

लेकिन द्विवेदी जी यूरोप के मध्यकाल और भारतीय मध्यकाल को कुछ सीमा तक अलगाते भी हैं और निष्कर्ष रूप में भारतीय मध्यकाल को पतनोन्मुखी काल मानने से इंकार कर देते हैं। यहाँ यह भी देखना महत्त्वपूर्ण है कि, भारत के मध्यकाल (हिंदी क्षेत्र) में कबीर जैसा क्रांतिकारी व्यक्तित्त्व था, तो नामदेव, शंकरदेव, अक्क महादेवी जैसे संत भी। इन संतों की वाणी में मानवता और लोकतंत्र तथा आधुनिकता के सूत्र तलाशे जा सकते हैं। लेकिन खुद को आधुनिक और उन्नत तथा प्रगतिशील कहने वाले यूरोप के पास ऐसे उदाहरण नहीं हैं। यूरोप की महानता कई मायनों में, छुपी हुई महानता तथा शासक वर्ग द्वारा रची गई महानता मानी जा सकती है। यूरोप के संदर्भ में **"ज्ञानोदय के विचार को रेडिकल दृष्टिकोण अपनाने में चाहे जितनी हिचक रही, उन्होंने उस समाज के आधार को हिला दिया जिसमें वे रह रहे थे। वहाँ सुधार आसान नहीं था और शक्तिशाली हितों के लोग तनिक भी मतभेद को विस्फोटक समझते थे। परिणामतः बहुत से विचारकों को कीमत चुकानी पड़ी"[2]**।

सुकरात और गैलीलियो तो कुछ उदाहरण मात्र है। क्रिस हरमन ने एक आंकड़ा प्रस्तुत करते हुए सन् 1700 से1756 ईस्वी के मध्य धर्म विद्रोहियों को ज़िंदा जला देने की 750 घटनाओं को रेखांकित किया है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मध्यकालीन भारत का प्रत्येक संत रचनाकार 'स्थापित धर्म' की मुखर तथा कुछ अर्थों में 'हल्की आलोचना' अपनी कविता के माध्यम से कर रहा था। लेकिन ऐसी किसी घटना का ज़िक्र वहाँ नहीं मिलता, कि किसी को जिंदा जला दिया गया हो।

भारत या हिंदू धर्म में ऐसे किसी 'धार्मिक न्यायालय स्थापना' के संकेत नहीं मिलते हैं, जैसे यूरोप में। यूरोप में चर्च निंदनीय त्रुटियों पर लगातार प्रतिबंध लगाने का प्रयास कर रहे थे। पहला प्रयास जो शब्दबद्ध है वह सन् 1277 ईसवी में किया गया था। **"और अंततः 14 वीं शताब्दी में धार्मिक न्यायालय (इक्विंजिशन) का चलन यूरोप में शुरू हुआ और धर्म विरोध के लिए लोग जिंदा जलाए जाने लगे"[3]**। इसका प्रभाव यह हुआ कि विद्वान ख़तरनाक और तार्किक बहसों से ख़ुद को बचाने लगे। 'टामस एक्वानास' ने अरस्तू के विचारों

[1] द्विवेदी, हजारी प्रसाद, मध्यकालीन धर्म साधना, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-10

[2] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, संवाद प्रकाशन, पृष्ठ-223

[3] क्रिस हरमन, विश्व का जन इतिहास, संवाद प्रकाशन,पृष्ठ- 148

के आधार पर धर्मशास्त्र को नया रूप दे दिया और भारत की श्रेणीबद्धता को न्यायसंगत करार दे दिया। इस समय मध्ययुगीन विचार का सबसे 'पंडिताऊ-बांझ' दौर शुरू हो गया। चर्च की रूढ़ियों और उस पर आधारित संसार की धारणाओं को अप्रश्नेय क़रार दे दिया गया था।

तुलनात्मक रूप से अगर भारत के संदर्भ में देखा जाए तो भारतीय मानस किसी भी दौर में इतना बर्बर और असभ्य नहीं रहा (आक्रांताओं को छोड़कर)। क्या स्वयं को सभ्य और सुसंस्कृत कहने वाला यूरोप अपने स्वयं के सुधारवादी नेता मार्टिन लूथर के उस कथन का मूल्यांकन करेगा? जिसमें वह पूंजीपतियों का पक्ष लेते हुए, किसानों की हत्या कर देने का आह्वान कर रहा है। हिंसा और लूट पर उतारू किसान-आंदोलनकारी दल के खिलाफ लूथर ने घोषणा की- **"मारो इन्हें जैसे पागल कुत्ते को मारते हो, जैसे भी बने खुलकर या छुपकर इनकी हड्डी पसली तोड़ दो, गला घोंट दो, टुकड़े- टुकड़े कर दो, धर्म की बात नहीं सुनते, मूर्ख हैं, लाठी और गोली की बात सुनेंगे, इसी लायक हैं। ईश्वर से प्रार्थना करो कि वे आज्ञा माने ,न माने तो उन पर दया मत करो, उन पर तोपें गरजने दो, वरना वे इससे हजार गुना बुरी गति करेंगे"**[1]। यह उस नेता का कथन है जिसे यूरोप में सुधारवादी कहा जाता है। अब ज़रा ठहरकर सोचियेगा क्या तुलसी- सूर, कबीर, नामदेव, मीरां, जायसी, रविदास, दादू किन्हीं अर्थों में इनसे लूथर की तुलना की जा सकती है? क्या तुलसी समेत किसी भी भक्तकवि की पक्षधरता किसी राजसत्ता के प्रति थी? क्या अन्य राज्याश्रित कवियों ने अपनी कविता में इतना हिंसक आह्वान किया है?

इसीलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत का मध्यकाल यूरोप के मध्यकाल से ज़्यादा मानवतावादी और तार्किक होने के साथ- साथ कम हिंसक था। इसे इतिहास और भाषा की राजनीति के इस कथन से समझा जा सकता है- **"औपनिवेशिक स्कूलों और विश्वविद्यालयों में जिन** अफ्रीकी **छात्रों का साहित्य से सामना हुआ, उन्हें विश्व का वही अनुभव ग्रहण करना पड़ा जैसा इतिहास के यूरोपीय अनुभव में विश्व को परिभाषित और प्रतिबिंबित किया गया था"**[2]।

फ्रैंज़ फैनन की पुस्तक **'धरती की अभागे'** में ज्यां पाल सार्त्र ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है **"हमारे लिए मनुष्य होने का अर्थ है उपनिवेशवाद का समर्थक होना। क्योंकि हम सबने निरपवाद तौर पर औपनिवेशिक शोषण से लाभ उठाया है"**[3] वह

[1] शर्मा, रामविलास, मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ - 52

[2] अनुवाद-आनंद स्वरूप वर्मा, न्गुगी वा थ्योन्गो, औपनिवैशिक मानसिकता से मुक्ति,गार्गी प्रकाशन पृष्ठ-33

[3] अनुवाद- अशोक कुमार, फ्रेन्ज फैनन, धरती के अभागे,मेधा प्रकाशन पृष्ठ-23

उस मिशन पर सवाल खड़े करते हैं, जो यूरोपियनों द्वारा पूर्वी तथा अफ्रीकी देशों में चलाया गया था। वह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि, ऐसा कोई मिशन ही नहीं रहा और जिस उदारता की बात पश्चिम के लोग करते हैं, वह उदारता सवालों के घेरे में आ जाती है। फैनन ने यूरोप द्वारा कल्पित की गई **'कल्याणकारी मिशन'** की अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाया।

दरअसल 'अफ्रीकी' हो या 'एशिया' उपनिवेशों के प्रति यूरोपीय लोगों का दृष्टिकोण एक जैसा रहा है। उसमें भूगोल के अनुसार कोई विशेष बदलाव नहीं आया। फैनन के शब्दों में – **"देशी व्यक्ति को यह जरूर समझ लेना चाहिए कि उपनिवेशवाद बिना किसी मतलब के कभी कुछ नहीं देता। देशी लोग राजनीतिक या सशस्त्र संघर्ष से जो कुछ भी हासिल करेंगे, वह अधिकारी की दयालुता या सद्भावना का नतीजा नहीं होता, वह सिर्फ यह दिखाता है कि, वह रियायतें देना अब और नहीं टाल सकता और फिर देशी लोगों को यह भी समझना चाहिए, कि यह रियायतें उपनिवेशवाद नहीं देता बल्कि उन्हें तो कुछ लोगों ने उनसे छीना होता है"[1]।**

इसका प्रमाण कोलंबस के उस संस्मरण में मिलता है जब वह सन् 1492 ईस्वी में हाइती क्यूबा के तट पर उतरा, तो वहाँ के लोगों की सरलता और उदारता से प्रभावित हुआ। लेकिन वहाँ जब उसने सोने को देखा तो लालायित भी हुआ। इसके वर्णन में इन देशों की छवि बेहद सभ्य और संस्कारित है। लेकिन ऐसे क्या कारण होते हैं कि जब इस महाद्वीप को उपनिवेश बना लिया जाता है? उसके बाद इसके सुधार का ज़िम्मा स्वघोषित रूप से लेकर इन्हें असभ्य और पिछड़ा बताते हैं।

प्राच्यवाद के संबंध में सबसे ज़ोरदार बहस की शुरुआत एडवर्ड सईद द्वारा की जाती है। प्राच्यवादियों द्वारा मध्य एशिया की जो छवि गढ़ी गयी उसके आलोक में वह पूरे 'प्राच्यवादी ज्ञानकांड' की विवेचना करने का काम करते हैं। सन् 1967 ईस्वी में कोलंबिया विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रवक्ता के पद पर नियुक्त सईद 'फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन' में सक्रिय सदस्य थे। प्राच्यवादी ज्ञान उत्पादन की आलोचना में सईद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका मानना है कि, मानवतावाद के नाम पर ही प्राच्यवाद अपने आपको वैधानिकता प्रदान करता है। **'ह्यूमन एंड डेमोक्रेटिक क्रिटिसिज़्म'** में सईद –**"मानवतावाद हमने जो सदैव जाना और अनुभव किया उसे सुदृढ़ करने व प्रमाणित करने की विधि न होकर उस सारे कुछ पर सवाल उठाना, उसे उलटना-पलटना और उसको पुनः सूत्रबद्ध करना होता है। जिसे हमारे सामने पूर्ण निर्मित, व्यवस्थित, निर्विवाद और अनालोच्य मानकर**

[1] अशोक कुमार, फ्रेन्ज फैनन,धरती के अभागे,मेधा प्रकाशन पृष्ठ -112

संहिताबद्ध वस्तुओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिन्हें क्लासिक शीर्षक के अंतर्गत ठूँस दिया गया है। अब हमारा बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विश्व शायद ही विशेषज्ञ विमर्शों का सीधा-सादा स्वयंसिद्ध पुलिंदा हो। अब तो यह उलझी हुई धारणाओं का खौलता हुआ विवाद स्थल अधिक है”[1]

सईद द्वारा ‘प्रतिनिधिकरण’ की उस प्रक्रिया पर सवाल खड़ा किया गया जिसमें किसी विशेष समूह द्वारा, समूह के अनुभव के ‘प्रतिनिधिकरण’ में अंतिम शब्द बोलने का अधिकार दिया जाना चाहिए। क्योंकि यह अनुभव सामान्य अमरीकी अनुभव का अंश है। वह अनुभव को अभिव्यक्ति में रूपांतरित करने वाली किसी भी प्रक्रिया को ‘संक्रमण मुक्त’ नहीं मानते हैं। बल्कि सईद उसे कहीं ना कहीं पहले से ही सत्ता-अवस्थित और हितों द्वारा संक्रमित हो चुकी मानते हैं।

सईद द्वारा एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ‘आलोचकीय टूल’ दिया गया जिसे वह *'विवादी पाठन विधि'* कहते हैं – **“किसी पाठ का पाठन करने के क्रम में स्पष्ट ही इस प्रकार का सामान्यीकरण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, जिससे उस विशिष्ट पाठ, रचनाकार अथवा आंदोलन की पहचान धूमिल हो जाए। प्रत्येक सांस्कृतिक रचना किसी क्षण की कल्प सृष्टि होती है और हमें उस विज़न को उसके द्वारा ही बाद में उत्प्रेरित विभिन्न परिवर्तित कल्प सृष्टियों के बरक्स अवश्य रखना चाहिये”**[2]।

सईद जब प्राच्यवादी पाठ की आलोचना करते हैं, तो अपनी आलोचना विधि और उसके उद्देश्य भी निर्धारित करते हैं। वह मानते हैं कि, आलोचना को ‘जीवनदायी’ होना चाहिए और उसे स्वभाव से अन्याय, आधिपत्य और अत्याचार का विरोधी होना चाहिए। उसका सामाजिक लक्ष्य मनुष्य की स्वतंत्रता के पोषक ज्ञान का सहज उत्पादन होना चाहिए। इसीलिए जब सईद द्वारा आलोचना की बात की जाती है, तो वह उसे ‘प्रस्तुतीकरण’ मानते हैं तथा आलोचना और अनुवाद को ‘पुनर्प्रस्तुतीकरण’। वह ‘प्रस्तुतीकरण’ अथवा ‘पुनर्प्रस्तुतीकरण’ की इस प्रक्रिया को ‘राजनैतिक’ मानते हुए इसमें अनुवादक और आलोचक के पूर्वग्रह तथा निहित हितों को रेखांकित करते हुए लिखते हैं – **“प्राच्यवाद सांस्कृतिक और विचारधारात्मक रूप में उस विमर्श को व्यक्त और रूपायित करता है, जो**

[1] अनुवाद- शुक्ल, रामकीर्ति, शुक्ल, एडवर्ड सईद, वर्चस्व और प्रतिरोध, नई किताब प्रकाशन, पृष्ठ-28

[2] अनुवाद- शुक्ल, रामकीर्ति,एडवर्ड सईद, वर्चस्व और प्रतिरोध, नई किताब प्रकाशन, पृष्ठ-xvii

संस्थाओं, शब्दावलियों, बिंबविधान, मतों और औपनिवेशिक नौकरशाहियों और औपनिवेशिक शैलियों के आधार पर खड़ा किया गया है"[1]।

सईद के इस कथन के आलोक में क्या पूरी प्राच्यवादी आलोचना पुनर्मूल्यांकन की माँग नहीं करती है? क्या भक्ति के उदय से लेकर उसके प्रत्येक कवि के संबंध में दिए गए वक्तव्यों को संदेह की निगाह से नहीं देखा जाना चाहिए? सईद प्राच्यवाद को एक **'कॉरपोरेट संस्था'** के रूप में देखने की वकालत करते हैं। क्योंकि यह पूरब के विषय में **'वक्तव्य जारी करने का काम'** और प्रमुख रूप से **'जारी'** और **'प्राधिकृत'** करने का काम करती है। इस चिंतन के संबंध में वह लिखते हैं – **"प्राच्यवाद यूरोपीय कल्पना में रमने वाली कोई अदेही वस्तु भर नहीं है, अपितु इसने सिद्धांत और व्यवहार का एक ऐसा पुंज खड़ा किया कर दिया है, जिसमें कई पीढ़ियों के लिए अपना चिंतन निवेशित करने के लिए पर्याप्त गुंजाइश भी है"[2]।**

ऐसा भी नहीं है कि यह कोई एक निश्चित या व्यवस्थित अवधारणा है। यह तो तमाम तरह के नस्लवाद, साम्राज्यवाद और अपरिवर्तनशील अमूर्तन के रूप में प्राच्य के विषय में बहुमूल्य मताग्रहों से लबरेज़ अलग-अलग लेखकों का एक समूह है, जो अपनी 'नस्लीय श्रेष्ठता' को बरक़रार रखते हुए, प्रत्येक चिंतक का अपना व्यक्तिगत अनुभव है।

सईद ने एक प्रकार की एकता जो प्राच्यवादियों में देखी वह यह है कि, वह अपने महाद्वीप में अमेरिकी, ब्रिटिश और फ्रांसीसी होते हैं। मगर उन्हें जब अफ्रीका और एशिया के किसी विषय के बारे में चिंतन करना होता है तो समस्त मतभेदों को भूल कर वह 'यूरोपीय' और 'श्वेत' हो जाते हैं। क्योंकि पूरब से उनके अपने निश्चित हित हैं, जो उन्हें गर्व का अनुभव कराते हैं।

सईद एक प्रकार का 'बौद्धिक प्राधिकार' प्राच्यवादी चिंतन में पाते हैं। जो पूरब के देशों के ऊपर पाश्चात्य चिंतकों द्वारा किया गया है। यहाँ महत्त्वपूर्ण अवधारणा जो सईद द्वारा प्रस्तुत की गई है वह **'प्राच्यवादियों द्वारा प्रतिनिधिकरण की अवधारणा'** है। इसके संबंध में सईद कहते हैं **"पूरब पर लिखने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी प्राच्य साक्ष्य पूरब का पहले से उपलब्ध ज्ञान को प्रामाणिक मानकर चलता है, जिसका वह बराबर जिक्र करता रहता है, और जिस पर वह विश्वास करता है"[3]।**

[1] अनुवाद- शुक्ल, रामकीर्ति, एडवर्ड सईद, वर्चस्व और प्रतिरोध,नई किताब प्रकाशन, पृष्ठ-37

[2] अनुवाद- शुक्ल, रामकीर्ति, एडवर्ड सईद, वर्चस्व और प्रतिरोध, नई किताब प्रकाशन, पृष्ठ-41

[3] अनुवाद- शुक्ल, रामकीर्ति, एडवर्ड सईद, वर्चस्व और प्रतिरोध, नई किताब प्रकाशन,पृष्ठ-55

‘प्रतिनिधिकरण’ से आशय प्राच्य विद्वानों के द्वारा पूर्व में की गई धारणा को बिना प्रश्न किए, पुष्ट करते जाने से है। आगे आने वाले विद्वानों द्वारा इन ‘धारणाओं’ को ‘पुष्टिकरण’ के द्वारा और रूढ़ तथा दृढ़ बना दिया गया।

यह पुष्टीकरण उस संस्कृति के प्रति संवेदनशील रहा, जिसने इसे पैदा किया था, न कि उस संस्कृति के प्रति जिसका प्रतिबिंब होने के लिए यह प्रतिष्ठित माना जाता था। यह प्रतिष्ठाबोध भी पश्चिम का ही उत्पाद था।

भक्तिकविता के संबंध में क्या यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि, भक्तिकविता की अधिकतम आलोचक और विश्लेषण के लिए अनुवाद के पाठ पर आश्रित थे। और इनकी आलोचना इन्हीं अनुवादीय पाठों पर आधारित थी। अनुवादक अपनी सीमित सांस्कृतिक समझ के कारण कई फेर-बदल मूल पाठ में कर देता था। बाकी काम आलोचक द्वारा संपन्न कर दिया जाता था और इसी अनुवादित पाठ के आधार पर इतिहास लेखन का काम किया जाता था। इसीलिए उन व्याख्याओं में प्राच्यवादी परिवेश अधिकता में विद्यमान रहता था।

सईद प्राच्य द्वारा पूर्व के संबंध में **'प्रतिनिधिक विमर्श'** की चर्चा करते हैं। वह मानते हैं कि **“प्राच्यवाद वास्तव में एक प्रकार का दृष्टिदोष है। यह साधारण, ऐतिहासिक ज्ञान से हटकर एक दूसरे प्रकार का ज्ञान है”**[1]। किसी एक अरबी व्यक्ति के बारे में की गई टिप्पणी को सईद समय के साथ एक ‘नीति’ बनने की प्रक्रिया को रेखांकित करते हैं और समय के साथ वह नीति/धारणा अपरिवर्तनीय बन जाती है। वह किसी व्यक्ति, जाति, धर्म, देश के बारे में एक पद या एकक रूप में नहीं सोचता है, बल्कि प्राच्यवाद जब अपने उपनिवेश रहे देशों के बारे में राय प्रस्तुत करता है तो वह **‘सामूहिक पदों’** के रूप में सोचता है। वह अलग-अलग व्यक्तियों के बारे में नहीं सोचता बल्कि वह एक पद में ही अपनी अवधारणाएँ प्रस्तुत करता है।

इन तमाम पक्षधरताओं के बावजूद प्राच्यवाद के द्वारा ‘ज्ञानानुशासन’ के कई द्वार खुले। इसीलिए **“ओमप्रकाश केजरीवाल सोसाइटी (रॉयल एशियाटिक सोसायटी) से जुड़े विद्वानों को एकेडमिक जगत में साम्राज्यवाद के पोषक और पक्षधर के रूप में देखे जाने का विरोध करते हैं और उनके योगदान को निष्पक्ष ढँग से स्वीकार करने की माँग करते हैं”[2]।**

[1] अनुवाद- शुक्ल, रामकीर्ति, एडवर्ड सईद, वर्चस्व और प्रतिरोध, नई किताब प्रकाशन, पृष्ठ-106

[2] सिंह, वैभव, इतिहास और राष्ट्रवाद, आधार प्रकाशन, पृष्ठ-44

भारतीय साहित्य, भाषा, इतिहास के संबंध में कई प्रकार की अवधारणाएँ प्राच्यवादी आलोचकों के द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। यह विचारणीय है कि, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ग्रंथ ही फ्रेंच विद्वान 'गार्सा-दा-तासी' द्वारा लिखा गया। इसके बाद विभिन्न इतिहासकारों के द्वारा इतिहास लिखे गए और इसी प्रविधि का प्रयोग परवर्ती इतिहासकारों और आलोचकों ने किया है। आलोचना में विभिन्न औपनिवैशिक परिदृश्य हमें प्राप्त होते हैं। जो शोध के अध्यायों में निष्कर्ष तक पहुँचते हुए विवेचित किये जाएँगे।

अध्याय-1

पाश्चात्य: हिंदी साहित्य इतिहास लेखन

अध्याय विवरण –

1.1-इतिहास: अर्थ और प्रयोग

1.2-साहित्येतिहास ग्रंथों की पूर्वपीठिका और आरंभिक कविवृत्त संग्रह

1.3-गार्सा-दा-तासी और इतिहास लेखन

1.4-जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन और इतिहास लेखन

1.5-रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज और इतिहास लेखन

1.6-एफ. ई. के. और इतिहास लेखन

निष्कर्ष

1.1 -इतिहास: अर्थ और प्रयोग-

इतिहास शब्द का अर्थ क्या है? क्या इतिहास व्यक्ति सापेक्ष होता है? क्या इतिहास घटनाओं का क्रमिक वर्णन मात्र है? क्या इतिहास समय- समाज की समग्रता में व्याख्या करता है? यह तमाम सवाल इतिहास के अध्येता के सामने बार-बार आते हैं। इतिहास में इतिहासकार जब किसी महान सम्राट को इतिहास का निर्माता कहता है, तो वहाँ आशय यह नहीं होता कि उस कालखंड का जो इतिहास है वह उसी के इर्द-गिर्द रहता है, बल्कि और भी बहुत कुछ होता है जो उसके इतर होता है और बहुत कुछ ऐसा होता है जो छूट जाता है। वह आगे के इतिहासकार छान-बीन करके नए तथ्यों और सत्यों की खोज करके प्रमाणों के साथ उसे संपूर्णता की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं।

यह प्रश्न बार-बार उठता है कि इतिहास वास्तव में है क्या? क्या इतिहास विज्ञान है? क्या उसके निर्णय प्रत्यक्ष निरीक्षण और प्रयोग पर अवलंबित हैं? इतिहास वास्तव में रसायन विज्ञान और भौतिकी की तरह समान परिणाम देने जैसा तो नहीं है लेकिन वह घटना प्रवाह का क्रमबद्ध एवं सुसंबद्ध और व्यवस्थित विवेचन करता है। ई.एच.कार अपनी पुस्तक *'इतिहास क्या है?'* में लिखते हैं- **"इतिहासकार लगातार यह प्रश्न पूछता रहता है कि ऐसा क्यूँ है? और उसे जब तक उत्तर पाने की उम्मीद रहती है, वह चुप नहीं बैठ सकता। महान इतिहासकार या मुझे कहना चाहिए, महान विचारक जो नई चीजों नए संदर्भों के बारे में पूछता है; क्यों?"[1]।**

यह मानते हैं कि इतिहास क्यों से शुरू होता है और जब तक उस क्यों? कब? कैसे? कहाँ? इन सबका उत्तर वह नहीं पा लेता है उसकी खोज जारी रहती है। इतिहास और विज्ञान दोनों इस बिन्दु पर समान हैं क्योंकि दोनों में 'क्यों?' से शुरुआत होती है और इसी का उत्तर अनवरत खोजा जाता है। इसकी पुष्टि नलिन विलोचन शर्मा भी इस उद्धरण से करते हैं- **"यूरोप में बेरी नामक एक विद्वान ने अपने किसी भाषण में बड़े जोरदार शब्दों में यह प्रतिपादित किया था . . . . . इतिहास एक विज्ञान है ,उससे न कुछ कम, न कुछ ज़्यादा"[2]।**

अब प्रश्न आता है कि, इतिहास की विषयवस्तु क्या है? विशुद्ध रूप से देखा जाए तो इतिहास की विषयवस्तु है ही नहीं। इतिहास तो खोज (तथ्य/सत्य) की एक प्रक्रिया अथवा एक प्रणाली है। राजनैतिक इतिहास में राज्य और शासन संबंधी घटनाओं का विवेचन होता

[1]कार, ई एच (1987), इतिहास क्या है, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड-पृष्ठ-74

[2] शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद-पृष्ठ-5

है। धार्मिक इतिहास में धर्म संबंधी गत घटनाओं की चर्चा की जाती है, आर्थिक इतिहास में अर्थ संबंधी अतीत की घटनाओं की मीमांसा होती है।

इस प्रकार मनुष्य के साथ-साथ समस्त जीव और ब्रह्मांड के रहस्य क्रिया-कलाप इतिहास के अनुसंधान के लक्ष्य बनते हैं।

साहित्येतिहास और इतिहास-

साहित्येतिहासकार अपने इतिहास में भाषा और साहित्य के आरंभ से लेकर आज तक के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा स्पष्ट करता है। विकास की प्रक्रिया, आयाम का कोई हिस्सा उसके विवेचन क्षेत्र से बाहर नहीं होता है। इतिहास जहाँ राजाओं, युद्धों और उसके परिवर्तनों को केंद्र में रखता है, वहीं साहित्य का इतिहासकार रचना व रचनाकार, उसकी भाषा-शैली, विचार प्रतिपादन की प्रक्रिया के साथ-साथ युगीन प्रभाव तथा परिस्थितियों का भी विश्लेषण करता है और इस अनुशीलन में इतिहास साहित्य के इतिहास की बराबर मदद करता है।

साहित्य के विभिन्न क्षेत्र में कार्य करने वाले रचनाकारों का कालक्रम से अथवा वर्णानुक्रम से वर्णन कर देना मात्र ही साहित्य का इतिहास नहीं है। इससे वह मात्र तालिका बनकर रह जाएगी और मूल विवेच्य विषय दूर चला जाएगा। साहित्य के इतिहास में प्रमुख साहित्य उन्नायकों के मतों का वैज्ञानिक रीति से आलोचनात्मक परीक्षण किया जाता है। क्योंकि साहित्यिक गतिविधियों तथा क्रियाकलापों पर उनका व्यापक प्रभाव और कभी-कभी स्थायी प्रभाव पड़ता है।

साहित्य विविध धाराओं तथा प्रभावों को आत्मसात करता है। सभी धाराएँ और सभी प्रभाव एक साथ प्रवाहित नहीं होते, समय विशेष में एक धारा या एक प्रभाव का ही प्राधान्य रहता है और अन्य धराएँ गौण होती हैं। इन साहित्यिक धाराओं का अध्ययन भी कालक्रमानुसार ही किया जाता है। इतिहास (अनुशासन) में समय को **'युग'** कहते हैं और साहित्येतिहास में **'काल'** दोनों का आशय एक ही है। साहित्यिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। इतिहास से परिचित हुए बिना साहित्येतिहास में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इतिहास, साहित्य के इतिहास को गति तथा स्फूर्ति देता है।

साहित्येतिहासकार के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती जो आती है वह यह कि, वह विषय का विवेचन किस प्रकार करे जिससे साहित्य का अध्ययन करने वालों को उसे समझने में किसी

प्रकार की अनावश्यक कठिनाई न हो। साहित्य का इतिहास अगर सिर्फ विवरणात्मक रहा तो वह केवल सूचना प्रदाता की तरह हो जाएगा, जबकि उसके लिए विचारों तथा उन विचारों से समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी विवेचन करना होता है। इसके साथ ही रचनाकारों की सीमा, तथ्य विश्लेषण, और जांच पड़ताल के बाद अपना मत भी व्यक्त करना पड़ता है। साहित्येतिहासकार की अपनी रुचि और पूर्वग्रह के बावजूद भी उसमें एक प्रकार की तटस्थता की माँग हमेशा रहती है। साहित्य का इतिहासकार शास्त्रीय गुण-दोषों का विवेचन करने की अपेक्षा उन धारणाओं और पृष्ठभूमियों का विश्लेषण अधिक करता है, जिनसे उस युग का साहित्य प्रभावित हुआ है। और उस युग ने विशेष प्रकार की साहित्य प्रवृत्ति को प्रधानता दी है।

साहित्य के इतिहास में जनरुचि की ज़्यादा चर्चा न करके इतिहासकार साहित्य की कृति पर ही ध्यान केंद्रित करता है। यही कारण है कि विगत अथवा आधुनिक काव्य परिवर्तनों का उत्स ठीक तौर से समझ नहीं आता। युगविशेष में रुचिविशेष की प्रधानता रहती है साहित्य के इतिहास निर्माण में साहित्यिक अभिरुचि और कलाओं का प्रभाव होता है। महान कृतिकारों के संबंध में पर्याप्त रुचिभेद भी देखने को मिलते हैं। किसी काल में कोई पसंद या नापसंद किया जा सकता है और यह स्थान या व्यक्ति आधारित भी है।

साहित्येतिहास निर्माण की प्रक्रिया-

साहित्यिक कृति किसी समय के व्यवहार, विचार तथा विशेष प्रकार के मस्तिष्क के अध्ययन, मनन, विवेचन और विश्लेषण की निर्मिति होती है। वह मात्र कल्पना का खेल या किसी भी उत्तेजित मस्तिष्क का आलोड़न मात्र नहीं है। तो वहीं वह कृति सम्पूर्ण '**समाज का दर्पण है',** ऐसा भी नहीं कह सकते। मानव इतिहास के मनन-चिंतन के क्रम को, उसमें आये हुए बदलाव को इसके द्वारा जाना जा सकता है।

कृति के पढ़े जाने पर प्रथमतया हमारे मन में यही आता है कि इसके निर्माण में मनुष्य का हाथ है। यह अपने-आप निर्मित नहीं हुई है और उसका अध्ययन मनुष्य को समझने तथा जानने के लिए है। किसी भी रचना को रचनाकार से विलग नहीं देखा जा सकता। क्योंकि समस्त तथ्यों के मूल में मनुष्य है जो शब्दों को कल्पना और बुद्धि के अनुसार संयोजित करता है। साहित्येतिहास निर्माण में इसी मनुष्य के संपर्क में आना पड़ता है। वास्तविक और सच्चा इतिहास तब प्रारंभ होता है जब समय के अंतराल को भेदकर उसके रीति-रिवाजों, आकृति,

आवाज़ों, उसके भाव और परिधान, पूर्ण अथवा अपूर्ण जैसा कि वह वास्तविक जीवन में है, के संपर्क में साहित्येतिहासकार आता है।

बीते युग के झूठे ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान का अपूर्ण होना ज़्यादा ठीक है। इसे समझने के लिए हमारे पास साहित्य से अच्छा दूसरा कोई माध्यम नहीं है और यहीं से साहित्य के इतिहास निर्माण के प्रथम चरण की शुरुआत होती है। इसमें उस मनुष्य को देखा जाता है जो हमारे सामने नहीं है वह मात्र कुछ रचनाओं में दर्ज है जिसमें कल्पना भी मिश्रित है। वर्णित भंगिमा, बातचीत, रहन-सहन, आवास, भोजन आदि से उस मनुष्य का अनुमान लगाया जाता है। दृष्टिकोण के सहारे उसके विषय में किसी निर्णय पर पहुँचा जाता है। लेखन, कलात्मक अभिव्यंजन, व्यापारिक सौदे अथवा राजनैतिक रुचि आदि को देखकर उसके बारे में किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयास किया जाता है। ये सब बाह्य प्रयत्न किसी केंद्र तक पहुँचने के उद्देश्य से किए जाते हैं और वह केंद्र सहृदय मनुष्य है।

भारतीय इतिहास संबंधी मत-

भारतीय प्रतिभा सदैव आत्मप्रचार और आत्मप्रसार से दूर रही है। यही कारण है कि पाश्चात्य जगत में यह धारणा प्रचलित हो गई कि भारतीयों के इतिहास विषयक प्रयत्न अव्यवस्थित, अपूर्ण और दोषयुक्त हैं। इतिहास में तिथि तथा समय का बड़ा महत्त्व होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इसी का अभाव पाया जाता है। इतिहास के कुछ तत्त्व उसमें अवश्य हैं, लेकिन इतिहास नहीं है। 'पार्जिटर' का मत है –

"Ancient India has bequeathed to us no historical work"[1]

ग्यारहवीं शताब्दी में अरबी यात्री 'अल्बरूनी' ने भी अपना मत इसी प्रकार प्रकट किया है-

"Unfortunately, the Hindus do not pay much attention to the historical order of things, they are very concealing in relating the chronological succession of their and when they are pressed for information and we are at a loss, not knowing what to say the inversely take to romancing"[2]

[1] Pargiter ,ancient Indian historical tradition-page 22.

[2] ES.sachau, Alberuni s india pp-10

मेकडोनाल्ड, का भी यही मत है कि '*प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक विवेक का अभाव था'।* 'पार्जिटर' भारत में परंपरा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए टिप्पणी करता है। क्योंकि वह अपनी पुस्तक में पुराणों और महाभारत के श्लोक उद्धृत करता है। वस्तुतः भारतीय इतिहास विषयक पाश्चात्य और अन्य मत अनेक भ्रांत और भ्रामक धारणाओं पर आधारित हैं। वेद, पुराण, महाभारत, भास आदि के संबंध में जो अनिश्चितता और मतभेद हैं उससे सब परिचित हैं। इसीलिए एम. वितरनितज भारतीय साहित्य के इतिहास में लिखते हैं-

"It is much better to recognise clearly the fact for the oldest period of Indian literary history. we can give no certain dates and for the later periods only a few even today the views of the most important investigator with regard to the age of the most important literary works, not indeed by year and decades but by whole centuries if not even by one or two thousand years"[1]

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार प्राचीन साहित्य का लेखक 'रचना' विशेष के रचनाकार के रूप में न जाना जाकर वंश, संप्रदाय, अथवा किसी प्राचीन ऋषि के नाम से जाना जाता है। व्यक्ति के स्थान पर वंश का नाम रहने से उसके वास्तविक रचयिता के संबंध में कैसे जाना जा सकता है? ऐसा नाट्यशास्त्र के संबंध में हमें देखने को मिलता है। इसमें भरत, नाट्यशास्त्र के रचनाकार थे? या भरत नाम की एक परंपरा थी? ऐसा कुछ विद्वानों के बीच में मतभेद है। क्योंकि कई बार रचना को किसी प्रसिद्ध लेखक या लोकप्रिय परंपरा से जोड़ दिया जाता था।

डॉ. रूपचन्द पारीक अपने शोध में लिखते हैं- **"हिंदी के साहित्य इतिहास ग्रंथ अंग्रेज़ी साहित्येतिहास लेखन प्रणाली से प्रभावित हैं"**[2] वह *सेंसवरी* तथा *लिबोरस* और *कजामियाँ* के निष्कर्ष के रूप में कुछ बिंदुओं को गिनाते है –

1. "विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण तथा अंतरप्रकरण की व्यवस्था ऐतिहासिक निष्कर्ष को भली-भाँति व्यक्त कर पाते हैं।

2. इतिहास लेखन में तथ्य संबंधी भ्रांतियों के संबंध में सदा सजग रहना चाहिए और इतिहास में जहाँ तक हो सके वे न हों तो श्रेयस्कर है।

---

[1] M. viternitz, A history of Indian literature (Kolkata)-pp 25-26

[2] पारीक, डॉ. रूपचन्द, हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन-पृष्ठ-23

3. इतिहासकार का निजी मत होना आवश्यक है और वह मत अपने आप में आलोचनात्मक होना चाहिए।

4. इतिहास का उद्देश्य पाठकों को वास्तविक एवं मौलिक साहित्य पढ़ने की प्रेरणा देना है।

(अंग्रेजी साहित्य का इतिहास- सेंसबरी, प्रस्तावना से)

1. साहित्य इतिहास लेखन में सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण उपयोगी होता है।
2. इतिहासकार को पाठक का संबंध मूल रचना से स्थापित करना चाहिए।
3. नए इतिहास की सार्थकता तभी है जब वह ज्ञान के क्षेत्र में नई देन देता है।
4. अविवेचित तथ्यों और भावों का विवेचन इतिहासकार का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।
5. इतिहास लेखन में उसकी लेखन प्रणाली तथा भावों और विचारों का अध्ययन आवश्यक है"।[1]

इस तरह हम देखते हैं कि पाश्चात्य साहित्य इतिहास लेखक साहित्यिक दृष्टिकोण, तथ्यात्मकता, आलोचनात्मक, इतिहासकार का पक्ष, सौन्दर्यवादी, मूल रचना से संपर्क कराने वाला, नई विवेचना तथा तथ्योद्घाटन, लेखन प्रणाली, भाव और विचारों का अध्ययन आदि साहित्य के इतिहासकार के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं और इन तत्त्वों का प्रभाव हमारे व्यवस्थित इतिहास लेखन में लक्षित होता है।

पाश्चात्य साहित्य इतिहास लेखन-

पश्चिम में भी साहित्य के इतिहास लेखन की शुरुआत कविवृत्त संग्रह से ही होती है।

अंग्रेज़ी में अठारहवीं शताब्दी में व्यवस्थित इतिहास लेखन की शुरुआत होती है। इससे पूर्व सोलहवीं शताब्दी में 'जॉन लैलण्ड' और 'जॉन वेल' ने समस्त संभावित लेखकों के नामों के साथ रचनाओं को संकलित किया था। सत्रहवीं शताब्दी में विशिष्ट और साधारण रचनाकारों का विभेद किया और इसी शताब्दी में **'लाइब्ज़ ऑफ द पोएट'** सामने आया इसके बाद इंग्लैंड में पुस्तकालयों और संग्रहालयों की स्थापना हुई और योजनाबद्ध रूप से इतिहास लेखन योजना सामने आयी। इसकी दो धाराएँ थीं। पहले में **पाठानुसंधान, आलोचना** तथा दूसरी धारा में **रुचिवैचित्र्य की भावना** थी। वहीं आई. ए. रिचर्ड्स जैसे

[1] पारीक, डॉ. रूपचन्द, हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन-पृष्ठ-27

आलोचक जो कृति के सम्पूर्ण वैविध्य को समग्रता से देखने के पक्षधर थे। 'एम्पर्सन' ने काव्य की भाषा तथा सूक्ष्म विश्लेषण, तिलोटसन् ने कविता की भाषा का सतर्क निरीक्षण पद्धति का समुचित उपयोग किया।

फ्रेंच- साहित्येतिहासकार प्रकृतिवादी होने पर भी आलोचनात्मक विवेक का परिचय देते हैं। ,ब्रूनतियर और गुस्ताव लासो इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। 'डेनियल मरने' ने अत्यंत सबल शब्दों में यह प्रतिपादित किया कि '**गौण से गौण कलाकारों का विशद साहित्येतिहास रचा जाना चाहिए**'।

जर्मन- साहित्येतिहासकार अधिकतम प्रवृत्ति का इतिहास लिखने में मग्न रहे। वे बाह्य वस्तुओं में छुपी संपूर्णता को ढूँढ़ते और समय के अनुसार सभी तत्त्वों की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार सभी मानवीय क्रियाकलापों में एक सार्वभौम समानता का अस्तित्त्व बना रहता है। ओसवाल्ड, स्पेन्गलर ए.एच.कार्फ के अलावा एक दूसरा वर्ग जर्मनी में था जो प्राणिशास्त्रीय और जातिशास्त्रीय दृष्टिकोण से इतिहास को रचने का प्रयत्न कर रहा था। वहीं जर्मनी में 'जार्ज स्तेफाँस्की' ने रोमांटिसिज़्म की आत्मा पर काम किया।

रूस में 19 वीं शताब्दी में सर्वप्रथम 'अलेक्जेंडेर वेओलोब्स' ने स्लाव प्रदेश के लोकसाहित्य के आधार पर साहित्यिक रूपों का प्रकृतिवादी इतिहास लिखने का प्रयास किया। इसके बाद एक आदर्शवादी प्रणाली चली जो बीसवीं शताब्दी में प्रतिक्रियास्वरूप रूपवाद के रूप में विभूषित हुई। इन रूपवादियों की मान्यता थी कि –**"साहित्येतिहास साहित्य में प्रातबिम्बित सभ्यता और आचार-विचार का इतिहास मात्र नहीं है "[1]।**

साहित्येतिहास लेखन परंपरा: संस्कृत-पालि –

साहित्य में इतिहास की पर्याप्त सामग्री सुरक्षित रही, पर संस्कृत के आचार्य इतिहास और कविवृत्त संग्रह के प्रति उदासीन रहे। यही कारण है कि उन कविवृत्त संग्रहों के आधार पर कविता परंपरा का मूल्यांकन आज तक नहीं हो पाया है। 12 वीं. शताब्दी से पूर्व एक संग्रह **'कवींद्रवचन समुच्चय'** में कवियों के 500 छंद संकलित हैं, जिनके रचयिता 100 ईसवी तक के हैं। 13 वीं शताब्दी में श्रीधारदास का **'सदुक्तिकरणामृत'** में 485 कवियों का उल्लेख है। इसी शताब्दी में **'सुभाषित मुक्तावली'** जल्हण द्वारा संकलित हुई जिसमें 350 कृतिकारों

[1] Alexander veselovsky-1940 Iztoriche sky a poetics(historical poetics) Leningrad.

के लगभग 3000 छंद संकलित हैं। ये चाहे आधुनिक अर्थ में साहित्येतिहास न हों, परंतु कविवृत्त संग्रह अवश्य हैं।

पालि की **'दीपवंश', 'महावंश'** आदि पुस्तकों में तिथिक्रम निर्धारित करने के लिए पर्याप्त सामग्री है। 'धम्मकीर्ति' 14 वीं शताब्दी **'सद्धर्मसंग्रह'** के नवें अध्याय में पूर्ववर्ती रचनाओं और कलाकारों का उल्लेख किया है। इसके अलावा **'सट्टककर्पूरमंजरी'** में विदूषक द्वारा रचनाकारों का उल्लेख कराया गया है। 'धवल कवि' ने **'हरिवंशपुराण'** महाकाव्य के प्रारंभ में अनेक कृतियों एवं उनके कृतिकारों का उल्लेख किया है। 'नयनंदी' ने **'सकलविधिनिधान'** खंडकाव्य में संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक कवियों का नामोल्लेख किया है, तो 'देवसेनमणि' के सुलोचना चरित्र में पूर्ववर्ती कवियों के बारे में बताया गया है। धनपाल ने **'बाहुबली चरित्र'** में अनेक पूर्ववर्ती कवियों, व्याकरणाचार्यों एवं दार्शनिकों का उल्लेख किया है।

इस तरह संस्कृत, प्राकृत, पालि आदि के साहित्य में कवियों का वर्णन मिलता है लेकिन विधिवत कोई काव्य परंपरा का इतिहास नहीं मिलता है।

1.2- इतिहास ग्रंथों की पूर्वपीठिका और कविवृत्त संग्रह-

पुराणकारों ने जहाँ इतिहास का अर्थ परंपरा से लिया तो वहीं प्राचीन कवियों ने अपने बारे में अपनी रचना में कहीं न कहीं कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। इस लेखन को हम रचनाकार के अंतरसाक्ष्य के रूप में देख सकते हैं। इससे बढ़कर प्रमाण क्या हो सकता है कि, वह स्वकथन हो लेकिन इस बात की पहले भी चर्चा की जा चुकी है और एक बार फिर दोहरा रहे हैं- **'परंपरा के लोकप्रिय नाम का उपयोग अनेक लेखक समय-समय पर करते रहे हैं'**। लेकिन इतिहास ग्रंथों की पूर्वपीठिका के रूप में इन अंतरसाक्ष्यों का उपयोग एक प्रश्नवाचक चिह्न के साथ तो किया ही जा सकता है। इसके अतिरिक्त समकालीन लेखक अपने से पहले के रचनाकारों की रचना को उद्धृत करते हैं, उन पर कोई मन्तव्य व्यक्त करते हैं वह भी काफी प्रामाणिक होता है और इतिहास में उसका उपयोग किया जा सकता है। इस तरह की सामग्री का उपयोग बाह्यसाक्ष्य के रूप में किया जा सकता है, जो काफी हद तक प्रामाणिक और सत्य के क़रीब हो सकता है।

क्योंकि साहित्य का इतिहास तिथि और रचनाकाल के संबंध में सिर्फ अनुमान पर आधारित नहीं लिखा जा सकता इसीलिए इस प्रकार के अन्तः और बाह्यसाक्ष्य बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

हिंदी साहित्य में रासोकाव्य, विद्यापति की कविता, जायसी, सूर, तुलसी, केशवदास आदि भक्तिकालीन कवियों के साथ रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में भी इस तरह के साक्ष्यों के सूत्र मिलते हैं। इसी समय वार्त्ता-साहित्य के रूप में एक आलोचनात्मक टिप्पणी के साथ सुचिन्तित वक्तव्य कवि के बारे में हमारे सामने आता है। जो कविता और कवि के विविध पहलुओं के मूल्यांकन के बाद वार्त्ताकार ने दिया होता है।

रासो में- पृथ्वीराज रासो के रचयिता चंदबरदाई ने अपने संबंध में पर्याप्त सूचनाएँ दी हैं लेकिन कई प्रतियों और अनेक संस्करणों की उपलब्धता के कारण उसकी प्रामाणिकता और समय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। एक छंद में चंद लिखते हैं-

"बालिभद्रसु नागौर चंद उप्पजि लहौराह

दिल्लिय अगताई वियाधर सामत सोरह"।[1]

[1] चंदबरदाई,पृथ्वीराज रासो-समय 1 पृष्ठ-84

रासो ग्रंथों में वंशावली से वंश विवरण, जन्मस्थान, पिता, आश्रयदाता तथा उनके संबंध में कुछ अर्धप्रामाणिक जानकारी तो मिल ही जाती है मुख्य रूप से उस समय-समाज में आजीविका, जाति संबंध, सामाजिक ताना-बाना राजनैतिक- सामाजिक स्थितियों की जानकारी इन ग्रंथों में मिलती है जो अंतःसाक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य दोनों का काम करते हैं।

जायसी के आखिरी कलाम की एक पंक्ति-

"भा अवतार मोर नौ सदी, तीस बरस ऊपर कवि बदी "

जायसी के जन्मकाल को समझने में हमारी मदद करता है। इस प्रकार के सूत्र पद्मावत में बिखरे पड़े हैं। समकालीन शासक, परम्पराएँ, लोक स्मृति और स्वयं कवि के बारे में बहुत कुछ जानकारी मिलती है। पद्मावत में-

"जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आई कवि कीन्ह बखानू"[1]

पद्मावत में भी जायसी के जन्मस्थान, निवासस्थान, गुरु, मित्रों के संबंध में जानकारी मिलती है। इस सामग्री से साहित्य का इतिहासकार तथ्य जुटाता है और उनकी प्रामाणिकता पर बात करते हुए साहित्य के इतिहास में अपनी राय कायम करता है। इस प्रकार के वर्णन आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक के साहित्य में जहाँ भी प्राप्त होते हैं वह इतिहासकार की मदद करते हैं। साहित्य के इतिहास की प्राथमिक सामग्री बनते हैं।

भक्तिकालीन कवि सूरदास के संबंध में 'साहित्य लहरी' में एक पद दिया गया है जिसमें सूर ने अपने परिवार के साथ ही पूरे वंशवृक्ष का उल्लेख किया है। यह पद काफी चर्चा में रहा है। कुछ इतिहासकार इसे प्रक्षिप्त भी मानते हैं, लेकिन एक पद जिसे रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में उनकी अंधता के संबंध में उद्धृत करते हैं, वह दृष्टव्य है-

"भरोसो दूर इन चरनन केरो

श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो

साधन नहीं और या कलि में जसों होत निबेरो

सूर कहा कहि दुबिध अँधरी बिना मोल को चेरो"[2]

---

[1] शुक्ल, रामचन्द्र,जायसी,पद्मावत,लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ 10

[2] वर्मा, डॉ रामकुमार,हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-732

तुलसीदास भी ‘रामचरितमानस’ और ‘विनयपत्रिका’ में मुख्य रूप से इतिहास के लिए उपयोगी कई सूचनाएँ देते हैं। उनमें जन्मतिथि का उल्लेख ज़रूर नहीं मिलता लेकिन माता-पिता, निवास स्थान का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है –

“रामहि प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसीदास हित हिय हुलसी सी”-(रामचरितमानस)

“साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो

रामबोला नाम, हों गुलाम रामसाहि को”-(कविता वली)

‘रामचरितमानस’ और ‘कवितावली’ में कवि के विविध दार्शनिक दृष्टिकोणों तथा जीवनयात्रा का उल्लेख प्राप्त होता है। यहाँ एक उदाहरण दृष्टव्य है-

“अब चित चेतु चित्रकूटहिं चल”- (विनयपत्रिका)

जीवन के वृद्धावस्था के दौर का वर्णन तुलसी ने अपनी रचनाओं में किया है। इस अवस्था में बीमार होकर जिस कष्ट से वह पीड़ित रहे वह कविता में उन्होंने उतार दिया है और यह कहा जाता है कि ‘हनुमान बाहुक’ रचना तो कवि ने बाहु पीड़ा के कारण ही रची। इस प्रकार रचनाओं में कवि किसी ना किसी रूप में जन्म-मरण तक की यात्रा के कुछ अंश जरूर लिखता है जो साहित्य इतिहास लेखक के लिए उस समय-समाज और संस्कृति को समझने में मदद करते हैं। इससे इतिहास लेखक प्राथमिक सामग्री की तरह कार्य लेता है। जब तक कोई विरोधी प्रमाण इस संदर्भ में नहीं मिल जाता तब तक उसकी प्रामाणिकता पर कोई संदेह भी नहीं करता है।

केशवदास की कविता में-

“सनाढ्य जाति गुणाढ्य है, जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव

कृषणदत्त प्रसिद्ध है, महि मिश्र पंडित राव

गणेश सो सूट पाइयो बुध काशिनाथ अगाध

अशेष शास्त्र विचार के जिन पाइयो मत साध”-(रामचंद्रिका)

केशव भी अपने कुल, गोत्र, पितामह, पिता आदि का परिचय अपने काव्य में दे रहे हैं तथा रचना का कारण, उसका उद्देश्य, कवि- विवाद, गुरु-शिष्य, आश्रयदाता आदि का वर्णन

इस समय में रचित ग्रंथों में मिलता है और इससे इतिहासकार को सत्य तथा तथ्य तक पहुंचने में काफी मदद मिलती है।

उपरोक्त उदाहरण साहित्य में मौजूद अन्तःसाक्ष्यों के हैं लेकिन साहित्य में बाह्यसाक्ष्य के रूप में भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। इसमें मुख्य रूप से 'भक्तमाल' का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इसका संकलन 'नाभादास' ने किया था इसमें कबीर, तुलसी, मीरां, रसखान आदि के संबंध में कुछ आलोचनात्मक टिप्पणी के रूप में पद मिलते हैं जो सम्पूर्ण कवि व्यक्तित्त्व पर लागू होते हैं।

यह इतिहास के प्रमाणों को किसी रूप में पुष्ट नहीं करते लेकिन इन पदात्मक टिप्पणियों को आलोचना का प्रथम चरण माना जा सकता है। क्योंकि साहित्येतिहास में इतिहासकार अपना मत भी व्यक्त करता है और प्रतिमान निर्धारित कर समग्र काव्य का मूल्यांकन करना भी उसका प्रमुख कार्य होता है।

कबीर के संदर्भ में-

"कबीर कान राखी नहीं, बरनाश्रम षट दरसनी

भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो

जोग जग्य ब्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो

हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी

पच्छपात नहिं बचन सबहिन के हित की भाखी

आरूढ़ दशा है जगत पर मुख देखी नाहिन भनी

कबीर कानि राखी नहीं बरनाश्रम षट दरसनी"[1]

"उक्ति ओज अनुप्रास ,बरन अस्थिति अति भारी

वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी"[2]

[1] श्रीकृष्णदास,खेमराज,सटीक भक्तमाल, श्री वेंकटेश्वर प्रेस,पृष्ठ- 461-62

[2] श्रीकृष्णदास,खेमराज,सटीक भक्तमाल, श्री वेंकटेश्वर प्रेस,पृष्ठ-549-40

इसमें नाभादास ने कबीर और सूर की कविता, व्यक्तित्व के मुख्य-मुख्य गुणों को काव्य के रूप में लिखा है। यहाँ आलोचना का प्रथम रूप हमें इन रचनाओं में देखने को मिलता है जो इतिहास का मुख्य अंग बनता है।

वार्त्ता साहित्य- वार्त्ता साहित्य बाह्यसाक्ष्य के रूप में साहित्येतिहासकार की मदद करता है। प्रमुख रूप से 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' और 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में मध्यकालीन भक्त कवियों के जीवन प्रसंग वर्णित मिलते हैं एक उदाहरण –

"सो गऊ घाट पर सूरदास जी को स्थल हुतौ सो सूरदास जी

स्वामी हैं आप सेवक करते हैं

सूरदास जी भगवदीय हैं गण बहुत आछो करते । ताते बहुत

लोक सूरदास जी के सेवक हुते"। [1]

सूर और वल्लभाचार्य प्रसंग, कविता द्वारा भगवदवर्णन का आग्रह, पदों की संख्या का संकेत, भक्ति प्रसंग, चमत्कार वर्णन आदि सूर के संबंध में अर्द्ध ऐतिहासिक, किंवदंतीपरक वर्णन हमे 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' से प्राप्त होता है।

इसके अलावा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में' नन्ददास के साथ तुलसीदास का उल्लेख 'वार्त्ता' में हुआ है। तुलसीदास से संबंधित अंश इस प्रकार है-

"नन्ददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई हते। सो बिनकूँ नाच तमाशा देखने को तथा गाना सुनने को शौक बहुत होतो।। सो वे वा देस में सूँ एक संग द्वारका जात हते । सो नन्ददास जी ऐसो विचारे के मैं रणछोड़ जी के दरसन् कूँ जाऊं तो अच्छों है। जब बिनने तुलसीदास जी सूँ पूंछि तब तुलसीदास जी श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते जासू बिनने द्वारिका जायवे की नाहीं कही"[2]

इस प्रकार वार्त्ता साहित्य मध्यकालीन रचनाकारों के जीवन प्रसंग से परिचय कराने में बहुत सहायक है।

रीतिकालीन कवियों ने तुलसीदास की उस परंपरा को दोहराया है, जहाँ तुलसी अपने पूर्व के रामायणकारों के साथ-साथ आदि कवि वाल्मीकि का स्मरण और वंदन करते हैं,

[1] श्रीकृष्णदास,खेमराज,सटीक भक्तमाल, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, पृष्ठ-694

[2] सटीक,दो सौ वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ-28

रीतिकालीन कवि भी तुलसी की ही भाँति अपनी पूर्व परंपरा का स्मरण करता है और इसमें किसी भी तरह का इतिहास क्रम का वह ध्यान नहीं करता है।

कविवृत्त संग्रह-

इसी रीतिकाल के समय में एक दूसरी प्रवृत्ति का आरंभ देखने को मिलता है, जिसे 'कविवृत्त' संग्रह कहा जाता है। इन कविवृत्त संग्रहकर्त्ताओं ने पूर्ववर्त्ती कवियों की रचनाओं के नाम, काव्य का उदाहरण आदि का संग्रह किया इनमें तिथिक्रम, पाठानुसंधान और प्रामाणिकता का अभाव लक्षित होता है। इसीलिए इन्हें मात्र संग्रह कहा गया, न कि कवि या कविता का इतिहास।

सन् 1655 ईसवी में '**कविमाला**' नाम का कविवृत्त संग्रह 'तुलसी' ने संकलित किया। इसमें 75 कवियों का संकलन है। जिनका रचनाकाल सन् 1443 ई0 से 1643 ई0 लगभग 200 सालों तक का है। अभी इस संग्रह की सामग्री अनुपलब्ध है। 'शिवसिंह सेंगर' तथा जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने भी अपने इतिहास में 6 कवियों का उल्लेख इस कविमाला के आधार पर किया है। कालिदास कवि ने सन् 1719 ईसवी में **'कालिदास हजारा'** नामक एक कविवृत्त संग्रह का संकलन किया। इस हजारा में 212 कवियों का वर्णन है जिनका रचनाकाल सन् 1423 ईसवी से सन् 1718 ईसवी तक का है। शिवसिंह सरोज के रचनाकार ने 'कालिदास हजारा' को अपनी मुख्य प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है तथा जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने भी अपने साहित्येतिहास के लिए इससे सामग्री लेने की बात पूर्वस्रोतों के रूप में स्वीकार की है। सन् 1735 ईसवी में संकलित **'अलंकार रत्नाकर'** का संकलन 'दलपति राय वंशीधर' ने, सन् 1743 ईसवी में संकलित **'सार संग्रह'** प्रवीण कवि ने किया है। इसका उपयोग 'मिश्र बंधुओं' ने अपने 'मिश्र बंधु विनोद' में किया है। सन् 1746 ईसवी **'सतकविगिरा विलास' में** बलदेव कवि ने 17 कवियों का रचनाओं सहित एक संकलन तैयार किया। परवर्ती इतिहासकारों ने इससे मदद ली है और अपने इतिहास ग्रंथ में इसका वर्णन भी किया है। सन् 1817 ईसवी में सुब्बसिंह नाम के कविवृत्त संकलनकर्ता ने **'विद्वनमोद तरंगिणी'** नामक संग्रह को तैयार किया। यह ऑययल रियासत के राजा थे। इसमें 44 कवियों की रचनाओं को लिया गया है। शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, मिश्रबंधु तीनों में इसका उल्लेख इन इतिहास ग्रंथों की भूमिका में दिया गया है।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कविवृत्त संग्रह जिनमें **'रागकल्पद्रुम'** 1843 ईसवी में सरोज के अनुसार इसमें 500 महात्माओं के पद संकलित हैं। मिश्रबंधु इस संग्रह का नाम

‘**रागसागरोद्भव संग्रह’** बताते हैं। लेकिन वह भी इसका रचनाकाल सन्1843 ईसवी ही स्वीकारे हैं। ग्रियर्सन **रागसागरोद्भव रागकल्पद्रुम** अपने इतिहास की भूमिका में लिखते हैं। इन तीन नामों के बावजूद यह तो स्पष्ट है कि इस संग्रह से भी तीनों इतिहास लेखकों ने सामग्री ली है और उसका उपयोग अपने इतिहास में किया है।

सरदार कवि का **‘श्रृंगार संग्रह’** सन् 1848 ईसवी, ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी का **‘रसचन्द्रोदय’** 1893 ईसवी इस संग्रह में 242 कवियों की रचनाओं को संकलित किया गया है। इसका भी उपयोग इतिहासकारों ने किया है। यह कविवृत्त संग्रह का कार्य भारतेन्दु हरिश्चंद्र भी **‘सुंदरी तिलक’** नाम से करते हैं इसमें 69 कवियों की कविताएँ संकलित की गई हैं।

शिवसिंह सेंगर ने सरोज की भूमिका में पंडित महेशदत्त के संग्रह **‘भाषा काव्य संग्रह’** का साधारण उल्लेख मात्र किया है। परंतु नवीन संस्करण में इस ग्रंथ को सरोज का मुख्य आधार ग्रंथ कहा है। इसमें 51 कवियों की कविताएँ और उनका परिचय संकलित है इसमें लिखा है-

“अवधदेशीय पौरजानपदीय शालाओं के नागरी विद्यार्थियों के उपकारार्थ धनावलीपुरस्थ सरयूपारीण शूकलोपनामक स्वर्गवासी श्री पंडित महेशदत्त से अनेक कविराजों के ग्रंथारणव से मंथन सरल संचय कराया”[1]

शिवसिंह सेंगर ने ग्रंथ रचना की प्रणाली निश्चित रूप से महेशदत्त शुक्ल से ली है। भाषा काव्य संग्रह के मुख्य पृष्ठ पर जो कुछ प्रकाशित है उससे कहीं यह संकेत नहीं मिलता कि महेशदत्त शुक्ल के मस्तिष्क में कहीं इतिहास लिखने की रूपरेखा प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप से विद्यमान नहीं थी। वह केवल भाषा काव्य संग्रह कर रहे थे परंतु अनजाने ही उनके द्वारा एक ऐसा कार्य सम्पन्न हो गया जिसका पूरा- पूरा उपयोग आगे के साहित्य इतिहास लेखकों ने किया।

‘भाषा काव्यसंग्रह’ में कवियों का उल्लेख छंदों और रागों में किया गया है ग्रंथ रचना के प्रेरणास्रोत का उल्लेख करने के पश्चात ग्रंथ समाप्ति का वर्णन हरिगीतिका छंद में किया गया है। त्रिलोकीनारायण दीक्षित शिवसिंह सरोज की भूमिका में लिखते हैं-

[1] पारीक,डॉ.रूपचन्द, हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन-पृष्ठ-56 से उद्धृत

"यदि भाषा काव्य संग्रह का आदर्श सरोजकार ने समझा नहीं होता तो उसे सरोज रचना में बड़ी दिक्कत होती, शिवसिंह सेंगर प्रथम इतिहास लेखक और सरोज पहला इतिहास अथवा कवित्त संग्रह है"[1]

लेकिन रूपचन्द पारीक अपने शोध में इस बात पर ज़ोर देते हैं कि **"यदि सेंगर के सरोज सर्वेक्षण को प्रथम इतिहास के रूप में स्वीकार्यता मिलती है तो वह निराधार है क्योंकि उसका असली हकदार तो महेशदत्त शुक्ल का भाषाकाव्य संग्रह है"**[2]

इनके अलावा **'कवित्त रत्नाकर'** 1873 में मातादीन मिश्र ने 42 कवियों की रचनाओं का संचयन कर सम्पादन किया। जार्ज ग्रियर्सन इस कविवृत्त संग्रह का रचनाकाल सन् 1876 ईसवी स्वीकार करते हैं। सन् 1887 ईसवी में नकछेदी तिवारी ने 50 कवियों का एक संकलन **'विचित्रोपदेश'** नाम से किया इसमें नीति कविताओं का हास्यरस पूर्ण उदाहरण सहित संग्रह किया गया है।

इस प्रकार देखा जाए तो पूर्वपीठिका में कवि परिचय और कविता परिचय था। इतिहास का तत्त्व वहाँ नहीं मिलता।

[1] संपादक त्रिलोकीनारायण दीक्षित,शिवसिंह सरोज,पृष्ठ-23

[2] पारीक, डॉ. रूपचन्द,हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन-पृष्ठ-56 से उद्धृत

1.3-गार्सा दा तासी और इतिहास लेखन-

साहित्य के इतिहास लेखन का आरंभ कविवृत्त संग्रह के रूप में हुआ। आगे भी यह इसी रूप में आधुनिक काल तक देखने को मिलता है हिंदी के साहित्येतिहास पुस्तक रूप में न लिखे जाकर आधुनिक काल की शुरुआत में निबंधों में भाषा और साहित्य की विकास परंपराओं आदि को लिखा जाने लगा था, जिनमें आलोचनात्मक दृष्टिकोण के साथ-साथ मूल्यांकन और लेखक अपना मत भी व्यक्त करने लगे थे। स्वयं आचार्य शुक्ल का इतिहास भी इस रूप में नहीं लिखा जा रहा था बल्कि, वह *हिंदी शब्द सागर की भूमिका* का परिष्कृत रूप है, जो इतिहास के रूप में अब हमारे सामने है।

हिंदी साहित्य का पुस्तकाकार इतिहास सर्वप्रथम 'गार्सा-दा-तासी' द्वारा लिखा गया था यह मत सर्वमान्य और सर्वविदित है। इतिहास फ्रेंच भाषा में लिखते हुए तासी ने इसका शीर्षक **'इस्तवार द ल लितरेत्यूर एन्दुई ए एँदुस्तानी'** रखा था, जिसका प्रकाशन ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की 'ओरिएंटल ट्रांसलेशन कमिटी' की ओर से किया गया था। इतिहास का प्रथम भाग 1839 ईसवी तथा दूसरा भाग 1870-71 ईसवी में प्रकाशित हुआ था,इस ग्रंथ के हिंदी अंश का अनुवाद सन् 1953 ईसवी में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया था।

सामान्य परिचय- तासी का जन्म फ्रांस के प्रसिद्ध बंदरगाह मारलेस में सन् 1794 ईसवी में हुआ था। इनकी सामान्य शिक्षा-दीक्षा पेरिस में हुई। यहीं पर तासी ने अरबी और तुर्की भाषाओं का अध्ययन प्रारंभ किया। प्राच्यविद्या में इनकी विशेष रुचि के कारण इन्होंने उर्दू को भी पढ़ना आरंभ कर दिया और पेरिस के प्राच्य महाविद्यालय में हिन्दुस्तानी ज़बान के एक प्रोफेसर के रूप में तासी की नियुक्ति हुई। तासी बहुत सारी संस्थाएँ जिनमें प्रमुख रूप से – 'फ्रांसीसी इंस्टिट्यूट',पेरिस, लंदन, कलकत्ता, मद्रास, बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी, सेंट पीटरसबर्ग की इंपीरियल अकेडमी ऑफ साइन्सेज, रॉयल अकादमी म्यूनिक, लिस्बन, टयूरिन रॉयल सोसाइटी ऑफ कोपेनहेगन, नार्वे, उरुसल के साथ- साथ अमेरिका के ओरिएंटल, लाहौर के अंजुमन तथा अलीगढ़ इंस्टिट्यूट के सदस्य थे। तासी को **'नाइट ऑफ द लीजियन ऑफ ऑनर' (फ्रांस)** और **'स्टार ऑफ द साउथ पोल'**आदि उपाधियाँ प्रदान की गयीं थीं।

हिंदी साहित्य में तासी प्रथम पुस्तकाकार इतिहास लेखक के रूप में तो उर्दू साहित्य उन्हें उर्दू में किए गए महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए याद करता है। उन्होनें उर्दू साहित्य के कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का फ्रेंच में अनुवाद किया और उर्दू साहित्य से संबंधित कई पुस्तकों का लेखन तथा

सम्पादन किया। तासी के लगभग 25 से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हुए थे जिनमें से तीन कृतियाँ विशेष महत्त्व की हैं **“.. एक तो कुल्लियात वली का सम्पादन, दूसरे हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास और तीसरे वार्षिक व्याख्यान कुल्लियात वली की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न स्थानों से प्राप्त करके एवं एक दूसरे से तुलना करके तासी ने ठीक-ठीक पाठ का निर्धारण भी किया है”[1]।**

तासी का एक नियम था वह प्रत्येक वर्ष के अंत में एक व्याख्यान दिया करते थे। **“ये व्याख्यान 3 दिसंबर 1850 से प्रारंभ हुए थे और 6 दिसंबर 1869 तक (1858 को छोड़कर) बराबर दिए जाते रहे। इनमें 19 वर्ष के उर्दू साहित्य की पूरी झलक मिलती है। हिंदी के संबंध में भी इन व्याख्यानों में बराबर उल्लेख होते गए हैं। अतः इनका महत्त्व हिंदी की दृष्टि से भी है”[2]।** जिसमें उस वर्ष के हिंदी-उर्दू साहित्य का विवरण प्रस्तुत करते हुए उस वर्ष कौन सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं? कौन-कौन से नए समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ प्रारंभ हुईं? साहित्यिक क्षेत्र में कौन-कौन से नए लेखक प्रविष्ट हुए? इन सबका विवरण भी वह देते थे। इस व्याख्यान में सूचनाएँ, जाँच-पड़ताल ग्रंथ और पत्र-पत्रिकाओं की वास्तविकता पर वह विशेष रूप से ध्यान देते थे। इनमें मूल्यांकन के साथ-साथ कभी-कभी राजनैतिक-आर्थिक समस्याओं पर किसी न किसी रूप में बात की जाती थी। उक्तलिखित विवरण में इतना तो स्पष्ट हो गया कि तासी को उर्दू भाषा और साहित्य से लगाव था।

भाषा विषयक दृष्टिकोण- तासी, हिंदुई का अभिप्राय ‘हिंदुओं में बोले जाने वाली हिंदी’ से बताते हैं और मुसलमानों में बोली जाने वाली बोली का नाम ‘हिन्दुस्तानी हिंदी’ देते हैं, भाषा के पूर्व रूप पर विचार करते हुए तासी, हिन्दुस्तानी का आधार अरबी और फारसी बताते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो भाषा का यह विभाजन क्षेत्र आधारित नहीं है बल्कि धर्म के आधार पर किया गया ज़्यादा दिखाई देता है। वह उत्तर भारत की हिन्दुस्तानी को ‘उर्दू’ और दक्षिण भारत की हिन्दुस्तानी को ‘दक्खिनी’ (जो दक्षिण भारत के मुसलमान बोलते हैं) की संज्ञा देते हैं। तासी के इतिहास में उर्दू के कवियों को ज़्यादा स्थान दिया गया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वह पेरिस में उर्दू के ही अध्यापक थे और उर्दू-फारसी साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने के क्रम में उनका इस भाषा और साहित्य से परिचय ज़्यादा

[1] गुप्त, किशोरीलाल(1978), हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास,विभू प्रकाशन पृष्ठ-19

[2] गुप्त,किशोरीलाल (1978), हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास,विभू प्रकाशन पृष्ठ-20

था। इसीलिए 3000 लेखकों के विवरण में से 2200 लेखक मुसलमान हैं और 800 हिन्दू हैं। इनमें से भी मात्र 250 लेखक ही हैं जिन्होंने हिंदुई (हिंदी) में लिखा है।

हिंदी के संबंध में वह लिखते हैं- **"हिंदी जिसे वे संकीर्ण भावना से प्रेरित हो पुनर्जीवित करना चाहते हैं, अब साहित्यिक दृष्टि से लिखी ही नहीं जाती। जो हर एक गाँव में वस्तुतः प्रदेश के लोगों की तरह बदल जाती है। जबकि उर्दू की सुंदर काव्यात्मक रचनाओं द्वारा रूप स्थिर हो चुका है"[1]।**

हिंदी के संदर्भ में इस तरह की भ्रांति तासी में दिखाई देती है कि वह हिंदी भाषा और साहित्य को भरपूर नज़रंदाज़ करने की मुद्रा में यहाँ इस कथन में दिखाई दे रहे हैं। तासी को एक तरफ उर्दू-प्रेम रोक रहा था तो दूसरी ओर ईसाई नैतिकता। इस नैतिकता का सेंसर तासी में इतिहास लेखन और सामग्री चयन के समय काम कर रहा था। इसीलिए साहित्य के एक बहुत बड़े अंश को छोड़ देने की बात को स्वीकार किया है। उन्होंने इसका कारण आचार-विचारों में अत्यधिक विरुद्ध या नैतिक और अश्लील साहित्य माना है। तासी यहाँ चयन के बीच *'ईसाई नैतिकता'* का एक पर्दा लगाते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि तासी जब तुलसीदास की रामायण के कांड का अनुवाद करते हैं लेकिन उन्हें उस समय अंग्रेजी टीका उपलब्ध नहीं हुई, तो उन्होंने उसे (अवधी भाषा) **"मुश्किल से समझ आने वाली हिंदुई लिख दिया"[2]।**

वह तासी जो हिंदी को नकार रहे हैं, उसे मरी हुई भाषा कह रहे हैं। वह कभी हिंदुस्तान आये नहीं थे बल्कि उनको यह सारी सामग्री पेरिस में ही उपलब्ध हुई थी। इसीलिए भाषा और साहित्य के संबंध में इस तरह की स्थापनाएँ लगातार उनके द्वारा दी गयी हैं।

तासी अपने ग्रंथ के समर्पण में लिखते हैं-

"ग्रेट ब्रिटेन की साम्राज्ञी को

देवि यह नितांत स्वाभाविक है कि मैं साम्राज्ञी से एक ऐसा ग्रंथ समर्पित करने का सम्मान प्राप्त करने की प्रार्थना करूँ, जिसका संबंध भारतवर्ष आपके राजदंड के अंतर्गत आये हुए हैं। इस विस्तृत और सुंदर देश, और जो इतना खुशहाल कभी नहीं था, जितना कि वह इंग्लैंड के आश्रित होने पर है, के साहित्य के एक भाग से है, जिस

[1]गुप्त,किशोरीलाल गुप्त (1978), हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास,विभू प्रकाशन पृष्ठ- 78

[2] गुप्त, किशोरीलाल (1978), हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास,विभू प्रकाशन पृष्ठ-47

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत न तो लूट का भय है और न देशी सरकारों का अत्याचार, उसका उनकी रचनाओं में यशगान हुआ है वास्तव में विक्टोरिया रानी में उन्होनें रजिया का तरुणी और उसके अलभ्य गुण फिर पाए हैं और केवल यही बात उनका उस देश के साथ संबंध और भी दृढ़ बना सकती है जिसके उनका अधीन होना ईश्वर की इच्छा थी।

-अत्यंत तुच्छ और अत्यंत आज्ञाकारी दास-गार्सा-दा तासी। "[1]

तासी की भारत की जनता और उसकी शासन के बारे में यह राय बिना भारत को देखे बनी हुई थी। वह अंग्रेज़ीराज का जो गुणगान, खुशहाली और भय-भूख से मुक्त जनता की बात कर रहे हैं, दरअसल वह एक पश्चिम के सामान्य मानस की धारणा है। जो यह मानता था कि भारत में अंग्रेजों का राज ईश्वर की इच्छा से है। तासी ने जो भूमिका लिखी है उसका अनुवाद भी लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने किया है जिसकी मदद यहाँ शोध में ली गई है।

तासी की पुस्तक में भाषा विषयक बहस, विवरण और तमाम जातियों के आगमन और उससे भाषा की निर्मिति, नाम तथा उसके साथ-साथ विवरण दिए गए हैं ताकि समझने में आसानी हो। साहित्य का धार्मिक रूप से विश्लेषण और उनके ग्रंथ में हिंदी साहित्य का अखिल भारतीय स्वरूप लक्षित होता है। इसमें कई कवि ऐसे भी जोड़े गए हैं जो आज काल्पनिक लगते हैं तथा बहुत सा विवरण हमें साहित्य के इतर भी देखने को मिलता है। जैसे प्रकाशक आदि का विवरण भी तासी ने अपने इतिहास में दिया हुआ है।

भाषा- "दिल्ली में पठान वंश की स्थापना के समय हिंदुओं और ईसाइयों के पारस्परिक संबंधों के फलस्वरूप, मुसलमानों द्वारा विजित नगरों में विजयी और विजित की भाषाओं का एक प्रकार से मिश्रण हुआ"[2]।

तासी, पठान वंश की स्थापना तक तो सांस्कृतिक आदान-प्रदान से भाषाई विकास सही रूप में वर्णित करते हैं लेकिन उसमें ईसाईयत को सम्मिलित करने का मोह नहीं रोक पाते हैं। वह हिन्दुस्तानी (उर्दू/दक्खिनी) को भारत की सबसे अधिक अभिव्यंजना शक्ति सम्पन्न और सबसे अधिक शिष्ट प्रचलित भाषा स्वीकार करते हैं। सही मायनों में तासी यहाँ उर्दू के आगे

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953) हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ- 33

[2] अनुवाद- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953) गार्सा दा तासी,हिंदुई साहित्य का इतिहास,पृष्ठ-34

हिंदुस्तान में किसी और की स्वीकार्यता नहीं स्वीकार करते हैं। ब्रज, अवधी, बुन्देली, बघेली तथा राजस्थानी जैसी साहित्य से समृद्ध भाषाओं को भी तासी नज़रंदाज़ करते हैं।

बोलियों के साहित्य पर विचार करते हुए तासी ने कहा- इनका साहित्य विशेष रोचक तथा काव्यगत विशेषताओं के साथ-साथ अपने में ऐतिहासिक तथा दर्शनिकता को भी समाहित किए हुए है। मध्ययुग में प्रचलित हिन्दुस्तानी के महत्त्व को निर्धारित करते हुए इस भाषा को तासी '**रोमांस की भाषा**' की संज्ञा देते हैं। एक तरफ बोलियों को साहित्यिक तथा दर्शनिकता से परिपूर्ण बताया गया है तो दूसरी तरफ उर्दू को रोमांस की भाषा। लेकिन यहाँ एक अन्य प्रकार की भाषा यूरोपीय तर्ज पर कल्पना करते हैं – 'यूरोप के ईसाई सुधारों की भाषा की तरह भारत में हिन्दू और मुसलमान संप्रदाय के गुरुओं ने अपने उपदेशों, सिद्धांतों, शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के लिए सामान्यतः **हिन्दुस्तानी** का प्रयोग किया जिसे यह '**जीवित भाषा**' कहते हैं। इनकी रचनाएँ, प्रार्थनाएँ और अनुयायी हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग करते थे। यह भाषा काव्यात्मक रूप से न तो किसी दूसरी भाषा से महत्त्वहीन है। बल्कि इसमें एक अपनत्वपूर्ण आकर्षण है। जिसे इन्होनें फारसी कहावत के उदाहरण के साथ **'रंग-ओ-बू'** कहा है।

साहित्य और साहित्य रूप- तासी, भारत के साहित्य को एक पूर्वपरंपरा से जोड़ते हैं। वह **"मुझे यह कहना पड़ता है कि हिन्दुस्तानी साहित्य का बहुत बड़ा भाग फारसी, संस्कृत और अरबी से अनूदित है"[1]।** वह इसका महत्त्व स्वीकार करते हैं। क्योंकि इस साहित्य के कठिन मूल अंशों को सरल और जीवित भाषा में लाने में साधनसिद्ध मानते हैं। क्योंकि अधिकतर मूल रचनाएँ समय प्रवाह में गुम हों गईं। लेकिन यह जीवित भाषा में रहने के कारण बची रहीं। नहीं तो साहित्य का जो विपुल भंडार हमारे पास है, वह शायद ही होता। इस साहित्य का अपने-आप में महत्त्व है। वह फारसी साहित्य की अतिशयोक्तियों तथा संस्कृत की उच्च कोटि की सरलता के बीच का मानते हैं।

तासी लगभग 65 कविता रूपों का विवरण अपने ग्रंथ में देते हैं। वह लेखकों को धर्म और भाषा के नाम पर अलगाते हैं और लिखते है – **"किसी मुसलमान ने हिंदुई या हिंदी बोली में नहीं लिखा"[2]।**

[1]अनुवाद- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953) गार्सा दा तासी,हिंदुई साहित्य का इतिहास,पृष्ठ-38

[2] अनुवाद- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953) गार्सा दा तासी,हिंदुई साहित्य का इतिहास,पृष्ठ-

लेकिन अमीर खुसरो, कबीर (प्रमाणित नहीं धर्म), जायसी, गुलाम नबी, रसलीन आदि का वर्णन करते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो तासी अपनी ही स्थापना के उलट दिखते नज़र आ रहे हैं, क्योंकि मुसलमानों ने हिंदी में रचना की थी और हिन्दू भी उर्दू और फारसी में रचनाएँ कर रहे थे। कवि विवरण देते समय तासी पाद टिप्पणियों में नाम का अर्थ भी समझाते हैं और कहीं-कहीं तो नाम और उपनाम का अर्थ बताते हुए उसका विवरण भी प्रस्तुत कर देते हैं। जातियों और उनका संभावित आशय भी तासी के इतिहास लेखन का हिस्सा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक '**आदिकाल**' में अध्ययन करने वालों को सलाह देते हैं कि इस काल से संबंधित कोई भी सामग्री किसी भी रूप में मिले वह महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वही एक माध्यम है जिससे भाषा के विकास के सोपान को समझा जा सकता है, इस अवधारणा का मूर्त रूप तासी के इस ग्रंथ में किया गया है। वह जहाँ जितनी सामग्री मिली अपने विवेक से जुटाते गये और 3000 से ज़्यादा हिन्दू-उर्दू कवियों, रचनाकारों, लेखकों का एक विशाल संग्रह तैयार कर दिया। इसमें संस्कृत, बांग्ला, मराठी (जनार्दन कृत कवि चरित्र से कवि परिचय), गुजराती, पंजाबी के फंदक उर्दू, हिंदी बोलियों के अलावा उन कवियों के नाम भी उल्लिखित किए हैं। जिन्हें **'इतिहासकार की काल्पनिक सृष्टि'** आगे के इतिहासकारों ने कहा है। वास्तव में होना तो यह चाहिए था कि इनमें से कुछ की गहन जाँच-पड़ताल के बाद ही इस तरह का निर्णय लिया जाना था। शायद इससे कुछ छूटे हुए सूत्र हमारे हाथ लगते और सोचने समझने तथा अध्ययन के और द्वार खुलते। ज्योतिष, धार्मिक खंडन-मंडन, अनुवाद, पत्र संपादक, पाठ्य पुस्तक लेखक, भूगोल, चिकित्सा, बालोपदेशक पुस्तकें, गणित और नीति के अलावा जो उनके समकाल में विविध विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं, इन सब पुस्तकों को अपने इतिहास में स्थान दिया। एक अनुमान के मुताबिक हिंदुई (हिंदी) के वर्णित कवियों में से इन कवियों ,लेखकों की संख्या लगभग 132 है बाकी 225 कवि बचे रहते हैं। जिनमें से लगभग 150 कवि शुद्ध साहित्यिक हैं जिन्हें परवर्ती इतिहासकारों ने अपने इतिहास ग्रंथों मे स्थान दिया है।

तासी और इतिहास क्रम- तासी प्रथम कवि से संबंधित जाँच-पड़ताल करते हैं और शंकराचार्य को प्रथम कवि मानते हैं – **"यह निश्चित करना कठिन है कि हिंदी के सबसे अधिक प्राचीन कवि किस समय हुए तो भी मैनें अमर शतक द्वारा ज्ञात संस्कृत कवि**

शंकराचार्य का उल्लेख किया है। जो नवीन शताब्दी में रहते थे और जिन्होनें कुछ हिंदी कविताएँ लिखीं प्रतीत होतीं हैं"[1]

तासी, प्रयास तो करते हैं लेकिन ठीक निर्णय तक नहीं पहुँचते हैं, वह जिस 'अमर शतक' का उदाहरण देते हैं वह भी शंकराचार्य की रचना नहीं है। शंकराचार्य भी हिंदी के कवि/लेखक नहीं बल्कि वह संस्कृत भाषा में अपनी रचनाएँ करते थे। अतः शंकराचार्य को हिंदी साहित्य में किसी भी तरह स्थान नहीं दिया जा सकता।

तासी, अकारादि के क्रम में कवियों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि अगर यह कालक्रमानुसार होता तो और अच्छा होता। लेकिन उन्हें तिथियों की उपलब्धता और उनकी प्रामाणिकता के अभाव में यह विचार त्याग देना पड़ा। वह पीपा को 12 वीं शताब्दी का कवि लिखते हैं और उसे चंद का समकालीन कवि बताते हैं जबकि यह रामानंद के शिष्य और कबीर के समकालीन थे। इसी तरह कई स्थानों पर तिथि संबंधी त्रुटियाँ हैं। इन्होंने हिंदी साहित्य के आदिकाल से संबंधित केवल तीन कवियों जगनिक, चंद और खुसरो का विवरण दिया है। तासी ने कई विवरण कर्नल टॉड के **'राजस्थान'** से लिए हैं।

अकारादि क्रम में निर्गुण काव्य धारा के कवि रमानंद और उनके शिष्यों का विवरण तासी ने दिया है। रामानंद यद्यपि 'सगुण राम' के उपासक थे पर वे 'हठयोगी' भी थे। यह कह उन्होनें रमानंद को रामानुजाचार्य के 'श्री संप्रदाय' में दीक्षित बताया। रामानंद में समाज सुधार भावना और समस्त संप्रदायों में सुधारक के तौर पर रामानंद की पहचान करने वाले प्रथमतया तासी हैं। कबीर, पीपा, रैदास, धन्ना तथा सेना के अलावा महाराष्ट्र के नामदेव और त्रिलोचन को स्थान दिया है जिनकी रचनाएँ सिखों के आदिग्रंथ में संकलित हैं। सिख संप्रदाय के गुरुओं की रचनाओं को तासी ने साहित्य में स्थान दिया है। इनके संक्षेप परिचय, संप्रदाय तथा रचनाओं का विवरण, तासी अकारादि क्रम में करते हैं। प्रेमाश्रयी शाखा के जायसी का विवरण और भक्तकवि तुलसीदास का वर्णन विस्तार से दिया गया है तथा अन्य रामोपासक कवियों में अग्रदास, नभादास और नारायणदास आदि कवियों का विवरण संक्षेप में मिलता है तो जायसी की भाषा, लोकप्रियता, रचनाकाल और अन्य विवरण 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' में लेखक देने का काम करता है।

---

[1] (अनुवाद) वार्ष्णेय,लक्ष्मी सागर,भूमिका,हिंदुई साहित्य का इतिहास,पाद टिप्पणी-पृष्ठ 160

तासी, नाभादास के भक्तमाल के विभिन्न संस्करणों की चर्चा करते है। कृष्ण काव्यधारा का विकास तासी, विष्णुदास से आरंभ हुआ मानते हैं। इनका समय वल्लभाचार्य से 80-90 वर्ष पूर्व था। कृष्ण कवि संप्रदाय के कवियों का विवरण भी अकारादि क्रम में ग्रंथ में दिया गया है।

रीतिकाल के कवियों में तासी ने श्रृंगारी, वीर, भक्त अन्य गद्य लेखक आदि का भी वर्णन अकारादि क्रम में संक्षेप में किया है। तासी '**अज्ञातकालीन**' नाम से कवियों की एक अलग से श्रेणी बनाते हैं जिनके समय का किसी तरह का स्रोत उन्हें नहीं मिल पाया था। इसमें कोई भी कवि समकालीन नहीं बल्कि भक्तिकालीन या रीतिकालीन कवि है। इनमें अंबरदास, मीरचंद, अमरावसिंह, आनंद सरस्वती, कृष्णनन्द, जानकीवल्लभ तथा दयाराम जैसे कवि और उनकी रचनाओं का वर्णन इसमें मिलता है, लेकिन इनका समय ग्रंथ में अज्ञात है।

आधुनिक काल के साहित्यकारों में से गद्य लेखक, कवि, पाठ्यपुस्तक लेखक अन्य कई तरह की श्रेणियाँ तासी के ग्रंथ में से बनाई जा सकती हैं। वह राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और लक्ष्मणसिंह का वर्णन करते हैं। इसके अलावा अन्य 14 कवियों कृष्णनन्द, व्यासदेव, रामनाथ प्रधान, गोपालचंद बनारसी, भारतेन्दु हरिश्चंद्र का भी संक्षेप मे सटिप्पण वर्णन करते है।

1.4- जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन और इतिहास लेखन-

कालक्रम के अनुसार कवि परिचय और एक ठोस आधार पर सुसंगत काल विभाजन किसी भी इतिहास की पहली शर्त होती है। **'द मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान'** में यह दोनों बातें मिलतीं हैं। 'कविवृत्त संग्रह' की परंपरा से निकाल कर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने साहित्येतिहास को काल विभाजन और कवि परिचय के साथ-साथ अपना आलोचनात्मक मत भी प्रस्तुत किया है। इसीलिए डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने जो अनुवाद किया है उस पुस्तक का नाम **'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास'** दिया है और कहा है कि यह हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहासकार हैं।

सामान्य परिचय-

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन आयरलैंड के डबलिन शहर में 7 जनवरी सन् 1851ईसवी को जन्में थे। इनके पिता जॉर्ज ग्रियर्सन स्वयं एक अच्छे कवि थे और माता एजाबोला रकस्टन थीं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा पहले 'सैन्ट बी' तथा फिर 'श्रुजबरी' स्कूल में सम्पन्न हुई। सन् 1863 ईसवी के बाद बेंजामिन हाल केनेडी की अध्यक्षता में शिक्षा ग्रहण करते रहे। उसके बाद दो वर्ष तक डब्ल्यू मॉस के पास आकर सन् 1868 में स्कूल से निकले। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन जैसा प्रतिभाशाली छात्र भी प्रारंभ में इस स्कूल के कड़े अनुशासन के कारण उच्चतर पाँचवीं श्रेणी से पास ना हो सका था। ट्रिनिटी कॉलेज में वह प्रोफेसर *रॉबर्ट एटकिन्सन* के संपर्क में आये। वे फ्रेंच, लैटिन, अंग्रेजी के साथ-साथ रूसी, चीनी, संस्कृत, तमिल तथा तेलुगु भाषा पर भी अधिकार रखते थे। वह भाषाविज्ञान, प्राच्यविद्या के साथ-साथ संस्कृत भाषा का भी अध्यापन करते थे। इन्हीं प्रोफेसर ने जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन में संस्कृत ज्ञान के प्रति अभिरुचि जगाई थी। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन इनके बारे में लिखते हैं- **"मुझे केवल वही ऐसे अंग्रेज मिले जिन्होंने पाणिनी की दुर्बोधता पर अधिकार कर लिया था। उन्हें भारतीय पंडितों की तरह 'अष्टाध्यायी' आद्योपांत कंठस्थ थी और वे संस्कृत व्याकरण के कठिनतम स्थलों को एकदम सटीक सूत्रों द्वारा बेझिझक स्पष्ट कर दिया करते थे"**[1]। एटकिंसन वनस्पति विज्ञान, खेल और संगीत में भी अभिरुचि रखते थे। इसी का परिणाम था कि जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन अपने लेखों में पेड़ -पौधों, फूल-पत्तियों आदि का वानस्पतिक नाम देना अपने लेखों में नहीं भूलते हैं और उनका वायलिन प्रेम भी इन्हीं का प्रभाव था। सन् 1871 ईसवी में भारतीय सिविल सेवा की परीक्षा में 28वें स्थान पर यह उत्तीर्ण हुए।

[1] गुप्ता,आशा (1948),डॉ ग्रियर्सन के साहित्येतिहास,आत्माराम एंड संस-पृष्ठ 126

1873ईस्वी में वह 12 वीं रैंक के साथ इस परीक्षा को दोबारा उत्तीर्ण करते हैं और एटकिन्सन से विदा के पूर्व भारतीय भाषाओं के अनुसंधान का कार्यभार इन्हें सौंपा गया। गुरु का यही आदेश भारत आकर **'भारतीय भाषा सर्वेक्षण'** का प्रेरणा विषय बना।

इस वर्णन का यहाँ आशय उस पृष्ठभूमि को समझना है जिसने जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन को भारतीय भाषा, साहित्य और इतिहास की दिशा में अनुसंधान के लिए प्रवृत्त किया। यह कहा जा सकता है कि यदि जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन को गुरु के रूप में प्रोफेसर एटकिंसन न मिले होते तो उनका यह कार्य करना असंभव सा था।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन 'बंगाल-बिहार प्रांत' के छोटे-बड़े नगरों के प्रशासन की बागडोर सम्हालते रहे। उनकी प्रथम नियुक्ति 28 अक्टूबर सन् 1873 को बंगाल प्रांत के 'जैसोर' जिले के सहायक मजिस्ट्रैट और कलेक्टर के पद पर कर दी गई। इसके बाद तिरहुत, सीतामढ़ी, पटना, भागलपुर, दिनजापुर, रंगपुर, बोगरा, मालदा, मुर्शिदाबाद में नियुक्त रहे। हावड़ा, दरभंगा, मधुबनी, शाहाबाद में भी वह रहे थे। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की अंतिम नियुक्ति 1895 में बिहार के कार्यकारी अफीम एजेंट के पद पर हुई और सन् 1898 ईसवी तक वह इस पद पर बने रहे।

इस समय एक रिपोर्ट अफीम को लेकर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने प्रस्तुत की थी और उसमें अफीम को भाँग के रूप में इसका वर्णन करते हुए उसमें अथर्ववेद और समस्त संस्कृत साहित्य परंपरा में उसका कैसे उपयोग किया गया है, यह बताया था। उस लेख में अमरकोश, राजनिघंटु, शारंगधर संहिता, धूर्त -समागम, रसरत्न समुच्चय आदि में भाँग का वर्णन किस प्रकार हुआ और हिन्दू मायथोलोजी में शिव के साथ कथाओं में किस प्रकार इसका वर्णन किया गया है। उन्होंने निष्कर्ष के रूप में अपनी रिपोर्ट में लिखा कि यह भारतीय साधु-संतों की एक सामान्य दिनचर्या का अंग है और कम हानिकर है। इनकी इसी रिपोर्ट के आधार पर सन् 1895 में भारत सरकार ने घोषित किया कि भाँग हानिकारक पदार्थ नहीं है। इनकी साहित्यिक अभिरुचि विभागीय रिपोर्टों में भी झलकती है। इसके बाद इनको भारतीय 'भाषा सर्वेक्षण' के सुपरिटेंडेंट के पद पर नियुक्त किया गया। जिसका कार्य इन्होंने शिमला रहकर पूरा किया और अवकाश प्राप्ति के बाद केम्बलै (इंग्लैंड) में रहे।

साहित्यिक अवदान- भारत पहुँचते ही पहला काम जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने साहित्यिक- पत्रिकाओं और साहित्यिक संस्थाओं से संपर्क स्थापित कर किया। इन पत्र-पत्रिकाओं और संस्थाओं के माध्यम से लगभग 58 वर्षों तक अंग्रेजी भाषा में 400 से अधिक

छोटे-बड़े लेखों द्वारा भारतीय भाषाओं एवं साहित्य की सेवा की। उनमें से कई का ग्रंथाकार अथवा पत्रिकाओं के विशेषांक के रूप में स्वतंत्र प्रकाशन भी हुआ है। इन लेखों में असमिया भाषा से कश्मीरी तक सभी भाषाओं का वैविध्य मिलता है। इनका साहित्यिक एवं व्याकरणिक अध्ययन जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन द्वारा किया गया है।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने 27 सितंबर सन् 1886 को वियना की **'अंतर्राष्ट्रीय ऑरिएन्टलिस्ट कॉंग्रेस'** के सातवें अधिवेशन में **'द मिडीवल वर्नाकुलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान विद स्पेशल रेफरेंस टू तुलसी'** शीर्षक का एक बृहद प्रबंध पढ़ा। इसमें मारवाड़ी, बिहारी और हिंदी भाषा एवं उपभाषाओं के 952 कवियों के जन्म, रचना आदि का संक्षिप्त विवरण दिया गया था। जो कि जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के सतत परिश्रम का परिणाम था। इसके बारे में इन्होंने लिखा – **"13 वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक का क्रमबद्ध इतिहास कदाचित स्पष्ट कर सके कि विद्यार्थियों के लिए साहित्य का समृद्ध कोश प्रतीक्षा कर रहा है। जिसमें वैविध्य की दृष्टि से संस्कृत ग्रंथों पर टीकाएँ, इतिहास, महाकाव्य, वृहद काव्य-संग्रह, औषधि, गणित और व्याकरण आदि सब प्रकार के विषय उपलब्ध हैं, ये ग्रंथ वर्नाकुलर में हैं जिनके लेखक, अपढ़ जनता तक अपनी वाणी पहुँचाना चाहते थे। इस प्रकार उन लेखकों ने प्राकृत काल से लेकर आधुनिक शताब्दी तक भारतीय भाषाओं के विकास की झाँकी प्रस्तुत की है। यूरोपीय विज्ञान अग्नि कुंड के लिए कितनी धातु राशि प्रतीक्षा कर रही"[1]**

हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास-

इस ग्रंथ के निर्माण में तासी और शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से मदद ली है। एक अध्ययन के अनुसार 952 में से 886 कवियों का विवरण 'सरोज' का सीधा अनुवाद लगता है। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में स्पष्टता से कहा है **" मैं आधुनिक भाषा साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। अत: मैं संस्कृत में ग्रंथ रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ। भले ही प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही है पर आधुनिक भाषा के अंतर्गत नहीं आती है। मैं न तो अरबी-फारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूँ न तो विदेश से लाई गई साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही"[2]।** गार्सा-दा -तासी जहाँ

[1] गुप्ता, आशा (1948), डॉ ग्रियर्सन के साहित्येतिहास, आत्माराम एंड संस पृष्ठ-149

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957), हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास , हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-

‘**शंकराचार्य को हिंदी का प्रथम कवि’** मानने की भूल करते हैं और संस्कृत, बांग्ला, मराठी, अपभ्रंश, पालि आदि के साथ-साथ उर्दू और फारसी के बहुतायत रचनाकारों को स्थान देते हैं लेकिन जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन इस क्षेत्र में स्पष्ट थे। उन्होंने इन सब भाषाओं को आधुनिक भारतीय भाषाओं के दायरे से बाहर रखा और उर्दू को अलगाने का कारण तासी द्वारा पूर्व में विवरण प्रस्तुत कर दिया जाना बताया। अपने इतिहास में वह तासी की तरह तुकाराम, नामदेव(मराठी), बंगाल के कवियों का विवेचन न कर, हिंदी के भूगोल के बारे में लिखते हुए एक भाषा क्षेत्र निर्धारित करते हैं-**“यहाँ मैं और कह देना चाहता हूँ कि हिंदुस्तान से मेरा अभिप्राय राजपूताना और गंगा-जमुना की घाटी से है। इस शब्द के भीतर मैं पंजाब और बंगाल के निचले हिस्से को नहीं सम्मिलित कर रहा हूँ”[1]।** भाषा और हिंदी भाषा के भूगोल को लेकर ग्रियर्सन वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हैं। वह प्राच्यविद्या के उन विद्यार्थियों को जो संस्कृत भाषा में अध्ययन और खोजें कर रहे थे उन्हें हिंदी की बोलियों के साहित्य, व्याकरण और शास्त्र का अध्ययन करने के लिए उद्वेलित कर रहे थे।

काल विभाजन और नामकरण- ग्रियर्सन ने सम्पूर्ण सामग्री को कालक्रमानुसार रखने का प्रयत्न किया है। जिन कवियों/लेखकों की तिथि ज्ञात थी उनको प्रामाणिकता की कसौटी पर कसकर उस काल में वर्णन कर दिया। इसके बाद कई कवि ऐसे थे, जिनका रचना-विवरण और नाम तो मिल रहा था लेकिन उनकी रचना या रचनाकाल को निर्धारित करने में कठिनाई आ रही थी, उन कवियों को विवरण/लेखकों ग्रियर्सन ने अपने इतिहास के अंतिम अध्याय में वर्णानुक्रम के अनुसार दे दिया है। अगर कुछ त्रुटियाँ फिर भी रह गईं तो उन्हें अशुद्धि निवारण परिशिष्ट में एक विवरण के साथ रख दिया गया है। ग्रियर्सन अपने इतिहास को 12 कालों में विभाजित करते हैं-

1. चारण काल (700-1400 ईसवी)
2. पंद्रहवीं शती का धार्मिक पुनरुत्थान
3. मलिक मुहम्मद का प्रेमकाव्य
4. ब्रज का कृष्ण संप्रदाय(1500-1600 ईसवी)
5. मुग़ल दरबार
6. तुलसीदास

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957), हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ- 41

7. रीतिकाव्य(1580-1692 ईसवी)

8. तुलसीदास के अन्य परवर्ती(1600-1700 ईसवी)

क. धार्मिक अन्य कवि

ख.अन्य कवि

9. अठारहवीं शताब्दी(1700-1800 ईसवी)

क.धार्मिक कवि

ख. अन्य कवि

10. कंपनी के शासन में हिंदुस्तान(1800-1857)

क. बुंदेलखंड

ख. बनारस

ग. अवध

घ. अन्य

11. विक्टोरिया की छत्र-छाया में हिंदुस्तान (1857-1887)

12. विविध अज्ञात कवि

ग्रियर्सन के इस नामकरण में कई ख़ामियाँ हैं। 'चारणकाल' नाम देते हुए वह सिर्फ एक प्रकार की काव्य परंपरा को ध्यान में रखते हैं, जो चारणों के द्वारा लिखे गए 'रासो ग्रंथ' थे वह इस इतिहास की एक लंबी अवधि 700 साल का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। इस काल में जबकि कई तरह का साहित्य रचा गया। यह शीर्षक उस समस्त काव्य का प्रतिनिधित्त्व नहीं करता है। दूसरा और नौवाँ अध्याय समय सूचक है और चूँकि अन्य सभी अध्यायों का नामकरण इस आधार पर नहीं किया गया है। इसीलिए यह भी एक कमी इस नामकरण में लक्षित होती है। पद्रहवीं शती के 'धार्मिक साहित्य' के बाद उस काल को तुलसी और ब्रज के कृष्ण कवियों तक एक ही विस्तार दिया जा सकता था। चारण काव्य की ही तरह रीतिकाव्य का नामकरण किया गया है। यहाँ दोनों अध्यायों में नामकरण का आधार प्रवृत्ति ही है। लेकिन मुगल दरबार, कंपनी के शासन में हिंदुस्तान, विक्टोरिया की छत्र-छाया में हिंदुस्तान इस नामकरण में शासक और शासन की उपस्थिति को केंद्र में रखकर उस समय के काव्य का वर्णन किया गया है। जब ग्रियर्सन कंपनी के अंदर के हिंदुस्तान के अन्य विभाजन करते हैं तो क्षेत्र के आधार पर बुंदेलखंड, अवध, बनारस आदि नामकरण करते हैं। 'मलिक

मुहम्मद जायसी का प्रेमकाव्य' और 'तुलसीदास' अध्यायों का नामकरण काव्य प्रवृत्ति, क्षेत्र विशेष, समयबोधक ना होकर उस समय में प्रसिद्ध कवि के नाम पर किया गया है। इस प्रकार समग्रता में देखे तो डॉ ग्रियर्सन के इतिहास में नामकरण के लिए कई आधारों का उपयोग किया गया है। वह प्रवृत्ति केंद्रित, समय केंद्रित, कवि केंद्रित, शासक केंद्रित और स्थान केंद्रित नामकरण है और इन्हीं पाँच प्रमुख आधारों पर इतिहास लिखा गया है।

लेकिन इस प्रकार की कमी तो बाद के इतिहासकारों में भी देखी जाती है। फिर भी ग्रियर्सन अगर किसी एक तर्कसंगत आधार पर नामकरण करते तो इस तरह इतने आधारों का सहारा न लेना पड़ता। ग्रियर्सन, तासी और सेंगर से इस मामले में आगे हैं कि उन्होंने हिंदी साहित्य की इतिहास लेखन की परंपरा को 'कविवृत्त संग्रह' से बाहर कर वाद-विवाद के साथ आलोचना करते हुए एक ऐतिहासिक रूप देने का प्रथम प्रयास किया।

ग्रियर्सन का इतिहास कवि-महत्त्व स्थापित करते हुए जायसी और तुलसीदास के नाम पर एक पूरे काल का निर्धारण कर उनका महत्त्व साहित्येतिहास परंपरा में स्थापित करते हैं। बाद में रामचन्द्र शुक्ल का अपने इतिहास ग्रंथ में तुलसी और जायसी का विस्तृत विवेचन 'त्रिवेणी' नाम से अलग पुस्तक और तुलसी, जायसी की ग्रंथावली का सम्पादन इस तरफ इशारा कर रहा है कि शुक्ल जी पर ग्रियर्सन का काफी प्रभाव था। नामकरण के जो आधार इन्होनें अपनाए वह परवर्ती इतिहासकारों ने भी अपनाए हैं जैसे तुलसीदास के बाद तुलसीदास के परवर्ती कवि नाम से नामकरण किया गया है तो आगे इसका रूप शुक्ल युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर, शुक्लोत्तर युग नाम दिया गया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि बाद के इतिहासकारों को इस तरह के नामकरण की प्रेरणा ग्रियर्सन से मिली हुई लगती है। कहा जा सकता है कि उन्होंने विभाजन और नामकरण के जो आधार अपने इतिहास ग्रंथ में दिए उनका उपयोग अलग-अलग तर्कों के साथ आगे के इतिहासकारों ने किया है।

ग्रियर्सन के इतिहास में कवियों के विवरण संक्षिप्त रूप में दिए गए हैं लेकिन कई कवियों का विस्तार से वर्णन किया गया है जिनमें चंदबरदाई, जगनिक, शारंगधर, कबीरदास, विद्यापति, बीरबल, तुलसीदास, जायसी, वल्लभाचार्य, नाभादास, बिहारीलाल, सरदार, हरिश्चंद्र, लल्लूजी लाल, कृष्णनन्द, व्यासदेव, राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद इन 18 कवियों को ग्रियर्सन बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान अपने इतिहास में देते हैं तथा उनका वर्णन भी विस्तार से करते हैं। लेकिन बीरबल, सरदार कवि, कृष्णानन्द व्यास आदि को परवर्ती साहित्य इतिहास लेखकों ने खास महत्त्व नहीं दिया है, बस नाम देकर ही छोड़ दिया है।

ग्रियर्सन, कवि विवरण देते समय कवि के साथ क्रम संख्या, कवि का नाम, दो भाषा (देवनागरी और रोमन लिपि) में और इस तरह नाम का अनुवाद देने की जो पद्धति है वह ग्रियर्सन ने तासी और कर्नल टॉड से अपनाई है। कवि के नाम के साथ पिता का नाम, निवास स्थान, आदि का विवरण उसी प्रकार है जैसा शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंह सरोज में दिया हुआ है। कहीं-कहीं जहाँ ज्ञात था इन्होंने इतिहास में आश्रयदाता राजा और गुरु का नाम भी दिया हुआ है। प्रत्येक अध्याय के दो हिस्से अप्रत्यक्ष रूप में हमें मिलते हैं जिसमें पहला हिस्सा प्रमुख कवि के नाम से तथा दूसरा हिस्सा गौण कवि के नाम से दिया गया है।

हस्तलिखित पोथियों की उपलब्धता-

ग्रियर्सन अपनी पूर्व परंपरा में रहे तासी से कई मायनों में अलग थे। एक तो तासी भारत नहीं आये थे वहीं दूसरी ओर उनका उर्दू मोह, हिंदी के प्रति पूर्वग्रह, उर्दू का अध्ययन ज़्यादा होने के करण उपजा था ग्रियर्सन बिहार, बंगाल, शिमला और संयुक्त प्रांत में लंबे समय तक रहे। यहाँ के लोगों की समस्याओं से एक प्रशासनिक अधिकारी के तौर पर अवगत होते रहे। वह तमाम बोलियों के लोगों से स्वयं मिलते थे और बड़े ग़ौर से सुना करते थे,जबकि तासी एक प्रोफ़ेसर की तरह काम कर रहे थे। वह उन तक पहुँच और साहित्य के आधार पर अपनी राय निर्मित कर रहे थे। लेकिन ग्रियर्सन कई हस्तलिखित पोथियों को खोज उनका पाठ्य निर्धारण और विश्लेषण कर रहे थे। कई हस्तलिखित ग्रंथों का सत्यापन और निरीक्षण इन्होंने किया था **"परम पूज्यपाद महामहोपाध्याय श्रीयुत् हरप्रसाद शास्त्री महाशय से हमने सुना है कि ग्रियर्सन साहब ने सन् 1886 को जब हिंदुस्थानी भाषा का संक्षिप्त इतिहास लिखना आरंभ किया तब यह 'रागकल्पद्रुम' उनका प्रधान अवलंबन बना। उन्होंने अनेक चेष्टा लगा मेटकॉफ हाल पुस्तकालय से एकमात्र सम्पूर्ण ग्रंथ पाया था यह ग्रंथ दीर्घकाल व्यवहार करने को उन्हें सौ रुपये से भी ज़्यादा चन्दा पड़ा पर उन्हें बड़ी चेष्टा करने एवं मूल्य देने पर भी दूसरा सम्पूर्ण ग्रंथ न मिल सका"[1]।** यह कथन उनके लगाव और साहित्यबोध को दिखाता है। रचनाओं की प्रामाणिकता की आग्रहपूर्ण खोज 'पृथ्वीराज रायसा' के महोबा खंड को जाली बताने पर स्पष्ट हो जाती है। तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं में शिवसिंह सेंगर द्वारा बताई 'राम शलाका', 'कुण्डलिया रामायण', 'कड़का रामायण','रोला रामायण', 'झूला रामायण' आदि को कोई भी महत्त्व नहीं दिया है। ग्रियर्सन कवियों का अन्वेषण कर उनके काव्य सौन्दर्य पर बराबर टिप्पणी करते थे। हिंदी

[1] संपादक-नागेन्द्रनाथ बसु,रागकल्पद्रुम (भूमिका)-पृष्ठ-6

साहित्य की इतिहास परंपरा में देश, काल और वातावरण साहित्य निर्माण में प्रभावी कारक होता है इसकी शुरुआत का सूत्र इनमें मिलता है।

इनके साहित्य में विवेचन के बाद सार-रूप में सामासिक शैली में कई कृतियों को लेके स्थापनाएँ भी मिलती हैं जैसे- **'गीतावली और कवितावली की जटिलता', 'दोहावली की सूत्रमयता', 'सतसई की अस्पष्टता'** जैसे आलोचनात्मक और सूत्रात्मक वाक्य देने का काम किया है। मानस की संजीवनी शक्ति, कथोपकथन में हृदयस्पर्शी मर्मस्थलों की खोज इतिहासकार के रूप में ग्रियर्सन की वह खोज है जो शैलीगत रूप में हिंदी आलोचना ने अपना ली। वह कवियों की वर्णन शैली और उपमान योजना की भी चर्चा करते हैं। इस तरह देखा जाए तो ग्रियर्सन अपने इतिहास लेखन में वर्णन करते हुए हर पक्ष का उपयोग करते हैं और लेखन को गति देते हैं।

ग्रियर्सन आधुनिक कवियों का भी वर्णन करते हैं और इस काल पर नाटकों के प्रभाव पर विशेषतः ज़ोर देते हैं और भारतेन्दु को इस युग के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में वर्णित करते हैं। नाटक के संबंध में उनकी टिप्पणी – **'हिंदी नाटक अभी हाल ही का उत्पन्न पौधा है'** मुख्य रूप से दृष्टव्य है। नाटकों की आलोचना, अनुवाद,पात्र-योजना, श्लीलता-अश्लीलता और अभिनेता की दृष्टि से ग्रियर्सन करते हैं। वह बिहारी नाट्य परंपरा को विद्यापति के 'पारिजात हरण' और 'रुक्मणी स्वयंवर' से शुरू मानते हैं।

इस तरह अगर देखा जाए तो ग्रियर्सन अपने इतिहास लेखन में बहुत से नए उपादान और कसौटियाँ लाते हैं जिनसे आगे के इतिहासकार काम लेते हैं।

1.5- रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज और इतिहास लेखन-

सन् 1918 में एडविन ग्रीब्ज ने **'ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर'** नाम से हिंदी साहित्य का एक इतिहास लिखा। जो 'क्रिश्चयन लिटरेचर सोसाइटी फॉर इंडिया' के द्वारा पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया। इसका अनुवाद डॉ. किशोरीलाल ने **'हिंदी साहित्य के रेखांकन'** के नाम से किया जिसका प्रकाशन हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद से हुआ है। अनुवादक के अनुसार कुछ आलोचक इसे इतिहास नहीं मानते हैं, बल्कि इसे इतिहास की अनुक्रमणिका कहना ज़्यादा पसंद करते हैं। इस पुस्तक में हिंदी साहित्य के प्रवाह को देखा जा सकता है। डॉ. किशोरीलाल के अनुसार- **"यद्यपि मैं जनता हूँ कि ग्रीब्ज के इतिहास की बहुत सी बातें और उनकी बहुत सी मान्यताएँ संप्रतीक खोज के निकष पर असिद्ध और अप्रमाणिक हो चुकी हैं। किन्तु ग्रियर्सन के पश्चात साहित्य के इतिहास में उन्होंने जो आलोचनात्मक दृष्टि और चिंतन की नवीन सरणियों का विनियोग किया था उसका**

ऐतिहासिक दृष्टि से आज भी अप्रतिम महत्त्व है"[1]। साहित्येतिहास की परंपरा में यह इतिहास ग्रियर्सन के बाद लिखा गया और जब साहित्य के इतिहास के विकास का अध्ययन किया जाए तो इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है।

ग्रीब्ज का जन्म 5 सितंबर सन् 1854 ईसवी को लंदन में हुआ था। मिश्रबंधुओं का मानना है कि वह पादरियों के काम के लिए पहली बार भारत आये थे और 1920 तक भारत में ही रहे। इनके घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी और यह अपने परिवार के व्यापार में हाथ बँटाया करते थे। इसके बाद यह ईसाई धर्म प्रचारक के रूप में काम करने लगे थे। इन्हें बाद में लंदन की मिशनरी सोसाइटी ने भारत भेजा और यह मिशनरी पादरी के रूप में 11 वर्ष तक मिर्ज़ापुर में रहे। सन् 1892 ईसवी के बाद वहाँ से छुट्टी लेकर इंग्लैंड चले गए और जब लौटकर आये तो बनारस को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। बनारस में रहते हुए उन्होंने पर्यटन तथा अध्ययन किया और भारत की संस्कृति को समझा। कुछ समय तक यह कलकत्ता में **'यूनाइटेड लैंग्वेज़ स्कूल फॉर मिशन के प्रिंसपल'** भी रहे थे।

साहित्यिक कार्य- बनारस में इनका संपर्क बाबू श्यामसुंदर दास, सुधाकर द्विवेदी, श्यामबिहारी मिश्र ग्रियर्सन, राधाकृष्ण दास आदि से था। यह वहाँ 'नागरी प्रचारिणी सभा' से भी सम्बद्ध थे और सभा के कार्यों में सक्रियता के साथ भागीदारी करते थे। यहाँ तक कि जब नागरी प्रचारिणी सभा के लिए भवन हेतु भूमि की आवश्यकता थी तो भूमि की व्यवस्था कराने का दायित्त्व इन्हीं को सौंपा गया था। प्रचारिणी सभा ने जब रामचरितमानस का प्रकाशन किया तो उसके लिए चित्रों की व्यवस्था करने का काम भी ग्रीब्ज ने ही किया था।

'हिंदी शब्दसागर' के निर्माण मण्डल के यह सदस्य थे। जिसकी भूमिका के रूप को बाद में रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी 'साहित्य के इतिहास' का रूप दिया था। 'मेरी आत्मकहानी' में बाबू श्यामसुंदर दास ने इनके बारे में लिखा है- **"समिति ने यह भी निश्चय किया कि कोश के संबंध में आवश्यक प्रबंध करने के लिए पंडित सुधाकर द्विवेदी, लाला छोटेलाल, रेवरेंड ए ग्रीब्ज, बाबू इंद्रनारायण सिंह एम ए, बाबू गोबिंददास, पंडित माधव प्रसाद पाठक और रामनारायन मिश्र बी ए की प्रबंध कृत समिति बना दी जाए और उसके मंत्रित्व का भार मुझे दिया जाए"[2]।** 'मिश्र बंधु विनोद' में मिश्र बंधु, ग्रीब्ज के कृतित्त्व के बारे में लिखते हुए- **"ईसाई मत की पाँच पुस्तकें हिंदी में तथा तुलसीदास के जीवन**

[1]अनुवाद डॉ किशोरीलाल(1995)हिंदी साहित्य का रेखांकन,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-6
[2] दास, बाबू श्यामसुंदर, मेरी आत्मकहानी, -पृष्ठ 147

चरित्र पर एक निबंध की रचना की"[1]। जे. एच. आनंद इनकी लिखित आठ पुस्तकों की चर्चा अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य विद्वानों का हिंदी साहित्य में करते हैं-

1. ग्रामर ऑफ मॉडर्न हिंदी (1896)- मेडिकल हाल प्रेस बनारस
2. नोट्स ओन द ग्रामर ऑफ द रामायण ऑफ तुलसीदास (1895)
3. ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर(1918) सी एल एस प्रेस मद्रास
4. प्रभ यीशु की कथा(1892)-इलाहाबाद नॉर्दर्न इंडिया क्रिश्चियन टेक्स्ट बुक सोसाइटी
5. ईश्वर का अवतार लेना और प्रायश्चित करना (1909) इलाहाबाद नॉर्दर्न इंडिया क्रिश्चियन टेक्स्ट बुक सोसाइटी
6. हिन्दू मत और मसीह मत(1905)
7. काशी नगर (ऐतिहासिक ज्ञान और भारतीय संस्कृति का परिचायक) .

इन पुस्तकों के अलावा साहित्यिक और गवेषणात्मक निबंधों की भी रचना ग्रीब्ज ने की थी। अंग्रेज़ी पत्रिका 'मॉडर्न रिव्यू' में 'राष्ट्रभाषा हिंदी का अनुराग' लेख अंग्रेज़ी भाषियों के मध्य उत्पन्न करने हेतु इन्होंने लिखे थे। ग्रीब्ज का तुलसीदास का जीवन चरित्र विषयक निबंध सन् 1899 ईसवी में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। तुलसीदास से संबंधित इनका दूसरा लेख भाषाविज्ञान और व्याकरण विशेषतया अवधी के व्याकरण को समझने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है **"इस लेख का उपयोग गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित रामचरितमानस के संवत 1897 के संस्करण में भली-भाँति किया गया है"[2]।** इस प्रकार ग्रीब्ज ने हिंदी साहित्य के उत्थान के लिए कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए तथा कई कार्यों प्रत्यक्ष रूप में सहयोग किया था।

ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर – अपने मूल रूप में यह पुस्तक 112 पृष्ठों की है। इसमें महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित तथ्य दिए गए हैं और कई तथ्यों की विवेचना की गई है। लेकिन इतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने इतिहास में ज़िक्र तक नहीं करते हैं। ऐसा भी नहीं हो सकता कि वह इससे अपरिचित रहे हों, लेकिन शुक्ल जी के इतिहास से ग्यारह वर्ष पूर्व लिखे इस इतिहास का नाम तक न लिया जाना ठीक नहीं प्रतीत होता, ऐसी स्थिति में जब दोनों लेखक एक ही संस्था से संबद्ध हों और एक ही परियोजना में साथ में काम कर रहे हों।

---

[1] मिश्र बंधु विनोद, मिश्रबंधु(चौथा भाग) -पृष्ठ 121

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-42

मिश्रबंधु और श्यामसुंदरदास इस पुस्तक का ज़िक्र करते हैं। इस पुस्तक के ठीक 2 वर्ष बाद प्रकाशित हुई एफ. ई. केई के 'हिंदी साहित्य के इतिहास' का भी शुक्ल जी किसी रूप में वर्णन नहीं करते हैं। ग्रीब्ज के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टि से साहित्य की परंपरा को देखा गया है और यह आलोचनात्मक दृष्टि उन्हें ग्रियर्सन से मिली थी –**"सन् 1889 में सर जॉर्ज ग्रियर्सन का 'द मॉडर्न लिटरेचर ऑव हिन्दुस्थान' प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ के महत्त्व के संबंध में अधिक नहीं कहा जा सकता। इसमें कुछ विशिष्ट सीमा के अंतर्गत साहित्य के विकास की खोज के लिए पाठक को सक्षम बनाने वाली केवल अत्यंत वर्गीकृत विषयसूची ही नहीं है बल्कि महान लेखकों के कार्य की प्रशंसा और उनकी रचनाओं के संबंध में दिए गए विवरण एक ऐसे व्यक्ति के सुचिन्तित निर्णय हैं,जिन्हें वह अपने परिपक्व ज्ञान और प्रौढ़ आलोचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करता है"[1]।** एडविन ग्रीब्ज काल विभाजन और नामकरण में अपनी परंपरा से कुछ आगे बढ़कर चिंतन करते है वह साहित्य को पाँच कालों में विभाजित करते हैं-

1. आदिकाल (early period 800-1400)
2. रचनात्मक काल (constructive period 1400-1580)
3. विस्तार काल (elaborative period 1580-1700)
4. स्थिर काल (static period 1700-1800)
5. पुनर्जागरण और परिवर्तन काल (revival and transformation period)

ग्रीब्ज के इतिहास की शुरुआत में **'हिंदी भाषा हिंदी साहित्य: सामान्य विचार'-** इसमें हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य, उसकी उत्पत्ति और विकास, इसकी विविधता और प्रसार पर विचार करते हैं। इस अध्याय के आधार ग्रंथ के रूप में ग्रियर्सन और महावीर प्रसाद द्विवेदी के लिखित हिंदी की उत्पत्ति का उपयोग करते हैं। ग्रीब्ज अपनी बात इन विषयों पर रखते हैं- महात्मा गांधी और प्रेमचंद जिस हिन्दुस्तानी की वकालत करते थे एडविन ग्रीब्ज उससे उलट इस संदर्भ में सोच रहे थे- **"साहित्यिक प्रयोजनों के लिए हिन्दुस्तानी भाषा को माध्यम बनाना संभव नहीं है। हिंदी या उर्दू ग्रहण की आवश्यकता उत्पन्न होने के बाद दोनों (हिंदी-उर्दू) को विवेकरहित ढंग से परस्पर मिलाना (भाषा की) स्पष्टता और सौन्दर्य के लिए एक अवांछनीय प्रयास है"[2]।** इसके पीछे इनका तर्क था कि उर्दू प्रकृति की दृष्टि से न्यूनाधिक्य रूप में फारसी और अरबी की सजातीय प्रतीत होती है और हिंदी अपभ्रंश,

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-5

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल, हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995), हिंदुस्तान अकेडमी प्रयागराज,-पृष्ठ-2

प्राकृत और संस्कृत की नज़दीकी भाषा। इन प्राकृत भाषाओं का निर्माण करने में आक्रमणकारियों की बड़ी भूमिका रही है और इसका निर्माण इन भाषाओं के मिश्रण से हुआ है। हिंदी का समय ग्रीब्ज 800 से 1400 ईसवी के मध्य करने की वकालत करते हैं लेकिन वह मानते हैं कि उस समय हिंदी का जो स्वरूप था ,वह आज प्रचलित रूपों से काफी भिन्न था। प्रायः हिंदी के प्रारम्भिक दिनों में भी अतिशय भिन्नतामूलक रूप देश के विभिन्न भागों में मौजूद था। मध्यकाल में हिंदी भाषा के कुछ रूप कम गतिशील रहे (अवधी और ब्रजभाषा को छोड़कर)। इसी विकासक्रम में 19 वीं शताब्दी के आरंभ में ऐसा सक्रिय साहित्यिक कदम उठाया गया जिसने हिंदी की दृष्टि को पूर्णतया बदल दिया यह परिवर्तन गद्य भाषा के रूप में लक्षित हुआ।

लेखक के सामने साहित्य का विभाजन कैसे किया जाए? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। कालों या वर्गों को कैसे क्रमबद्ध किया जाए? कालानुसार या वर्णमाला के क्रमानुसार? वह इस प्रयास में थे कि विभाजन जो भी हो स्पष्टता लिए और साहित्यिक सामग्री के अनुसार हो। उसका नामकरण एकांगी होकर न रह जाए। इसके अलावा विवेचन और मूल्यांकन के लिए विषय को मुख्य माना जाए या अभिव्यक्ति की शैली को। कुल मिलाकर इन सारे सवालों से ग्रीब्ज शुरुआत में जूझते हुए दिखाई देते हैं- **"जो भी हो यदि साहित्य का एकमात्र उद्देश्य अभिव्यंजना के रूप को प्रदर्शित करना ही है तो वह इसमें अपने उत्कर्ष रूपों को क्षीण कर देता है। उसे मर्यादा और सौन्दर्य से मंडित करना जो आवश्यक रूप में मुख्यतया आकर्षण ही है, कला की एक वेश्यावृत्ति है"[1]।** इस तरह ग्रीब्ज का मानना है कि साहित्य की विषयवस्तु उपेक्षणीय न हो और वह समाज को एक व्यापक शिक्षात्मक अर्थ प्रदान करने की क्षमता अपने आप में समाए हुए हो, मनुष्य को गंभीर बनाने में उसका कुछ योगदान और वह मनुष्य का मानसिक और नैतिक जीवन विकसित करता हो।

वह साहित्य की पूरी परंपरा वैदिक साहित्य से लेकर अपने समय तक का मूल्यांकन करते हैं और एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं- **"मौलिकता चाहे विषय की हो या विवेचना की, हिंदी साहित्य के विशिष्ट और प्रभावशाली अंगों में नहीं है"[2]।** मुख्य रूप से यहाँ ग्रीब्ज का आशय रामकथा और कृष्णकथा के अलावा नख-शिख वर्णन के साथ-साथ छंद की बँधी-बँधाई परिपाटी से था। इसकी आलोचना करते हुए वह यह तो स्वीकार करते हैं कि

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल, हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-9
[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल, हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-11

मौलिकता है लेकिन अभिव्यंजना पक्ष में और कला के रूप में। भक्तिसाहित्य को '**आनंद दायिनी कविता**' के रूप में ग्रीब्ज विवेचित करते हैं।

इसके बाद वह नाटक के संबंध में मत व्यक्त करते हैं- **"हिंदी लेखक, श्रोता और दर्शक के संबंध को बहुत कम समझते हैं। वे अपेक्षाकृत पाठक के संबंध में सोचते हैं। वे नाटक के रूप में साहित्य लिखते है किन्तु वे नाटककार नहीं हैं"[1]।**

ग्रीब्ज आधुनिक काल में तीव्रता से उस समय बढ़ रहे समाचार पत्रों और पत्रिकाओं का साहित्यिक महत्त्व स्वीकार करते हैं। वह यह मानते हैं कि इन पत्रिकाओं में प्रकाशित बहुत से लेख उच्च कोटि के साहित्य के रूप में श्रेणीबद्ध किए जा सकते हैं। अंत में वह इस बात को रेखांकित करते हैं कि ईसाइयों द्वारा लिखे गए हिंदी ग्रंथों की उपेक्षा की जाती है, उनका मूल्यांकन नहीं किया जाता है। इनके द्वारा बनाए गए शब्दकोशों से हिंदी का विकास हुआ है। जिस साहित्य पर ध्यान दिया जाता है वह मुख्य रूप से हिंदी के बड़े और स्थापित लेखक होते हैं और इनके ग्रंथ महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनके ग्रंथ में दिया गया कवि विवरण मिश्र बंधु विनोद के भाग तीन के आधार पर दिया गया है।

साहित्येतिहास में आलोचनात्मक दृष्टि-

आदिकाल की भाषा का विकास उस प्रकार हुआ है जैसे एक छोटा बालक कब तुतलाते-तुतलाते बड़ा होकर ठीक बोलने लगता है और हमें यह परिवर्तन समझ नहीं आता है। ऐसे ही इस समय की भाषा कब प्राकृत से हिंदी हो गयी, यह स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। यह सन् 713 ईसवी में मौजूद **पुष्य कवि को हिंदी का प्रथम कवि** और उनकी भाषा पर सवाल उठाते हैं और इस स्थापना को संशय की दृष्टि से देखते हैं। आदिकालीन साहित्य में ग्रीब्ज मुख्य रूप से रासोसाहित्य और मसऊद, चंदबरदाई आदि के काव्य का विवरण देते हैं- **"पृथ्वीराज रासो सचमुच एक महान रचना है और भाषा शास्त्रीय दृष्टि से इसका बहुत बड़ा महत्त्व है"[2]।** ग्रीब्ज रासो का भाषाई महत्त्व स्वीकारते हैं, क्योंकि उस समय भाषा अपने शैशवकाल में थी और उसके विकसन् की अवस्था का भान इस ग्रंथ से होता है। ग्रीब्ज, अमीर खुसरो, जगनिक, कुमारपाल चरित, शारंगधर, नरपति नाल्ह आदि को कवि रूप में स्थान देता है, लेकिन गोरखनाथ को 'मात्र धार्मिक सुधारों का नेता' स्वीकार कर उनके साहित्यिक महत्त्व को कमतर बताते हैं। गोरखनाथ शास्त्रोक्त रूढ़ियों को ध्वस्त करने के उद्देश्य से जनता की भाषा में उपदेश देने का काम कर रहे थे। यहाँ गोरखनाथ के संबंध में यह

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल, हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-15

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल, हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-25

सवाल उठाया जा सकता है कि क्या ग्रीब्ज मात्र रासो ग्रंथों को ही साहित्य की श्रेणी में गिन रहे थे? उन ग्रंथों के अलावा गोरखनाथ और अमीर खुसरो का मूल्यांकन करते हुए वह तमाम ऐसे प्रतिमान ले आते हैं जिनसे गोरख के बाद काम नहीं लिया गया है।

रीतिकाल में जिन छंदों की प्रधानता रही, जिनके आधार पर बाद में रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त विभाजन किया गया था उसका विवरण किसी इतिहास ग्रंथ में नहीं दिया गया है। लेकिन ग्रीब्ज अपने इतिहास में एक अध्याय का नाम 'छंदशास्त्र' देते हैं और कहते हैं भाव, रस, छंद, रुपक, अलंकार, तुकांत का आधिक्य कविता में है। लेकिन सभी पर 'कुकविता' का ठप्पा लगाकर उसे कविता के इतिहास से बाहर नहीं किया जा सकता। यहाँ यह दृष्टव्य है कि एक तरफ़ उस समय में रीति संबंधी विरोध हिंदी की दुनिया में था और साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी एक प्रकार के आदर्श की बात कर रहे थे। लेकिन वहाँ ग्रीब्ज इस कविता के लिए बचाव की मुद्रा अपना लेते हैं और गोरखनाथ जो हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार *'मंथनकाल'* और महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार *'बीजवपन काल'* के कवि थे, उन पर धार्मिकता और धार्मिक प्रचारक का ठप्पा लगा असाहित्यिक कह देते हैं।

इसके बाद ग्रीब्ज अगले काल के रूप में 'रचनात्मक काल' की चर्चा करते हैं। लेकिन स्वयं ही इस नामकरण से असन्तुष्ट रहते हैं। इस काल का विस्तार पूरे भक्ति युग तक होता है। इस काल में भाषा के क्षेत्र में ठोस विकास हुआ और उसकी शैलियों में भी विविधता आयी। इस रचनात्मकता के उद्गम का स्रोत इतिहासकार द्वारा अकबर के दरबार को माना गया, जिस शैली का विकास इस युग में हुआ उसमें राजकीय स्थिरता महत्त्वपूर्ण है। विद्यापति, रामानंद, कबीर, कमाल, मीरां के अलावा अन्य संत रचनाकारों के साथ सदना, धर्मदास, रैदास, जायसी, अष्टछाप के कवि, तानसेन, रहीम और गंग का परिचय और संक्षिप्त साहित्यिक विश्लेषण देते हैं।

अगले अध्याय के रूप में 'विस्तार काल' जिसकी समय सीमा (1580-1700) थी को विस्तारकाल नाम दिया। इस अध्याय के नामकरण के पीछे साहित्य ने तमाम जगहों पर विस्तार किया था इसीलिए इसका नाम ग्रीब्ज विस्तार काल देते हैं। केशवदास, बलभद्र, चिंतामणि, मतिराम और भूषण को उनकी कविता के आधार पर **"वे युग या विश्व के संदेशवाहक ना थे"**[1] क्योंकि इन कवियों का काम अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था और यह कविता और शब्द इन्हीं के लिए लिखा करते थे।

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-75

इस काल में तुलसीदास को भी रखा गया है, इसीलिए यह विभाजन बिना किसी ठोस आधार के लग रहा है। दादू, नाभादास, प्रियादास, मलूकदास, सुंदरदास, बैताल, सूरत मिश्र श्रीपति, रसलीन तोषनिधि, दलपतिराय, बंशीधर, भिखारीदास, दूलह, जसवंत सिंह, श्रीधर, सूदन, चंदन आदि कवियों को शामिल किया है। लेकिन इसमें रीति, भक्ति और अन्य प्रवृत्तियों के कवि एकमेव हो गए हैं।

इसके बाद के अध्याय का नाम विभिन्न हिन्दू संप्रदायों के नाम से अभिहित करते हैं। इसमें यारी साहब, दरिया साहब, मारवाड़ वाले दरिया साहब, चरणदास आदि को स्थान देते हैं।

ग्रीब्ज 'पुनर्जागरण और परिवर्तन काल' नाम उस समय को देते हैं जिसको आज हम आधुनिक काल के नाम से जानते हैं। साहित्य में इस समय में जो परिघटनाएँ घट रही थीं, वह प्रमुख रूप से वह चिह्नित करते हैं। गद्य रूपों का विकास, साहित्यिक कार्यों में तमाम संस्थाओं के निर्माण के बाद वृद्धि, छपाई का आविष्कार और उसके बाद किताबों का कई प्रतियों में प्रकाशित होना शुरू होना, इस समय रचे गए साहित्य का मूल्यांकन ग्रीब्ज मध्यकाल के तुलसी और कबीर की कसौटी को अपनाते हैं। उसका स्तर इन कवियों के साहित्य जैसा नहीं था। फोर्ट विलियम कॉलेज में लल्लू लाल, सदल मिश्र में ये 'गद्य विकास का संक्रमण काल' लक्षित करते हैं। उदाहरण के लिए लिखते हैं- **"प्रेमसागर में पाठक यह अनुभव करता है कि बृजभाषा लेखक के प्रयास कू नीरस बना रही है तथा वह छंद से इतना प्रेतग्रस्त है कि प्रेमसागर के बहुत से वाक्यों में पाठक गद्य की अपेक्षा कविता की लय को ग्रहण करता है। प्रेमसागर की भाषा लेशमात्र भी आधुनिक साहित्य की हिंदी का प्रीतिनिधित्त्व नहीं करती। यह मात्र प्राचीनता से अलग होकर नवीनता की ओर आने का ही संकेत देती है"[1]।** इस समय के गद्य की भाषा कैसे अपने बोलियों के रूपों से बाहर निकलकर एक मानक खड़ी बोली बनने का प्रयास कर रही थी? इसमें लेखक और पाठक को क्या-क्या कठिनता आ रही थी? इन दोनों दृष्टियों से इतिहासकार ने इसपर विचार किया है। वह इस समय के गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मनिनाथ, पद्माकर, गोपालचन्द्र हरिश्चंद्र, शिवसिंह सेंगर, राधाकृष्ण दास, पलटू साहिब, तुलसी साहिब का नाम देते हैं। लेकिन विचारणीय बात यह है कि इन लेखकों में से कुछ आधुनिक काल या परिवर्तन काल के नहीं हैं। इन्हें अन्य हिन्दू संप्रदायों वाले अध्याय में रख विवेचित किया जा सकता था। क्योंकि यह किसी न किसी संप्रदाय से जुड़े हुए कवि हैं और इस काल के अंतर्गत इनका रचनाकाल भी नहीं है।

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,हिंदी साहित्य का रेखांकन(1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-136

ईसाइयों /मिशनरियों द्वारा इस समय में बहुत सारे शब्दकोश, किताबें और साहित्य की आलोचना लिखी जा रही थी। 'मद्रास ईसाई परिषद', 'इलाहाबाद ईसाई परिषद' आदि इसके प्रमुख केंद्र थे। यह इस साहित्य का प्रकाशन भी कर रहे थे। ग्रीब्ज इन राचनाओं और रचनाकारों पर हिंदी की मुख्यधारा द्वारा विशेष ध्यान न दिए जाने के कारण क्षुब्ध थे। उनका मानना था कि यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है इसका भी मूल्यांकन होना चाहिए। और इस लेखन का महत्त्व निर्धारित कर उसे साहित्य में उपेक्षित न कर उसका स्थान निर्धारित करना चाहिए।

अंतिम में हिंदी के भविष्य के बारे ग्रीब्ज चर्चा करते हैं। वह लिखे जा रहे इतिहास, जीवनचरित, राजनैतिक पुस्तकें, आंदोलन, यात्राएँ, निबंध, प्रेमकहानियों आदि में हिंदी साहित्य का प्रसार देख रहे थे। इस क्षेत्र में संकुचित न होकर एक खुले हृदय के साथ साहित्य के अध्येताओं को प्रवेश देने की मांग कर रहे थे। साहित्य लेखन में विषय और शैली का पिष्टपेषण न कर एक नवीनता के साथ नए विषय की मांग करते हुए यह हिंदी के भविष्य के बारे में अनुवाद, नए विचारों का स्वागत करने से हिंदी का रूप व्यापकता को प्राप्त करेगा। साथ ही विश्व के किसी भी कोने में लिखी जा रही सामग्री को एक साथ करना और विलुप्त सामग्री, आइडिया की पुनर्रचना से ही हिंदी भाषा और साहित्य का भविष्य उज्ज्वल होगा।

1.6- एफ. ई. केई और इतिहास लेखन-

रेवरेंड ग्रीब्ज, जे. डैन के सम्पादन में 'भारतीय विरासत ग्रंथमाला (1920) परियोजना' के तहत इस पुस्तक का लेखन किया गया था। इस पुस्तक का शीर्षक '**ए हिस्ट्री ऑफ हिंदी लिटरेचर'** था। जिसका अनुवाद और संपादन सदानंद शाही ने किया है, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर से यह पुस्तक प्रकाशित है। देशभाषा संबंधी इन खंडों का प्रयोजन साहित्य के इतिहास की स्पष्ट और विश्वसनीय रूप -रेखा प्रस्तुत करना है।

भूमिका में ही लेखक इस ग्रंथ का उद्देश्य- विश्वसनीयता के साथ एक रूपरेखा प्रस्तुत करना स्पष्ट करता है, **"ज़ाहिर है महान साहित्यों में से किसी के विषय में विचार करना हो तो निर्धारित सीमा के भीतर पूरे के साथ न्याय करना असंभव है"[1]।**

न्याय से इतिहासकार का आशय यहाँ किसी व्याख्या या रचनाकार के प्रति एकतरफ़ा हो जाना, तथ्यों और व्याख्या की तरफ से आँखे बंद ना कर लेने से है। उनका मानना यह है कि, एक इतिहासकार के रूप में हम साहित्य परंपरा के मूल्यांकन का बहुत प्रयास करते हैं, लेकिन सारे तथ्यों की तह तक तय सीमा में नहीं पहुँचा जा सकता है। वह तथ्य प्रामाणिकता, ग्रंथ अनुपलब्धता, कई संस्करण एक साथ प्रचलित होना आदि कुछ भी हो सकता है। क्योंकि किसी भी विषय में कुछ भी ऐसा रह सकता है जिस पर आगे के अध्येता को नए तथ्यों के उद्घाटन के बाद आपत्ति हो सकती है। इन्होंने विषय का विवेचन करते हुए सावधानी से भारतेन्दु हरिश्चनद्र तक के साहित्य का विश्लेषण किया है। लेकिन अपने तत्कालीन सन् 1920 तक रचना कर रहे कवियों के बारे में ज़्यादा विस्तार से चर्चा नहीं की है।

लेखक का यह इतिहास आकार में 100 पृष्ठों का एक संक्षिप्त इतिहास है। हिंदी साहित्य की इतनी समृद्ध और विस्तृत परंपरा को 100 पृष्ठों में समेटना असंभव सा काम था और आज इस इतिहास पुस्तक को लिखे हुए 100 साल हो गए हैं, लेकिन हिंदी साहित्य इतिहास लेखन परंपरा में इसका अपना महत्त्व है। इसके अध्ययन से इतिहास लेखन की कई परतें और अवधारणाओं का उत्स हमें समझ में आता है। पीछे हमने देखा कि हिंदी साहित्य इतिहास लेखन की शुरुआत पश्चिमी लेखकों द्वारा की गई थी और जो इतिहास/इतिहास स्वरूप के साथ इतिहास दृष्टि हमें बाद के इतिहासों में देखने को मिलती है वह इन्हीं अपरिपक्व और अधूरे इतिहासों की नींव पर बनी है।

तासी, ग्रियर्सन, ग्रीब्ज आदि के इतिहास हमें इतिहासलेखन की परंपरा को समझने में मदद करते हैं। यहाँ दृष्टव्य है कि हर इतिहास का अपना एक मूल्य है और वह विकास क्रम में कुछ

[1] अनुवाद-सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर, भूमिका से

न कुछ नई स्थापनाएँ, मूल्यांकन के नए दृष्टिकोण देते चलता है जिन्हें परिमार्जित कर या हू-बहू आगे के इतिहासकार प्रयोग में लाते हैं।

एफ़. ई. केई भी इसी कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण इतिहासकार हैं। वह भारत को समझने के लिए – **"जो लोग भारत को समझना चाहते हैं, उनके लिए देशी भाषाओं के साहित्य से निकट परिचय आवश्यक है"[1]।**

प्राच्यविदों ने भारत को समझने के लिए भारत के साहित्य का सहारा लिया। कालिदास के शकुंतला का अनुवाद हो या मैक्समूलर के व्याख्यान का वह अंश जहाँ वह भारत में अध्ययन के लिए नए क्षेत्रों में ज्ञान का भंडार होने की बात स्वीकार करते हैं। उसी की अगली कड़ी यह इतिहासकार हैं। इनका काम समग्र साहित्य परंपरा, उसके विकास का अध्ययन और विश्लेषण कर उसे एक कड़ी के रूप में व्यवस्थित करना था। भाषा के विकास, विभाजन आदि पर विचार आधुनिक काल के इसी समय में प्रारंभ हुआ साहित्य इतिहास और इतिहासकार की सीमाओं का निर्धारण भी इन्हीं इतिहासकारों के माध्यम से किया गया था।

यह तो सर्वस्वीकार्य है कि आरंभिक साहित्य इतिहास लेखन में बहुत सी समस्याएँ मौजूद हैं और इसके कई कारण लक्षित भी किये गए हैं। यहाँ लेखकों की अपनी अध्ययन सामग्री सीमा, नैतिकता के साथ-साथ पूर्वग्रह भी काम कर रहे थे। लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या बाद के साहित्य इतिहास लेखकों के साथ भी यही समस्याएँ नहीं हैं? क्या आदिकाल और कबीर को लेकर शुक्ल जी अपनी नैतिकताएं और पूर्वग्रह के साथ नहीं मिलते जिन्हें बाद के इतिहास लेखकों के द्वारा चिह्नित किया गया है।

भाषा- केई ने भी अपने इतिहास में भाषा संबंधी दृष्टिकोण पहले दिए हैं। उन्होंने भारतीय आर्य भाषा को 'महान भरोपीय परिवार' की एक शाखा माना जो अब यूरोप और दक्षिण एशिया के एक बड़े हिस्से में बोली जाती है। आर्य कही जाने वाली जाति पूरब में आक्सास की ओर चली गई और जैसे-जैसे ये आगे बढ़े दो हिस्सों में विकसित होकर पहला ईरानी भाषा परिवार (मेडिक, पहलवी, फारसी) को जन्म दिया तथा दूसरी शाखा काबुल की घाटी में प्रविष्ट हुई। फिर उत्तर भारत के मैदानों में पहुँच गई। **"इनमें से भारत आने वाले आर्य कहलाये प्राचीन काल में ही आर्य भाषा को साहित्यिक संस्कार मिल गए थे और उसके साहित्यिक स्वरूप को संस्कृत अर्थात परिष्कृत भाषा कहा गया। यह भाषा स्थिर हो गई। किन्तु जनसामान्य जो भाषा बोल रहा था वह प्राकृत अथवा प्राकृतिक नाम से जानी जाती थी। इसमें संयुक्त स्वरों तथा कठोर ध्वनियों को कोमल कर दिया**

[1] अनुवाद-सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास एफ ई केई,लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर पृष्ठ-2

गया लेकिन भाषा संस्कृत की तरह संयोगात्मक ही रही। इसी प्रकृतों की अंतिम अवस्था को 'अपभ्रंश' कहा गया। जिससे आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ विकसित हुई"[1]। पश्चिम में पंजाब और सिंध से लेकर पूरब में बंगाल तक सारे उत्तर भारत की बोल-चाल की भाषा के लिए सामान्य रूप से हिंदी का प्रयोग किया जाता है। अब अगर यहाँ तासी के दिए गए मत से तुलना कर दी जाए तो दोनों ही दृष्टियों में बड़ा भारी अंतर दिखता है। वह इसी तरह के भूगोल की बात हिन्दुस्तानी (उर्दू) के लिए करते हैं और हिंदुई कई बोलियों में बिखरी तथा एकरूपता की कमी के कारण वह उसका भारत में कोई विशेष साहित्य नहीं बताते हैं। लेकिन ग्रियर्सन इसके चार रूपों की चर्चा करते हैं राजस्थानी, पश्चिम हिंदी, पूर्वी हिंदी था बिहारी। आप देखेंगे तो ग्रियर्सन के वर्नाकुलर लिटरेचर और भाषा सर्वेक्षण के बाद भाषा के उद्भव, विकास, विस्तार, सीमा के बारे में बहस होने लगी थी।

गुलेरी जी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीराम शर्मा के साथ-साथ स्वतंत्रता आंदोलन के सेनानी भी भाषा की बहस पर चिंतन करते हैं। यहाँ इस बहस का क्रमिक विकास क्रम इन इतिहासों मे लक्षित होता है जो बाद तक लगातार चलता है। अपने इतिहास में जिन कवियों का विवरण केई ने दिया है, उनका भूगोल तथा बोली क्षेत्र बताते हुए – **"इस ग्रंथ में जिस साहित्य का विवरण दिया जाएगा उसमें राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी तथा बिहारी का साहित्य शामिल होगा"[2]।** देखा जाए तो ये भाषा के मामले में ग्रियर्सन का अनुसरण करते हैं तथा उर्दू के साहित्य को अपने इतिहास में शामिल नहीं करते हैं। इसकी वह वजह भी बताते हैं- **"यद्यपि इसका विकास पश्चिमी हिंदी की एक बोली से हुआ है,किन्तु इन भाषाओं के साहित्य को एक वर्ग में रखने का औचित्य यह है कि जहाँ पंजाबी, बांग्ला और स्वतंत्र रूप से अपने आधुनिक साहित्य का विकास किया है, वहीं जिन भाषाओं का इतिहास इस पुस्तक में शामिल है वे अपने साहित्यिक विकास में घनिष्ठता से जुड़ी रहीं। जिन क्षेत्रों में ये भाषाएँ बोली जाती रहीं, उनमें साहित्यिक भाषा के रूप में प्रायः उच्च हिंदी उन लोगों द्वारा अपना ली गई। जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते थे"[3]।** इस प्रकार हिंदी भाषी जनता का एक बड़ा समुदाय जो तासी नहीं पहचान सके थे उसे एफ. ई.केई चिह्नित करते हैं। इनमें एक भाषा को बोलने वाला व्यक्ति दूसरे भाषा के साहित्य को आसानी से समझ लेगा और इसका कारण है इनका आपस में

[1] अनुवाद सदानंद शाही,हिंदी साहित्य का इतिहास एफ ई के लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-15
[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-16
[3] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-16

जुड़ा हुआ होना। ये भाषाएँ एक दूसरे को प्रभावित भी करती हैं। ग्रियर्सन इसे *'देशभाषा का साहित्य'* कहते हैं तो एफ. ई. केई इसे **'हिंदी साहित्य'** कहते हैं।

बिहारी भाषा के संदर्भ में केई का मानना है कि बिहारी साहित्य ज़्यादा बड़ा नहीं है और विद्यापति के गीतों के अलावा बहुत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। राजस्थानी मुख्य रूप से दरबारी काव्य है। हिंदी की बोलियों, उनका बोली क्षेत्र, वर्णमाला की लिपि आदि की चर्चा भी एफ. ई. केई के द्वारा की गई है। केई हिंदी भाषा की शब्द संपदा की समृद्धता के लिए उस भाषा की शताब्दियों की यात्रा और प्रमुख रूप से समावेशन के उसके गुण को बताते हैं। उदाहरण स्वरूप वह तुलसीदास जी के काव्य में फारसी शब्दों के प्रयोग को सामने लाते हैं। हिंदी के छंदशास्त्र को केई विकसित रूप में पाते हैं और मानते हैं कि इसका मुकाबला किसी अन्य भाषा के छंदशास्त्र से नहीं किया जा सकता है। **"यह अंग्रेजी कविता की भांति स्वरघात पर निर्भर नहीं है बल्कि ग्रीस और रोम की शास्त्रीय कविता की भाँति पदों की मात्रा की लंबाई पर निर्भर करता है"** ऐसा भी नहीं कि हिंदी का छंदशास्त्र केई की नज़र में एक दृढ़ और न बदलने वाले नियमों का शास्त्र हो, बल्कि वह तो स्वतंत्रता की अनुमति देता है और कविता में उसका प्रयोग कवि की कुशलता पर निर्भर करता है। जिससे रूप और छंद का अद्भुत आकर्षण उत्पन्न हो जाता है।

हिंदी साहित्य का सामान्य सर्वेक्षण- एफ. ई. केई राजनैतिक परिस्थितियों, समाज की उथल- पुथल से साहित्य के उदय की बात करते हैं। उनके इतिहास में देखा जाए तो केई की एक मान्यता है -**"भारतीय इतिहास में एकता का तब तक अभाव रहा जब तक कि मुस्लिम विजेताओं ने एक सशक्त शासन् की पुनर्स्थापना कर सर्वोपरि सत्ता नहीं बना ली"[1]।** इस सत्ता स्थिरता से पहले भारतीय इतिहास में उथल-पुथल रही और इसी युग ने चारण कवियों को अनुकूल सामग्री दी। युद्ध की पृष्ठभूमि में वीर रस को अनुकूलता प्रदान की इसी पृष्ठभूमि को एफ. ई. केई चारण काल के उदय का कारण मानते हैं। देशभाषा साहित्य के विकास की दूसरी प्रेरणा भक्ति के उदय से मिली इसे वह रामानंद के प्रभाव के रूप में देखते हैं।

निर्गुण भक्ति के उदय के पीछे मुसलमानी (पूजा विरोधी आस्तिकता) को मानते हैं और कबीर को इस परंपरा का 'महान अवबोधक' घोषित करते हैं। साहित्य का सर्वेक्षण करते हुए एफ ई केई उस रचनाकाल की समकालीन परिस्थितियों को नज़रअंदाज़ नहीं करते हैं बल्कि उन परिस्थितियों को ही साहित्य के बदलते स्वरूप के लिए उत्तरदायी बताते हैं।

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-21

मुग़लों का आगमन जहाँ शुक्ल जी के लिए निराशा और हताशा पैदा करने वाला काल था तो एफ ई केई इसे केन्द्रीय सत्ता की स्थापना और कला-साहित्य के उन शासकों को उदार संरक्षकों के रूप में देखते हैं और 'देशभाषा साहित्य का स्वर्णकाल कहते हैं- **"हिंदुस्तान के देशभाषा साहित्य का स्वर्णयुग 1550 ईस्वी के आस-पास आरंभ होता है"[1]।** तमाम तरह के संप्रदायों के उदय (सिख, दादू, कबीर) का यह काल, मुगल काल के पतन के साथ ही समाप्त हो गया।

वह 19 वीं शताब्दी में यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव की बात फिर साहित्य में एक नई शुरुआत के लिए स्वीकार करते हैं और इस शुरुआती बदलाव के लिए अंग्रेज़ी शासन को उत्तरदायी मानते हैं- **"इस प्रकार इस युग में भारत में एक शक्तिशाली पुनर्जागरण की शुरुआत हुई जो अब भी प्रगति पर है"[2]।** इस प्रकार के सम्पूर्ण हिंदी साहित्य का एक सामान्य सर्वेक्षण करते हैं और तीन प्रभाव चिह्नित करते हैं-

1. 1400 के आस-पास वैष्णव आन्दोलन के धार्मिक प्रभाव ने गति दी।
2. 1550 के आस-पास सत्ता स्थायित्त्व के कारण कलात्मक प्रभाव अनुभव किये गए।
3. 1800 ईस्वी के आस-पास पश्चिम के संपर्क से आने वाली आधुनिकता का प्रभाव इस काल के साहित्य पर दृष्टिगोचर होने लगा था।

एफ.ई. केई इन्हीं प्रभावों के कारण साहित्य काल की उत्पत्ति और गति को निर्धारित करने वाला कारक बताते हैं।

काल विभाजन, नामकरण-

नामकरण में यह ग्रियर्सन की परिपाटी को आगे बढ़ाते हैं सर्वप्रथम केई 1150 ईसवी से 1450 ईसवी तक के समय को *'ऐतिहासिक चारण काल'* के नाम से अभिहित करते हैं। नामकरण का आधार चारणों के द्वारा शासकों की प्रशस्ति में अतिशयोक्ति पूर्ण वीरकाव्य लिखना है। इस काव्य में केई अतिशयोक्ति के अलावा इतिहास की मौजूदगी भी चिह्नित करते हैं इसीलिए इस काल का नामकरण सिर्फ चारण नहीं बल्कि 'ऐतिहासिक चारण काल' इतिहासकार के द्वारा दिया गया है।

चंदबरदाई के पृथ्वीराज रासो का विस्तार से वर्णन करते हुए केई भाषा की दृष्टि से इसका महत्त्व स्थापित करते हैं – **"भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी इसका बहुत महत्त्व है"[3]।** इस काल में रचित साहित्य की भाषा संक्रमण कालीन है और उसमें कठिन शब्दों का

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-22
[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-23
[3] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर पृष्ठ-26-27

प्रयोग किया गया है। चंद के अलावा जगनिक, शारंगधर ,भूपति, नल्ल सिंह, मुल्ला दाऊद, अमीर खुसरो आदि को इस काल के अंतर्गत स्थान दिया गया है। इसके अलावा गोरखनाथ का वर्णन करते हुये उन्हें संस्कृत और हिंदी दोनों में रचना करने वाले रचनाकार के रूप में स्थान दिया है।

आरंभिक भक्त कवि की काव्य पृष्ठभूमि या भक्तिकाल की प्रस्तावना के लिए **"मुसलमानों की विजय से हिन्दू धर्म के सामने एक गंभीर संकट खड़ा हो गया था। विद्वान भगा दिए गए थे और मंदिर ढहा दिए गए। यद्यपि हिन्दू धर्म गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त हुआ था, फिर भी इसे पूर्ण रूप से नष्ट नहीं किया जा सका"[1]।** इन्हीं परिस्थितियों की उपज ही भक्ति आंदोलन है। अब हम परवर्ती 1929 ईसवी में प्रकाशित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिंदी साहित्य के इतिहास को देखें तो भक्ति काव्य के उदय के संदर्भ में उन पर केई के इतिहास का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वह इसी प्रकार के माहौल की हताशा और निराशा की बात इस संदर्भ में करते हैं। यह आंदोलन लोकभाषा की ओर उन्मुख था और यही इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण भी हुआ। रामानंद के पूर्व के भक्त कवियों का वर्णन केई आदिग्रंथ के आधार पर करते हैं। आदिग्रंथ ने कविता के उसी रूप को काफी हद तक संरक्षित रखा और नामदेव तथा सदना की कविताओं का संदर्भ यहाँ से लिया गया है।

रामानंद, कबीर, नानक आदि भक्तकवियों का वर्णन इसके अंतर्गत किया गया है। कवियों के जीवन, भक्ति, साधना पद्धति का परिचय केई अपने इतिहास ग्रंथ में प्रमुख रूप से देते हैं। कृष्णसंप्रदाय की शुरुआत के सूत्र संस्कृत में रचित जयदेव के 'गीतगोविंद' से मानते हैं। इसके बाद नरसी मेहता और विद्यापति से होते हुए इस परंपरा के विकास को दिखाते हैं। केई सीधे न तो किसी परंपरा का विकास स्वीकार करते हैं न ही अवसान। वह एक समानांतर अविरल काव्यधारा की हमेशा कल्पना करते हैं जिससे कोई काव्यप्रवृत्ति निकली हुई हो सकती है। मीरांबाई और अष्टछाप के कवियों का वर्णन करते हुए वह एक वाक्य **"ऐसा लगता है कि"** का प्रयोग करते हैं। यह इतिहास लेखन में इसीलिए आया क्योंकि अपुष्ट प्रमाणों के आधार पर कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता था। इसीलिए इस प्रकार के वाक्यों का सहारा लेकर जीवन और काव्य संबंधी वक्तव्य केई देते हुए चलते हैं। जो विश्वसनीय और अविश्वसनीय दोनों ही हो सकते हैं। इस काल में निम्न तीन शाखाएँ मुख्य रूप से केई के द्वारा मानी गईं हैं-

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर पृष्ठ-31

1. वे जो राम को अवतार मानकर उपासना करते थे और जिन्हें मूर्तिपूजा स्वीकार्य थी।
2. रामनाम की उपासना लेकिन मूर्तिपूजा अस्वीकार्य थी।
3. वे जो कृष्णोपासक थे।

इसके बाद वह मलिक मुहम्मद जायसी का वर्णन करते हुए उन्हें चारण कवियों में अंतिम मानते हैं। **"इस काल की यह विलक्षण रचना यह सिद्ध करती है कि कैसे चारण काव्य भी धार्मिक पुनरुत्थान से प्रभावित हुआ"**[1]**।** जायसी चारण और भक्त कवि दोनों हैं। उनपर अपने समकालीन भक्तिकाव्य परंपरा का प्रभाव दिखाई दे रहा है। काव्यभाषा और काव्य की उत्कृष्टता की दृष्टि से पद्मावत को उत्कृष्ट काव्य की श्रेणी में स्थान देने का काम केई के द्वारा किया गया है।

अगले अध्याय का नाम मुग़लकाल के स्थायित्त्व के कारण रचना प्रक्रिया में एक प्रकार की कलात्मकता आ जाने को लक्षित किया है। हिंदी के आलोचक और इतिहासकार इस काल को हताश-निराश मनोवृत्ति का काल मानते हैं। लेकिन केई इस काल को कलाओं के संरक्षण और प्रोत्साहन के रूप में अपने इतिहास में देखते हैं- **"अकबर पहला मुसलमान था जिसने हिंदी में लिखने वालों को संरक्षण दिया"** इसका उदाहरण हमें संत कवियों की उक्तियों में भी मिलता है जिनमें –'संतन को कहा सीकरी से काम' इन उक्तियों से यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है, कि शायद भक्तकवियों को दरबार में प्रसिद्धि के आधार पर कभी-कभार बुलाया जाता रहा हो और दीन-ए-इलाही जैसे सर्व धर्म समभाव जैसे एक नए धर्म की परिकल्पना भी अकबर द्वारा की गई जो केन्द्रीय मुसलमान सत्ता के धार्मिक कट्टरता की छवि को तोड़ती है।

तुलसीदास और उनकी साहित्यिक महत्त्व के आधार पर काल का नाम *'तुलसीदास और राम संप्रदाय'* (1550-1800 ईसवी) तक के समय को देते हैं। तुलसी की कविता का विश्वस्वरूप, भाषाई समृद्धता, उच्च नैतिकता, उद्दात्त मूल्य के साथ ही इस कथा काव्य में जनभाषा का रूप भी मिलता है।

'कबीर और उत्तराधिकारी' संबंधी अध्याय में निर्गुण परंपरा के मलूकदास, कबीरदास, दादू आदि सभी का विवेचन किया गया है और इस कविता की विशेषता रस के आधार पर 'शांत रस' की प्रमुखता केई अपने इतिहास में बताते हैं। रुचि के आधार पर इन कवियों की रुचि साहित्यिक ना होकर धार्मिक ज़्यादा थी। आगे के साहित्यकार कबीर आदि के साहित्य पर इसी तरह साहित्यिकता कमी का आरोप लगाते हैं स्पष्टतया यह केई की दृष्टि का ही वहाँ

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ ई केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-41

प्रभाव दिखाई देता है। कबीर की कविता की अनगढ़ता पर चर्चा करते हुए कविता जो बाकी निर्गुण कवियों से ज़्यादा अनगढ़ बताते हैं, लेकिन काल का नामकरण प्रमुख रूप से कबीर के नाम पर ही किया गया है। बाकी सभी कवियों को अन्य की श्रेणी में रखा गया है।

'कृष्ण संप्रदाय' के नाम से अगले अध्याय का नाम दिया गया है जिसका समय सन् 1550-1800 ईसवी है। इसके प्रमुख कवि सूरदास और अष्टछाप के कवि है। इस काल की काव्यात्मक उत्कृष्टता को केई ने विशेष रूप से उल्लेखित किया है। मीरां के जीवन और सूर की वंश परंपरा में किंवदंतियों का सहारा लिया है।

इस प्रकार देखें तो तुलसी, कबीर और अन्य कृष्णभक्ति संप्रदाय का समय लगभग एक ही हो जाता है। इसका अलग-अलग विभाजन काव्य और कवि के आधार पर किया गया है। केई यहाँ नामकरण में कवि और संप्रदाय को प्रमुख मानकर नामकरण करते हैं।

सन 1800 ईसवी से इतिहास लेखन तक के समय को केई 'आधुनिककाल' नाम देते हैं।

निष्कर्ष-

'इतिहास क्यों?' की जिज्ञासा से शुरू होकर, तमाम प्रश्नवाचक चिह्नों की लगातार खोज करता है। साहित्य का इतिहासकार- रचना, रचनाकार, भाषा शैली, विचार प्रतिपादन की प्रक्रिया के साथ युगीन प्रभावों के विषय में खोज करते हैं। और इस खोज के क्रम में इतिहास तथा साहित्येतिहास एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित होते है। भारतीय इतिहास के संबंध में यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वह प्रारम्भिक दौर (आदिकाल-मध्यकाल) में इतिहास लेखन के प्रति सजग नहीं था। बल्कि इतिहास और परंपरा को एक ही मानकर परंपरा से प्राप्त किंवदंतियों और श्रुति परंपरा से प्राप्त तथ्यों को ही इतिहास मानता था। हिंदी साहित्य का वर्तमान इतिहास लेखन पश्चिमी साहित्येतिहास लेखन से प्रभावित है। कविवृत्त संग्रह से शुरू हुआ यह विकास क्रम इंग्लैंड, जर्मनी, रूस से भी प्रभावित हुआ है। भारत के संस्कृत, पालि, प्राकृत के कवि वर्णनों में इसकी पूर्वपीठिका मिलती है। मध्यकाल और रीतिकाल के कवि अपने संबंध में अंतरसाक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य के रूप में साहित्य में कुछ न कुछ ज़रूर लिखते थे जिससे इतिहास को सामग्री प्राप्त होती है तथा भक्तमाल और वार्ताग्रंथ आलोचनात्मक टिप्पणी के साथ कवि और कविता का परिचय कराने के प्रथम प्रयास के रूप में हमें प्राप्त होते हैं।

गार्सा-दा-तासी के इतिहास में अकारादि क्रम में रचनाकारों को लिखा गया तथा इस इतिहास में हिंदी के कवियों को कम स्थान दिया गया है। तासी का भाषा विषयक दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण और पूर्वग्रह से ग्रस्त है। लेकिन विदेश में बैठकर उनकी भारतीय साहित्य के इतिहास लेखन की लगन अनुकरणीय है। तासी अपने इतिहास में साहित्य के आलावा अन्य अनुशासनों के ग्रंथों को भी स्थान देते हैं। इस इतिहास ग्रंथ में आलोचनात्मक टिप्पणी और काल परिवर्तन पर कोई टिप्पणी नहीं की गई है। ग्रियर्सन ने सबसे पहले हिंदी साहित्येतिहास परंपरा में काल विभाजन करने का प्रयास किया है। इतिहास लेखन को कविवृत्त संग्रह परंपरा से बाहर निकालने का श्रेय इन्हें जाता है।

ग्रियर्सन ने तथ्य संकलन उनकी प्रामाणिकता आदि को आधार बनाकर साहित्य का इतिहास लिखा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिंदी की बोलियों का भी विभाजन किया। इनके इतिहास में समस्त साहित्य कालों का नामकरण चार भिन्न-भिन्न आधारों पर किया गया है तथा यह नामकरण उस काल में रचित सम्पूर्ण साहित्य का प्रतिनिधित्त्व नहीं करता है।

कुछ कालों का नामकरण इतिहास के अनुकरण पर शासकों के शासनकाल के आधार पर किया गया है जो सर्वथा अनुचित सा प्रतीत होता है।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज नागरी प्रचारिणी सभा के सक्रिय सदस्य के रूप में विभिन्न साहित्यिक गतिविधियों के साथ ‘ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर’ नाम से एक हिंदी साहित्य इतिहास की पुस्तक का लेखन भी किये थे। भाषाई दृष्टि से वह ‘हिंदी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी’ के हिमायती नहीं थे। ग्रीब्ज ने साहित्य को उद्देश्य और उसकी मौलिकता की कसौटी पर परखा और विभिन्न साहित्य रूपों का विवेचन अपने साहित्येतिहास में किया।

एफ.ई. केई इतिहास और इतिहासकार की सीमाओं की बात अपने साहित्येतिहास में करते हैं। इस स्वीकार्यता के साथ इतिहास लिखते हैं कि इतिहासकार सम्पूर्ण न्याय नहीं कर पाता। इन्होंने अपने इतिहास में देश, काल, वातावरण को साहित्य का प्रेरक तत्त्व माना। तथा एक साहित्य परंपरा से ही दूसरी साहित्य परंपरा का उद्भव व विकास के साथ-साथ उसका विलोपन होने की बात भी इसी देश, काल और वातावरण के आधार पर होने की बात की।

यह साहित्य प्रवृत्ति बदलाव की प्रक्रिया अपने साहित्येतिहास में केई की आदिकाल की पृष्ठभूमि, भक्तिकाल की पूर्वपीठिका विषयक कई स्थापनाओं को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिना नाम दिए अपने इतिहास में दे दिया है। इस प्रकार पाश्चात्य इतिहास लेखकों की एक पूरी परंपरा ने हिंदी साहित्य इतिहास लेखन को नए आयाम तथा विश्लेषण के प्रतिमान प्रदान कर उसे वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने का प्रयास किया है।

अध्याय-2

सूफी काव्य और पाश्चात्य आलोचना

अध्याय विवरण

2.1- पश्चिमी आलोचकों के संदर्भ में भक्तिकाव्य का विभाजन

2.2- सूफी काव्य और पश्चिमी साहित्येतिहास

2.3- स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक और सूफी कविता

निष्कर्ष

2.1- पश्चिमी आलोचकों के संदर्भ में भक्ति काव्य का विभाजन -

इतिहास हो या साहित्य या फिर ज्ञान-विज्ञान का कोई अन्य क्षेत्र अध्ययन की सुविधा के लिए उसका विभाजन तथा समान गुण-धर्म की प्रवृत्तियों का वर्गीकरण किया जाता है। भक्तिकविता के रचनाकारों के पास यह विभाजनकारी दृष्टि स्पष्ट रूप से अलग रही हो या न रही हो लेकिन बाद में जब हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा गया तो इतिहासकारों/आलोचकों द्वारा भक्ति-पद्धति के आधार पर वर्गीकरण करने का काम किया गया।

अध्याय के इस हिस्से में पश्चिमी आलोचकों की इस दृष्टिकोण से उस आलोचनात्मक दृष्टि को समझने का प्रयास किया जाना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि सगुण कवि, निर्गुण उपासना या कविता से एकदम परहेज कर, उससे दूरी बनाने का काम कविता में कर रहे हों। ऐसा ही निर्गुण कवियों की कविता के संबंध में भी कहा जा सकता है। या ठीक इसके विपरीत भी परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

इस प्रक्रिया में जब पश्चिमी आलोचक अपने इतिहास में साहित्य का वर्गीकरण करते हैं, तो वह क्या पद्धति प्रयोग में लाते हैं? वह कौन से आधार है जिनकी कसौटी पर कविता का वर्गीकरण स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है? क्या इस कविता विभाजन के ऐतिहासिक आधारों की पड़ताल भी इन अध्येताओं द्वारा की जाती है? ऐसे तमाम प्रश्न मुख्य रूप से यहाँ अध्ययन के केंद्र में रहेंगे।

हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक गार्सा-दा-तासी ने इस प्रकार के किसी भी वर्गीकरण को अपनी पुस्तक में स्थान नहीं दिया। जिसका कारण पूर्व में प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है। क्योंकि एक तो वह कालक्रम निर्धारण स्पष्ट रूप से नहीं कर सके और अकारादि क्रम से उन्होंने कविवृत्त संग्रह को प्रस्तुत किया। ग्रियर्सन वैष्णव धर्म की दो प्रमुख शाखाओं राम और कृष्ण को अपने इतिहास में रेखांकित करते हैं। ग्रियर्सन, जायसी पर अपनी चर्चा शुरू करते हुए उस कवि के समन्वित व्यक्तित्त्व के बारे में चर्चा करते हैं- **"इन दोनों संप्रदायों को कुछ देर के लिए अलग छोड़कर हमें एक असाधारण व्यक्ति के सामने रुकना चाहिए जो कुछ बातों में राजपूत चारणों का वंशज था और दूसरी तरफ जिसकी रचना में कबीर के उपदेशों का प्रभाव भी पूर्ण रूप से स्पष्ट था"**[1]**।** जायसी की कविता को ग्रियर्सन वैष्णवों से इतर और कबीर की कविता के समीप देख रहे हैं।

लेकिन हमें यह तथ्य भी ध्यान में रखना होगा कि**'कान्हावत'** जैसे एक कृष्ण काव्य के रचयिता भी जायसी हैं। इस प्रकार अगर कविता के आधार पर मूल्यांकन करेंगें तो जायसी वैष्णव

[1] अनुवाद-किशोरीलाल गुप्त (1957), हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, पृष्ठ -51

भक्ति की कृष्ण काव्य परंपरा में कुछ स्थान अवश्य पा सकते हैं। तो प्रश्न यह सामने आता है कि ग्रियर्सन जो साहित्य के इतिहास में पहली विभाजक रेखा खींचते हैं, उस विभाजन का आधार क्या था?

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज '**हिंदी साहित्य का रेखांकन**' में उनकी भक्ति विषयक विभाजक रूपरेखा को स्पष्ट न कर कविता में मौजूद प्रमुख गुणों को महत्त्व प्रदान करते हैं। **"भक्तिकाल कवियों के स्थान के संबंध में प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि वे गायक, संगीतज्ञ और कवि थे और अपने इन गुणों के कारण उन्होनें जीवन के सभी श्रेणी में हजारों लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। यही नहीं उन्होनें एक विशाल जनसमुदाय की समस्त दृष्टि को अत्यधिक प्रभावित किया"**[1]**।** ग्रीब्ज का विभाजन इस प्रकार है-

1. आदिकाल
2. रचनात्मक काल
3. विस्तार काल

यह विभाजन काव्य के प्रसार के संबंध में ज़्यादा सूचना देता है। वहीं उक्तलिखित उद्धरण इस बात की पुष्टि कर रहा है कि ग्रीब्ज में भक्तिकाव्य की समानताओं जिनमें (संगीतात्मकता) प्रमुख है को पहले स्थान दिया।

ग्रीब्ज विभाजन की किसी एक रेखा को साहित्येतिहास में स्वीकार नहीं करते हैं। बल्कि वह साहित्य की परंपरा में किसी विशेष काव्य प्रवृत्ति को पूर्व परंपरा में और आज समकालीन समय में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान मानते हैं। यह बहुत ही तथ्यात्मक बात है कि, साहित्य में कोई भी काव्यधारा न जल्द किसी समय में एकदम से उदित होती है और न ही एकदम विलुप्त हो जाती है। बल्कि एक विशेष समय और परिस्थिति में उभार को प्राप्त कर उस काल विशेष की कविता की वह मुख्य प्रवृत्ति बन जाती है **"कोई भी विभाजन स्पष्ट रूप से विस्तृत होना चाहिए। वास्तव में किसी काल की कुछ विशेषताओं की जड़ें और असमय पकने वाली उसकी उपज उसके पूर्व युग में पाई जाती है"**[2]**।** शायद इसीलिए ग्रीब्ज भी किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर हिंदी/भक्ति साहित्य का इतिहास लिखते समय कोई विभाजक रेखा नहीं खींचते।

[1] ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ -57

[2] ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-7

बल्कि रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज कबीर के संबंध में जब विश्लेषण करते हैं तो कबीर की कविता में ईश्वर के लिए दिए गए विभिन्न संबोधनों से- वह ईश्वर कौन है? इस एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं। **"इस संदर्भ में कबीर की रचनाएँ अधिक प्रभावशाली हैं। उनकी कविताओं में ईश्वर के लिए बहुत से नाम मिलते हैं। किन्तु संबोधित ईश्वर कौन है? इसका निर्णय करना, यदि यह निर्णय संभव हो, बहुत कठिन विषय है"**[1]**।**

ग्रीब्ज इस साहित्य में भक्ति चेतना की प्रमुखता को उभार के साथ प्रस्तुत करते हैं न कि इस कविता के विभिन्न कवियों के मध्य पाए जाने वाले वैषम्य को महत्त्व दिया है। इनके इतिहास लेखन के 9 वर्ष बाद कविता तथा कुकविता की बहस शुक्ल जी के इतिहास में कई कवियों के संदर्भ में मिलती है, जिनमें प्रमुख रूप से कबीर थे।

इस बात को यहाँ रखना इसलिए जरूरी है क्योंकि बाद के इतिहासकारों ने विभाजन के रूप में '**परिमार्जित शब्द तथा प्रांजल भाषा**' को ज़्यादा स्थान दिया। या कहें कि भक्ति सिद्धांत तथा उपासना की स्पष्टता ही विभाजन का आधार बनती है ग्रियर्सन तथा अन्य पश्चिमी आलोचकों के लिए विद्यापति वैष्णव कवि हैं और आलोचना/साहित्येतिहास में वह कृष्णकाव्य के अंतर्गत आते है। लेकिन शुक्ल जी के आलोचकीय प्रतिमानों के आग्रह उन्हें 'फुटकल कवियों' की श्रेणी में स्थान दिलाते हैं।

ग्रीब्ज इसी विभाजक रेखा को ध्यान में रखते हुए अन्यत्र – **"कबीर की रचनाओं से किसी सुदृढ़ आध्यात्मिक कल्पना की जटिलता का निराकरण हो सकता है। यह संदेहास्पद हो सकता है (उनके आध्यात्मिक विचार बहुत सुलझे नहीं थे)"**[2]**।** कबीर कविता में ईश्वर के लिए सम्बोधन में राम, अल्लाह, रहीम, करीम तथा अन्य नामों का सम्बोधन एक उदासीन भाव से करते हैं। लेकिन उनको राम के आधार पर सगुण कवि नहीं कहा जा सकता है। इन्हीं कुछ कारणों से ग्रीब्ज, कबीर के आध्यात्मिक विचारों को ***'उलझन युक्त'*** कहते हैं। वहाँ सगुण-निर्गुण दोनों की शब्दावलियों का समायोजन प्राप्त होता है। इतिहास में किसी एक विभाजक रेखा द्वारा वह भक्ति साहित्य में विभाजन नहीं करते हैं।

एफ.ई.केई अपने साहित्य इतिहास में अध्याय- 4 का नामकरण '**आरंभिक भक्त कवि**' नाम से करते हैं। वह भक्ति के उदय के संबंध में 'मुसलमानों के आक्रमण' को प्रमुखता से ज़िम्मेदार मानते हैं। केई ने इस आंदोलन की धाराओं के विभाजन पर विचार किया है- **"उत्तर भारत का वैष्णव आन्दोलन उस समय रामोपासक, कृष्णोपासक तथा निर्गुणोपासक तीन भागों**

[1] ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-12

[2] ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ- 53

में बँटा था। किन्तु अनेक तत्त्व इन तीनों समूहों में सामान्य रूप से पाए जाते थे। भक्तों के प्रति प्रेम और दया से भरपूर वैयक्तिक ईश्वर ही सबका आराध्य था”[1]**।** केई के विभाजन में राम, कृष्ण और निर्गुण का विभाजन स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है। लेकिन इसमें एक समानता का रूप भी केई ने रेखांकित किया है। इसमें सभी एक वैयक्तिक ईश्वर की आराधना कर रहे हैं। यानी कि कहीं न कहीं सभी कवियों की कविता की ज़मीन एक है।

आगे के इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी विभाजन को अपने इतिहास में आधार बनाया और ज़्यादा वैज्ञानिक रूप से आगे बढ़ाया। इस प्रकार देखा जाये तो शुक्ल जी के भक्ति के उदय विषयक अवधारणा पर तथा इतिहास में विभाजन विषयक दृष्टि पर एफ.ई.केई का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकविता के निर्गुण पक्ष को अलगाते हुए- **“यह सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ जो कभी ब्राह्मणवाद की ओर ढलता था और कभी पैग़म्बरी ख़ुदावाद की ओर यह निर्गुण पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ”**[2]**।**

महाराष्ट्र के भक्तकवि नामदेव की कविताओं में शुक्ल जी इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं पाने पर उन्हें निर्गुण-सगुण में स्थान नहीं देते हैं। अभंगों के अतिरिक्त नामदेव की हिंदी रचनाएँ जो प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। उनमें कुछ रचनाएँ सगुणोपासक रचनाएँ हैं और कुछ निर्गुणोपासक रचनाएँ। यहाँ पर भक्तिकविता के रचनाकार के उस स्वरूप का ठीक से उद्घाटन हो रहा है, जो भक्ति काव्य का मूल केंद्र है और **‘भक्ति ही उसका प्रतिपाद्य है’**।

निर्गुण-सगुण विभाजन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इतिहास में एक विशेष बात की ओर इशारा भी करते हैं- **“सगुणोपासक भक्त भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है। पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है, निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिए छोड़ देता है”**[3]**।** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना यह है कि सगुण भक्त कवि, निर्गुण-सगुण दोनों में आस्था रखता है लेकिन भक्ति और उपासना के लिए सगुण का चयन करता है। वहीं निर्गुण भक्त के पास सगुण ईश्वर की स्वीकार्यता नहीं है। स्पष्ट शब्दों में न कहकर शुक्ल जी सगुण भक्ति के पक्ष को यहाँ सामने रखते हैं लेकिन उनका संपूर्णता में मन्तव्य यही है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक ‘**मध्यकालीन धर्मसाधना**’ में भी इसी विभाजन के उपरांत प्राप्त निष्कर्षों पर बात की है। स्पष्ट रूप से ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों में

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर, पृष्ठ- 31

[2] शुक्ल,आचार्य रामचन्द्र,हिंदी साहित्य का इतिहास,लोकभारती प्रकाशन,पृष्ठ-42

[3] शुक्ल,आचार्य रामचन्द्र,हिंदी साहित्य का इतिहास,लोकभारती प्रकाशन,पृष्ठ -45

आधारभूत अंतर क्या आ जाता है? या फिर किसी एक उपासना पद्धति, भक्ति पद्धति चुन लेने के बाद उसमें दूसरी भक्ति पद्धति से क्या भिन्नता होती है? वह दो रूपों की बात मुख्य रूप से करते हैं –

1. भगवान का वह रूप जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते विवेचना नहीं कर सकते,व्याख्या नहीं कर सकते इसे इंद्रियातीत भी दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है।
2. दूसरी भक्ति पद्धति के संबंध में जो रूप के भक्त चित्त में भाव से प्रकट होता है और उसके समस्त मनोविकारों के बंधन में बंधा रहता है। इस ईश्वर से भक्त अपना व्यक्तिगत जुड़ाव महसूस करते हैं तथा अपनी स्थिति-परिस्थिति में ईश्वर को सहारे के रूप में देखते है।

लेखक ने भक्तिधारा की उस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाया है जो अक्सर ओझल हो जाती है। अगर ईश्वर का कोई रूप और आकार नहीं है, तो उसका नाम कैसे हो सकता है? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार **"जिस वस्तु का रूप नहीं होता उसका नाम भी नहीं होता। परंतु मध्ययुग के भक्तों में भगवान के नाम का महात्म्य बहुत अधिक है। मध्ययुग की समस्त धर्मसाधना को नाम की धर्मसाधना कहा जा सकता है"**[1]**।** आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन भक्तिकविता में नामस्मरण को धर्मसाधना का प्रमुख अंग मानते हैं। वह सगुण-निर्गुण विभाजन से परे इस भूमि पर दोनों प्रकार के भक्तों को पाते हैं और स्थापित करते हैं कि नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्तों की अपनी विशेषता है। द्विवेदी जी 'नाम और रूप की उपासना' के आधार पर भक्तकवियों की दो धाराओं को मध्यकाल में चिह्नित करते हैं और अपने विभाजन का आधार भी यही ग्रहण करते हैं।

नाम और रूप की साधना के ऐतिहासिक आधारों की पड़ताल अपनी पुस्तक में करते हुए द्विवेदी जी पाते हैं- **"यह बात बौद्ध और जैन साधकों में नहीं थी। नाथ और निरंजन मत के समर्थकों में भी नहीं थी"**[2] यह भक्त कवियों की भक्ति साधना में अपनी मौलिक उपज है और इसी को निर्गुण-सगुण विभाजन का आधार द्विवेदी जी बनाने का काम करते हैं।

जॉन स्ट्रैटन हौली, एफ.ई.केई के तीन आधारों को रेखांकित करने वाले विभाजन, शुक्ल जी के विभाजन और हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के नाम और रूप वाले विभाजन से अलग 'एक भावबोध' की बात करते हैं। हौली का मानना है- **"कबीर, मीरां और सूर के नाम जिन भावबोधों के लिए विख्यात हैं, जो भावबोध वर्षों में विकसित हुए हैं और जो 15 वीं - 16 वीं शती में अचानक से हवा में पैदा नहीं हो गए थे। वे अपनी उनकी अपनी परंपरा**

[1] द्विवेदी आचार्य हजारी प्रसाद,मध्ययुगीन धर्मसाधना,राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-

[2] द्विवेदी आचार्य हजारी प्रसाद,मध्ययुगीन धर्मसाधना,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-

को ताक़त देते हैं और उनकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं लेकिन मुझे शक है कि ज़्यादातर कलाकार समय के साथ भावबोधों में परिवर्तनों से अवगत होंगे"[1]**।** जिस भक्तिकाल की उपासना पद्धतियों को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी 'नाम और रूप' में विभाजित करते हैं उसी भक्तिकाल की कविता को हौली भावबोध परंपरा में देखते हैं। भाव की यह परंपरा वह अनंतकाल से पूर्ववर्तियों द्वारा चली आ रही मानते हैं। जबकि द्विवेदी जी इस उपासना पद्धति की जो विशेषता है उस रूप और नाम को भक्तिकाल की कविता की मौलिक उपज मानते हैं।

कबीर, मीरां और सूर की कविता में यहाँ भक्ति पद्धति के आधार पर किया गया विभाजन नहीं बल्कि अन्य आधार हैं। क्या भावबोध अनंत काल से चला आ रहा है? और नाम और रूप इस कविता में अचानक से प्रकट हो गए? कविता के भाव और बोध एक हैं तो वह इतना बड़ा अंतर जो अचानक से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा दर्शाया गया है कैसे संभव हो सकता है?

इसी क्रम में डेविड लारेंजन को शामिल करते हुए अगर विश्लेषित करें तो वह इन सगुण-निर्गुण संतों के जीवनचरित में किंवदंतियों, चमत्कारों तथा जन्म से लेकर मृत्यु तक के उपक्रमों में एक समानता देखते हैं। **"संतों के जीवन की कहानी चाहे निर्गुणी द्वारा कही गई हो या सगुणी द्वारा। यह बहुत अचरज की बात है कि दोनों में ही उनके जीवन की मुख्य घटनाएँ एक जैसी हैं। अंतर है भी बहुत थोड़ा है"**[2]**।** इस पैटर्न में सगुण-निर्गुण संत जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं रेखांकित किया गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि संतचरित लेखकों के समक्ष इनमें उनके समकाल में कोई विशेष अंतर नहीं पाया। चरित लेखक किसी अंतर से परे उन्हें संत मानते थे।

लारेंजन जिस चरित एकरूपता की बात कर रहे हैं, इसी को पुष्ट करते हुए जॉन स्ट्रैटन हौली भक्ति काव्य विभाजन को झमेले के रूप में देखते हैं। वह भक्तकवियों की कविता को एक नई दृष्टि से देखने की माँग करते हैं- **"जब हम त्रिमूर्ति (मीरां, सूर, कबीर) को समग्र रूप में देखते हैं तब निर्गुण-सगुण झमेले को छोड़कर नई दृष्टि डालना अच्छा लगता है। कि उन्हें एक दूसरे के संदर्भ में कैसे समझा जा सकता है। विभिन्न पाण्डुलिपियों से अलग-अलग जवाब मिल सकते हैं और वे हमेशा बाद में किए गए वर्गीकरण से मेल नहीं खा सकते। हमें यह सोचने को प्रेरित करते हैं कि हम भक्तिकालीन कवियों को मिलाकर**

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली,भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-30

[2] लारेंजन, डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-101

बने वर्णपट को एकल, जटिल रंगबिरंगे वर्णपट के रूप में देखें"[1]**।** लारेंजन के एक जैसे संतचरित पैटर्न और हौली के 'रंगबिरंगे वर्णपट' की माँग दोनों ही व्याख्याओं को अगर मिलाकर एक साथ समग्रता में देखा जाए तो दोनों आलोचकों की स्थापनाओं में स्पष्ट विभाजन की कोई गुंजाइश नहीं है। बल्कि भक्तिकाव्य के यह आलोचक भक्तिकविता को एकरूपता में देखे जाने की माँग ज़्यादा करते हैं।

हौली, भक्तकवियों के समाज चिंतन की नज़ीर आज के चिंतकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और इतिहासकारों द्वारा किए गए विभाजन से अलग एक साथ उनकी समाज चिंता में अभिव्यक्त समस्त मानवता के पक्ष को अंगीकृत करने का सुझाव सामने लाते हैं। सगुण और निर्गुण कवियों के कुछ पक्षों को अगर छोड़ दिया जाए तो दोनों धाराओं के कवियों की चिंताएँ एक सूत्र में समान हैं।

हौली आज और आदिकालीन परिवेश दोनों को तुलनात्मक रूप से सामने रखते हैं और भक्तकवियों में ज़्यादा संवाद और लोकतांत्रिकता पाते हैं। वहाँ – **"हम अपनी आज की चिंताओं को भक्तिकाल और उसके आज के क्रियात्मक स्वरूप के संदर्भ प्रदान कर सके। और किसलिए? ताकि हम यह देख सकें कि केवल हमारी चिंताएं ही नहीं हैं जिनके लिए हमें इन संत कवियों और उनके काल के पास जाने की जरूरत पड़ती है ;ताकि हम देख सकें कि आज की चिंताएं जो परस्पर विरोधी होती हैं इस तरह एक साथ फिट हो सकतीं हैं कि वे एक दूसरे की पूरक बन जाएँ जिसकी हमने कल्पना भी नहीं की होगी"**[2]। भक्त कवियों के सामाजिक और धार्मिक सरोकार भले ही भिन्न-भिन्न रहे हों लेकिन वह एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी आज के समाज और राजनीति से ज़्यादा संवादधर्मी और लोकतान्त्रिक हैं। अध्ययन करने पर एक-दूसरे के पूरक के रूप में अपनी कविता में सामने आते हैं। भक्ति कविता की जिस विशेषता को हौली रेखांकित कर महत्त्वपूर्ण रूप से सामने लाने का प्रयास अपनी आलोचना द्वारा कर रहे हैं, उससे भक्तिकविता की विभाजक रेखा और धूमिल हो जाती है। हमें भक्त कवियों की समाज चिंताओं में कोई अंतर नहीं मिलता है और चिंतन के मंच पर हौली समस्त भक्तकवियों को एक मंच पर पाते हैं। इसी आधार पर अपनी आलोचना में हौली द्वारा **'भक्ति परिवार की संकल्पना की गई है'।** भक्ति कविता को एक परिवार के रूप में मान्यता देते हुए इसे इसी रूप में देखने की अपील करते हैं। हौली किसी तरह के स्पष्ट विभाजन को न तो स्वीकार करते हैं और इस कविता के संबंध में कोई विभाजन प्रस्तावित करते हैं।

[1] अनुवाद- अशोक कुमार,हौली, जॉन स्ट्रैटन, भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-38
[2]अनुवाद- अशोक कुमार,हौली, जॉन स्ट्रैटन, भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -41

बल्कि वह इतिहासकारों द्वारा किए गए विभाजन को प्रश्न के रूप में सामने लाते हैं। वह मौलिक भेद करने वाली उस प्रक्रिया को समग्ररूप में रखते हैं और इस भेद को आलोचकों द्वारा किया गया एक ऐसा कार्य मानते हैं जो है ही नहीं। **"जब हम उत्तर भारत की एक महान धार्मिक परंपरा की पहचान करने के किए निर्गुण शब्द का प्रयोग करते हैं तब एक महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि उत्तर भारत में भक्ति साहित्य में, भक्ति साहित्य के क्लासिक दौर से उभरने वाले दो स्वरों में मौलिक भेद कर बैठते हैं। 15 वीं से 17 वीं सदी के बीच इस तथाकथित भक्तिकाल के बारे में लिखते हुए हिंदी साहित्य के इतिहासकार निर्गुण तथा सगुण धाराओं के बीच काफी भेद करते हैं"**[1]। प्रथमतया यहाँ पर इतिहासकारों द्वारा किए गए भेद के आरोपण और उसकी राजनीति की बात हौली द्वारा उठाई गई है। देखने पर यह बात और भी पुष्ट हो जाती है क्योंकि जहाँ हौली भक्ति परिवार की संकल्पना को सामने रखते हैं, वहीं इसी संदर्भ में हिंदी साहित्य के इतिहासकार शुरुआत में ही एक अपारदर्शी दीवार को खड़ा करने का काम अपने इतिहास/आलोचना में करते हैं। जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के संदर्भ में पहले ही देख लिया गया है।

हौली से अलग राय रखने वाले कुछ और विद्वान हैं जो यह मानते हैं कि **"सुसंगत निर्गुण संत परंपरा को सगुण के विचार से जिसे शास्त्रीय भक्ति हिंदी साहित्य में पाया जाता है, आसानी से अलग किया जा सकता है"**[2]। हौली इस अवधारणा को मानने वाले नामों में प्रमुख रूप से शर्तोल वोदिविल, डब्ल्यू एच विल्सन, मैकडोनाल्ड, सुखदेव सिंह आदि विद्वानों का नाम उद्धृत करते है। इस प्रकार भक्ति साहित्य के विभाजन के संबंध में पश्चिम में हमें कोई एकमत प्राप्त नहीं होता बल्कि विभाजन के संबंध में आलोचकों की दो धराएं प्राप्त होती हैं।

कैरीन शोमर अपनी पुस्तक **'द संत'** में भक्तिकाव्य की इन दोनों धाराओं की चर्चा करती हैं। तथा इन दोनों को एक दूसरे से विपरीत अवस्था में पाती हैं – **"भक्ति की एक अलग रीति के रूप में सगुण भक्ति के विपरीत निर्गुण भक्ति की एक अलग संत परंपरा की अवधारणा अपेक्षाकृत नई है। संतमत की एक सुसंगत व्याख्या है और यह कि संत लोग सम्प्रदायगत वैष्णवों से अलग साझी आध्यात्मिक संत परंपरा के हैं। ये विचार 19 वीं सदी के मध्य तक ठोस स्वरूप नहीं ले पाए थे"**[3]। कैरीन शोमर बार-बार इस स्थापना पर ज़ोर देती हैं कि यह दोनों धराएँ एक दूसरे से अलग हैं और एक 'वैष्णव संप्रदाय' तथा दूसरी 'साझी आध्यात्मिक संत परंपरा' है।

---

[1] अनुवाद- अशोक कुमार,हौली, जॉन स्ट्रैटन, भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -88

[2] अनुवाद- अशोक कुमार,हौली, जॉन स्ट्रैटन, भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -89

[3] अनुवाद- अशोक कुमार,हौली, जॉन स्ट्रैटन, भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -89

शोमर भले ही यह स्थापित करने का प्रयास कर रही हैं लेकिन हौली की आलोचना में एक प्रश्न बार-बार प्रमुख रूप से आता है – कि भक्ति काल में ही हम निर्गुण-सगुण धाराओं के बीच स्पष्ट भेद को किस हद तक देख पाते हैं? क्या हम इसे उत्तर भारत में क्लासिक दौर (15 वीं-17 वीं सदी के बीच) में हुए लेखन में उभरता हुआ पाते हैं? दोनों ही प्रश्न बहुत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि यह इस काव्य के लिखे जाने के समय में इसके विभाजन की पड़ताल करते हैं।

इन दो प्रश्नों के बाद वह तीसरा प्रश्न जो – या यह मान लिया जाए कि बाद की सदियों में संप्रदायगत परिभाषाओं के मजबूत होते जाने का परिणाम है? इन्हीं प्रश्नों को केंद्र में रखकर टायलर वाकर विलियम्स ने अपना शोध प्रस्तुत किया जिसका वर्णन आगे विस्तार से किया जाएगा। लेकिन यहाँ इतना देख लेना जरूर आवश्यक है कि यह दृढ़ विभाजन बाद का काम है और हौली अपने विस्तृत सूरदास विषयक अध्ययन में उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत करते हैं- **"मुझे सूरदास के काव्यक्षेत्र का अधिक ज्ञान है और कह सकता हूँ कि उनके नाम से ख्यात प्रारम्भिक कविताएं निर्गुण-सगुण भेद पर उनके काव्य में बाद में जोड़ी गई कविताओं के मुक़ाबले कम ही ध्यान देती हैं। इसमें संदेह नहीं कि विख्यात तथा मधुर तो भ्रमरगीत की कविताएँ भी हैं जो निर्गुण धारा का मख़ौल उड़ाती हैं"[1]।**

सूरदास का भ्रमरगीत निर्गुण उपासना का मख़ौल उड़ाता है लेकिन उनकी कविता का एक दूसरा पक्ष भी है। जब सूरदास विनय के पदों की रचना करते हैं तो उनमें भाषा, रुपक आदि के मामले में सूर, सगुण कवि (तुलसी और मीरां) ही नहीं रविदास और कबीर की पंक्ति में भी खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार कोई एक विभाजक रेखा हौली की आलोचना दृष्टि में सगुण और निर्गुण काव्य का अलगाव नहीं करती है।

दूसरा आधार हौली की आलोचना में संतचरितों में वंशावली निर्मिति के आधार पर है। वह संत कवियों और सगुण कवियों को जब चरित और वंशावली के आधार पर विवेचित करते हैं तो पाते हैं –कि संतचरित वाले निर्मित ढाँचे में संत चरितों के नाम से ख्यात पाठों में वंशावली का बोध कराने वाले संदर्भों को इकट्ठा कर अध्ययन किया जा सकता है। सगुण भक्तों की वंशावली मानवीय कम और पौराणिक संदर्भों के ज़्यादा करीब है। सूरदास, तुलसीदास आदि कवि अपने को गजेन्द्र, अजामिल, अहिल्या जैसे पौराणिक पात्रों का उत्तराधिकारी बताते हैं।

हौली भक्तिकाव्य के विभाजन के लिए जिस प्रविधि को आगे प्रस्तावित करते हैं उसमें पांडुलिपियों को सगुण तथा निर्गुण के आधार पर अलग-अलग बाँट लिया जाए, इससे सगुण-निर्गुण वर्गीकरण मजबूत होगा, इस प्रविधि में इसके बाद वह मुख्य प्रश्न पर आते हैं – इस अलग

[1] अनुवाद- अशोक कुमार,हौली, जॉन स्ट्रैटन, भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -90

करने की प्रक्रिया के बाद भी कुछ पांडुलिपियाँ बच गईं तब क्या किया जाएगा? ये बची हुईं पांडुलिपियाँ अपने में निर्गुण तथा सगुण दोनों का स्वर समेटे हुए होंगी तो क्या वर्गीकरण कर एक तीसरी धारा को भी साहित्य में स्थान देना होगा? हौली सगुण-निर्गुण मिश्रित धारा में ज़्यादा रुचि दिखाते हैं तथा विभाजन के क्रम को समझने में इन्हीं पांडुलिपियों को अपना प्रमुख मूलस्रोत बनाते हैं। इस अध्याय में हौली द्वारा निम्न प्रविधि प्रयोग में लाई गई-

1. कालक्रम पांडुलिपियों में-

इसमें वे पांडुलिपियाँ जिनमें उनकी निर्मिति की तारीख़ दर्ज है, कुछ ज़्यादा समस्या पैदा नहीं करतीं। बल्कि कालक्रम निर्धारण में दिक़्क़त वहाँ पर सामने आती है, जिन पांडुलिपियों में उनके निर्माण का समय नहीं दर्ज होता है।

2. पांडुलिपियों की भौगोलिकता-

पांडुलिपियों के प्राप्ति स्थान के आधार पर भी इनका वर्गीकरण आवश्यक है। इससे कवि के मूल स्थान से उस ग्राफ को खींचने में आसानी होगी जो उसके प्रसार के समय तय किया गया था तथा उन संभावित कारणों को भी पहचानने का प्रयास इस भौगोलिकता के माध्यम से किया जा सकता है, कि वह कौन से कारक थे, जिनके कारण इन कवियों की पांडुलिपियों का प्रसार इसी एक विशेष क्षेत्र या दिशा में हुआ।

3. कविता रचना काल में विभाजन का ग्राफ-

इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य हौली के लिए 'मैं ऐसे सूत्र की खोज में हूँ जिनसे यह पता चल सके कि तथाकथित निर्गुण कवियों और उनके सगुण श्रोताओं के बीच की दीवार उनके अपने काल में कितनी ऊँची थी यानी कि मैं यह अंदाज़ा लगाने का तरीक़ा खोज रहा हूँ कि 16 वीं 17 वीं सदी में और वि. स. 1800 तक में सगुण-निर्गुण खाई कितनी चौड़ी थी'।

पांडुलिपियों में दर्ज कविताओं से उभरे संत-चरित तथा उनमें वर्णित पदों में प्रकट या अप्रकट विभाजन को पहचान कर यह अध्ययन करने का प्रयास हौली के द्वारा किया गया। इस अध्ययन से एक सूत्र प्राप्त कर, इसी प्रविधि को आगे अपनाकर टायलर वाकर विलियम्स ने भक्तिकविता के निर्गुण-सगुण विभाजन के ऐतिहासिक आधारों की पड़ताल की है। जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

निर्गुण संकलनों में जो समस्या ज़्यादा आयी हौली उसे भी रेखांकित करते हैं- **"निर्गुण संकलनों में भी व्यक्तित्त्वों में बड़ी विविधता थी जैसा कि कैरीन शोमर, लिंडा हेस ने अच्छी तरह प्रदर्शित किया है। *'बीजक के निर्मल कबीर,* और आदिग्रंथ के *'घरेलू कबीर'* तथा पंचवानी के *'नरम तथा ज़्यादा रहस्यपूर्ण कबीर'* के बीच अंतर है। फिर यह**

तथ्य भी है कि कबीर पंथ के विस्तार के साथ कबीर का भी विस्तार हुआ”[1]**।** एफ. ई. केई ने अपनी पुस्तक ‘कबीर एंड कबीर पंथ’ में कबीर की पांडुलिपियों में पाए जाने वाले कबीर के इन विविध रूपों को दर्ज किया है और उनके वैष्णव रूप से लेकर ‘कट्टर धर्म विरोधी रूप’ तक की चर्चा की है। इसी के कारण हौली का यह प्रश्न वाजिब है कि निर्गुण संतों का प्रसार समय के साथ हुआ तथा अनुयायियों के द्वारा उसमें मनमाने रूप से अपनी सुविधानुसार विलयन कर लिया गया। जिससे किसी एक छवि के आधार पर कोई भी अंतिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, कि अध्ययन में शामिल कवि की वास्तविक छवि क्या थी?

आदिग्रंथ में हम पाते हैं, कि वहाँ कुछ सम्प्रदायगत सीमाएँ पहले ही तय कर दी गईं थीं। वहाँ पर सगुणभक्ति के प्रमुख कवि जो आलोचकों द्वारा उत्तर भारत में सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध माने गए हैं, का संकलन करते हुए ‘**तुलसीदास**’ का एक भी पद न पाया जाना एक प्रकार के अदृश्य विभाजन को दर्शाता है। आख़िर ऐसा क्या कारण रहा होगा कि तुलसी के मानस के इतने विशाल संग्रह में से आदिग्रंथ के संकलकर्ता ने एक भी पद को स्थान नहीं दिया? इसी के बाद विभाजन की ऐसी व्यवस्थाएं जिनमें संप्रदायगत अलगाव हावी हो गए।

टायलर वाकर विलियम्स-

टायलर वाकर विलियम्स भक्तिकविता के समय को ‘क्लासिक काल’ के नाम से अभिहित करते हैं। इस काल की समय सीमा सन् 1300 ई. से सन् 1600 ई. तक निर्धारित करते हुए भक्त कवियों की कविता में किसी एक प्रतिबद्धता को नहीं बल्कि इसमें भक्ति संबंधी विचारों के बीच एक तरलता,एक पारगम्यता और अनिश्चितता को पाया है। जिसमें एक-दूसरे के मध्य आवाजाही सक्रिय रूप से बनी रही। इसी तरलता और पारगम्यता ने इन रचनाओं को भी लोकप्रिय बनाने में भूमिका निभाई है **“उनके विचारों में निर्गुण-सगुण तत्त्वों का पारस्परिक संबंध सामंजस्यपूर्ण होता था। यद्यपि कि कबीर -तुलसीदास आदि कुछ कवि अपनी रचनाओं में विशेष संप्रदायों तथा परंपराओं की आलोचना करते हैं, इसका मतलब यह नहीं कि वे खुद किसी विशेष संप्रदाय या परंपरा के संदर्भ में लिख रहे थे। वस्तुतः उनके निर्गुण-सगुण भक्ति संबंधित विचारों की समीक्षा करके यह ज्ञात होता है कि वे किसी एक सिद्धांत, दर्शन या वाद के अनुकूल नहीं लिख रहे थे”**[2]**।** टायलर वाकर विलियम्स ने यहाँ मुख्य रूप से दो बातों की ओर इशारा किया है-

1. आपस में भक्तिकविता में एक-दूसरे के मत का विरोध है।

[1] अनुवाद- अशोक कुमार,हौली, जॉन स्ट्रैटन, भक्ति के तीन स्वर,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-102

[2] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-2

2. विरोध करने वाला किसी एक मत के प्रति कट्टर नहीं है।

यानी कि जो विरोधी मत भक्तिकविता में प्राप्त होता है, व्यक्तिगत स्तर का है। वहाँ पर किसी संप्रदाय- बद्धता के साथ विरोध करने का कार्य किसी अन्य संप्रदाय के द्वारा नहीं किया जा रहा था। क्योंकि वह किसी एक वाद या मत को ध्यान में रखकर नहीं लिख रहे थे। हौली भी इसी प्रकार किसी पंथवाद की सीमा से अलग इन भक्त कवियों की कविता को समग्रता में देखने की मांग अपनी आलोचना में करते हैं।

टायलर अपने अध्ययन में यह प्रस्तावित करते हैं कि भक्तिकाव्य में जो विभाजन हमें बाद में प्राप्त होता है वह **"तथाकथित निर्गुण या सगुण परंपराओं या कवि समुदायों का विभाजन कोई पहले से तय नहीं, न ही स्पष्ट, स्थिर या प्राइमाफेसी भेद नहीं था बल्कि इसका निर्माण एक लंबे समय और एक लंबी प्रक्रिया के माध्यम से हुआ था"**[1]**।** इस प्रकार भक्तिकविता का भेद आधारित वर्गीकरण कविता तथा कवि के स्तर पर इतिहास/आलोचना पुस्तकों में आज प्राप्त होता है। वह कोई आधारभूत या काव्य रचना के समय का नहीं है, बल्कि यह विभाजन कविता के अध्ययन और अध्यापन के क्रम में विकसित हुआ है।

कविता रचना के समय में निर्गुण कवि की सगुण में तथा सगुण कवि की निर्गुण सिद्धांतों में निर्बाध आवाजाही थी। वह तंज करता था, आलोचना करता था लेकिन किसी एक मत के प्रति इतना प्रतिबद्ध भी नहीं था कि वह मात्र उसी एक पंथ के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर भक्तिकविता की रचना कर रहा हो। **"वास्तव में उस समय निर्गुण और सगुण की अवधारणायें पारगम्य, लचीली और परस्पर निर्भर थीं। सिर्फ बाद में इन कवियों-जो कुछ विचारधारा कविता तथा लोकप्रियता के संसाधनों के रूप में समझे जा सकते हैं, को अलग-अलग संप्रदायों के द्वारा निर्गुण-सगुण विचारधारा के प्रवक्ताओं में बदल दिया गया"**[2] टायलर वाकर आज इस कविता में मौजूद दृढ़ विभाजन के पीछे मठों से संचालित संप्रदायों तथा पंथों की राजनीति को प्रमुख रूप से ज़िम्मेदार मानते हैं। इन्हीं संप्रदायों ने इन कवियों की कविता को अपनी 'मनचीती राजनीति' के द्वारा इन्हें, विचारधारा के प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत किया लेकिन यहाँ एक प्रश्न टायलर वाकर विलियम्स की स्थापना पर मुख्य रूप से उठ रहा है – कुछ मीरां जैसे कवियों को अगर छोड़ दिया जाए तो भक्तिकविता का प्रत्येक कवि गुरु-शिष्य परंपरा/संप्रदाय के माध्यम से किसी न किसी पूर्व भक्ति परंपरा से सम्बद्ध था। वहाँ के सिद्धांत तथा मान्यताएँ, पूजा-पद्धति अन्य से उसे अलगाते थे तो फिर इन्हें बाद में प्रवक्ता बना

[1]विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007) जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-6

[2] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-7

देने की जिस प्रक्रिया की चर्चा टायलर वाकर द्वारा की जा रही है वह वस्तुतः ज़्यादा तथ्यात्मक नहीं प्रतीत होती।

टायलर वाकर विलियम्स मुख्य रूप से इस कविता की कुछ विशेषताएँ इंगित करने का प्रयास करते हैं-

1. भक्ति कविता एक स्वतंत्र कविता रूप है।
2. भक्ति कविता के कवि, कवियों के रूप में हैं न कि, दार्शनिक के रूप में।
3. विषय, स्वरूप, शैली के रूप में सामान्य तत्त्व प्रत्येक भक्तकवि की कविता में।
4. संवेदना और रचनाओं में ऐसे विशेष तत्त्व भी मौजूद थे, जो एक संप्रदाय विशेष की विशेषता थी। और किसी में उपस्थित अनुपस्थित पाए जाते थे।

भक्तिकविता रच रहे कवि, 'निरे कवि' थे। वह अपनी वैयक्तिक उपासना और विनय को कविता के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। जो कभी-कभी वर्णित होकर किसी विशेष दर्शन के क़रीब पहुँच जाता था। लेकिन कवि द्वारा किसी भी दर्शन को हू-बहू कविता के रूप में दर्ज करने का प्रयास इन कवियों के द्वारा नहीं किया गया। कविता के कुछ धरातल जैसे विषय, स्वरूप, संवेदना आदि पर इनमें एक आंतरिक समानता अवश्य मिलती है।

जिस 'मनचीती राजनीति' की बात भक्तिकविता के संबंध में प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल करते हैं उसी को टायलर वाकर विलियम्स ने विभाजन के संबंध में प्रमुख कारक माना है। विभाजन के लिए संप्रदायों द्वारा की गई राजनीति वाकर को अध्ययन के लिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण लगती है इस संदर्भ में वाकर- **"इन कवियों की रचनाओं में इन रणनीतियों को देखना इसलिए ज़रूरी है कि, हम इस बात को समझ सकें कि क्यों और कैसे भक्ति आंदोलन के बाद के दौर में कुछ ख़ास संप्रदाय कुछ खास कवियों पर क़ब्ज़ा करके उनका इस्तेमाल करने लगे"[1]।** वाकर इस राजनीति के उस अंतःसूत्र को पहचानने का प्रयास यहाँ कर रहे हैं। भक्तिकाव्य और संप्रदाय के मध्य वह कौन से सूत्र थे जो किसी कवि को संप्रदाय द्वारा हथियाने में मदद कर रहे थे? लेकिन यह रणनीति मुझे लगता है की दोतरफ़ा थी।

एक ओर यह कविताएँ सम्प्रदायगत मान्यताओं की पूरक थीं तो दूसरी तरफ कविता तथा कवि के प्रसार और काव्य संरक्षण का काम भी इन संप्रदायों द्वारा किया गया। पूर्व में यह बात समझी जा चुकी है कि कुछ कवियों को छोड़कर कुछ भी, काव्य/कवि/संप्रदाय निरपेक्ष नहीं था। कबीर की कविता के संदर्भ में कबीर जहाँ शुक्ल जी के लिए नाथपंथी शिक्षाओं के प्रचारक हैं

[1] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-8

वहीं टायलर वाकर ने – **“कबीर को सबसे पहले कवि माना है। उसके बाद दार्शनिक”**[1]**।** कबीर की कविता के अनिर्गुण तत्त्वों की पहचान टायलर वाकर करते हुए विरह भाव की कविताओं के स्वर को सगुण भक्ति कविता के स्वर के ज़्यादा क़रीब पाते हैं। वहाँ जो ही स्थिति सगुण कवि द्वारा अपने आराध्य के सामने प्रस्तुत की जाती है। उससे ज़्यादा कबीर का वैयक्तिक संबंध अपने निर्गुण ईश्वर से स्थापित होता है। कविता की इस सगुण-निर्गुण आवाजाही को किंवदंतियों में दर्ज इन संबंधों से भी समझा जा सकता है। रामानंद-कबीर संबंध (यहाँ पर दोनों विपरीत भक्ति पद्धति में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं) रैदास-मीरां संबंध ,कबीर के पदों में सगुण शब्दावली की प्रचुरता तथा भ्रमरगीत में सूर द्वारा सगुण भक्ति करने के पीछे की विवशता को सामने लाकर इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है-

“रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै। सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुनपद गावै” यह विवशता जो सगुण कवि सूरदास द्वारा इस पद में अभिव्यक्त की गई है इस तथ्य को समझने में आवश्यक है कि, भक्त कवियों का मूल कार्य भक्ति करना था। फिर बाद में वह जिस पथ पर चल पड़े उसी का बखान करने लगे। भक्ति पद्धति के इस मिश्रण का विश्लेषण कर टायलर वाकर विलियम्स संप्रदायों द्वारा इन कवियों को दृढ़तायुक्त एक रेखीय कविता करने वाला बनाने का उपक्रम स्वीकार करते हुए सूरदास के संदर्भ में- **“वल्लभवादियों ने अपने वार्तासाहित्य के माध्यम से बाद में सूर को संप्रदाय का प्रवक्ता बना दिया”**[2]**।** टायलर वाकर सूरदास तथा कबीर की कविता का जब तुलनात्मक विश्लेषण करते हैं, तो वह उन्हें आख्यानात्मक शैली में कबीर के समान निर्गुण कविता के ज़्यादा क़रीब पाते हैं। विनय शैली इन कवियों के बीच बहुत बड़ी समानता थी। इसमें भक्तकवियों के मध्य पाए जाने वाले भेद कम हो जाते हैं।

टायलर वाकर विलियम्स आलोचनात्मक शोध द्वारा उस भावभूमि की तलाश करते हैं जहाँ कवि एकमेक हो जाते हैं और विरह की स्थिति में विनय के पदों का गायन करते भक्तकवियों में इस प्रकार की समानता को पाते हैं। वहाँ सगुण-निर्गुण का वह भेद जो आज प्रमुखता से भक्तिकविता के अध्ययन में देखा जाता है नगण्य या नहीं पाया जाता है। इन विषयगत आधारों पर भी कविता तथा कवि के इस पक्ष को देखने की आवश्यकता है। कवि विरह भाव में ज़्यादा सगुण होता है तथा अन्य में जब वह समकालीन समाज, अंधविश्वास आदि पर लिख रहा होता है तो कम सगुण होता है।

[1] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-18

[2] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-18

इन कवियों के बाद सगुण रामभक्त कवि तुलसी पर टायलर वाकर ने अपनी बात रखते हुए उनकी रचनाओं के साथ भी इसी तरह की 'मनचीती राजनीति' करने की संभाव्यता का अनुमान किया है। क्योंकि तुलसी की विशाल कविता में कई आयाम हैं और उनकी छवि तथा अर्थग्रहण को अपने फायदे के मुताबिक लोगों ने ग्रहण किया है **"कुल मिलाकर हम यह देखते हैं कि आधुनिक काल ने धार्मिक और आलोचनात्मक साहित्य में तुलसीदास का निर्माण किया है। निर्गुण मत के कट्टर आलोचक शास्त्र सम्मत सगुणवाद के प्रचंड संरक्षक उस तुलसी के बजाय असली ऐतिहासिक तुलसीदास शास्त्रीय परंपरा और नवीन भक्ति पद्धति के बीच सगुनवादी वैष्णव, धर्मशास्त्र और निर्गुणवादी ज्ञान मीमांसा के बीच खड़े थे"**[1]। तुलसीदास की कविता और व्यक्तित्त्व आज जिस रूप में हमारे सामने है,वह रूप आधुनिक आलोचना की देन हैं। टायलर वाकर का मानना है कि वह सगुण वैष्णव तथा ज्ञानवादी निर्गुण परंपरा के बीच में अपनी कविता में खड़े हैं। उनका जो कट्टर रूप आज प्रचलित है। वह जब कविता लिख रहे थे तब नहीं था, यह रूप बाद की निर्मिति है। इसके पीछे के कारणों की पड़ताल करते हुए टायलर वाकर ने अध्ययन के बाद अनुमान लगाया है – तुलसी अपनी कविता में कहीं भी ईश्वर के निर्गुण रूप का अस्वीकार नहीं करते हैं बल्कि उसे राम के रहस्य का एक पहलू ही मानते हैं इसी प्रकार हम सूरदास की कविता के संदर्भ में भी देख चुके हैं।

तुलसीदास की कविता में तीनों ईश्वरों का वर्णन है - निर्गुण ब्रह्म,सगुण राम और राम(नाम) तीनों निहित हैं तुलसीदास की कविता में जो उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं-

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥

सगुनहि-अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

उदाहरण के रूप में यह तुलसीदास के मानस से कुछ पद यहाँ उद्धृत किए गए हैं। जिनमें दोनों भक्ति- पद्धतियों को तुलसीदास द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। मानस में ईश्वर विषयक एक प्रसिद्ध पद-

[1] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,,पृष्ठ-20

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।

तुलसीदास के इस पद की तुलना यदि रैदास के एक प्रसिद्ध पद से की जाए जिसमें वह निर्गुण ईश्वर की विशेषताओं को वर्णित करते हुए –

गगन धूर धूसर नहीं जाकै, पवन पूर नहीं पांनी।
गुन बिगुन कहियत नहीं जाकै, कहौ तुम्ह बात सयांनीं।

यदि रैदास और तुलसीदास के इन पदों की तुलनात्मक रूप से व्याख्या की जाए तो कोई विशेष अंतर लक्षित नहीं होता है। टायलर वाकर विलियम्स, तुलसीदास के संबंध में निष्कर्ष प्रस्तुत करते समय कहते हैं – **"तुलसी किसी एक सिद्धांत का अनुसरण नहीं कर रहे थे। उन्होंने सहजबोध के आधार पर अपना मत गढ़ा"**[1]**।** फिर वह कौन से कारण थे जिसके द्वारा तुलसी की छवि कट्टर हिन्दू समर्थक की गढ़ दी गई? तथा इस छवि को गढ़ने के पीछे कौन सी शक्तियां कार्यरत थी? और उन्होंने 'अपनी मनचीती राजनीति' में उसे किस प्रकार फिट किया? इन सभी सवालों के साथ तुलसी की कविता से संवाद किया जा सकता है। लेकिन वाकर ने फिलिप लुटगेनडॉर्फ की उस स्थापना को यहाँ उपयोग में लेकर समझने का प्रयास किया कि मध्यस्थ भक्त कवि तुलसी की कट्टर तथा सम्प्रदायगत छवि गढ़ने में क्या काम कर रहा था? **"फिलिप लुटगेनडॉर्फ ने इस बात की ओर इशारा किया है कि प्राचीन भारतीय (अर्थात हिन्दू) धर्म के रक्षक के रूप में तुलसी का चित्रण काफी हद तक 19 वीं सदी के अंतिम दौर में चले 'सनातन आंदोलन' का परिणाम था"**[2]**।** अपनी रचनाओं में राम के नाम पक्ष पर लिखते समय तुलसीदास निर्गुण कवियों के ज़्यादा करीब होते हैं। उनकी संवेदना, विचार, भाषा आदि सगुण से कम तथा निर्गुण से ज़्यादा मेल खाती है।

लेकिन 'सनातन हिन्दू आंदोलन' जिसके मूल में विशुद्धतावाद था। इसमें इस्लाम तथा अन्य धर्म संप्रदायों को तथा उदारवादी तत्त्वों को चुन-चुनकर हर स्तर से अलग किया। और हिन्दू धर्म की सनातनता जो **'इन सब से अछूता हो'** को स्थापित किया गया। लुटगेनडॉर्फ ने तुलसीदास की इस छवि को आधार प्रदान करने वाली कृतियों मे 'गोसाईं चरित' तथा 'गौतम चंद्रिका' को प्रमुख माना है।

[1] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-31

[2] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ -31

इसी क्रम में 20 वीं शताब्दी के प्रथम दशक के आलोचना के इतिहास की इस छवि निर्माण में बड़ी भूमिका है। क्योंकि रामचन्द्र शुक्ल ने निर्गुण को लोकधर्म के विरोधी धर्म के रूप में देखा है और निर्गुण कवियों की कविता को **कविता मानने तक से इनकार** कर दिया। उस कविता को विशेषकर कबीर के संदर्भ में प्रचार मात्र माना है। अपने इसी सनातन राष्ट्रवादी प्रयोजन के कारण आचार्य शुक्ल तुलसीदास की कविता को इन सबसे इतना अलग कर देते हैं कि दोनों ही एक दूसरे से एकदम विपरीत और विरोधी के रूप में आलोचना में प्रस्तुत होते हैं।

इस दिशा में कालक्रमिक पांडुलिपियों के माध्यम से विभाजन को समझने की जिस विधि को जॉन स्ट्रैटन हौली द्वारा प्रस्तावित किया गया था, उसका उपयोग अपने अध्ययन में टायलर वाकर करते हुए भक्ति काव्य के विभाजन के ऐतिहासिक आधारों की पड़ताल करते हैं और अपने अध्ययन में पाते हैं – **"फिर भी क्या यह विचारणीय नहीं है कि भक्तिकाल के इस दौर के प्रारम्भिक अधिकांश पद संग्रह (चौदह में से 10 या दूसरे शब्दों में 72 प्रतिशत) निर्गुण-सगुण भेद को न मानकर दोनों धाराओं के कवियों का समावेश करते हैं"**[1]**।** इन पदसंग्रहों के आधार पर यह निष्कर्ष जो 72 प्रतिशत संग्रहों में विभाजन को किसी भी रूप में नहीं पाता है, बल्कि पंथवादी आग्रहों से किए गए संकलनों में यह विभाजन हमें प्राप्त होता है।

टायलर वाकर ने कालक्रम के आधार पर पांडुलिपियों का अध्ययन करने पर-

सन् 1701-1750, सगुण-निर्गुण मिश्र संग्रह – 1 प्राप्त है

सन् 1751-1800, सगुण-निर्गुण मिश्र संग्रह – कोई भी प्राप्त नहीं

सन् 1857 से अब तक, 76 संग्रह प्राप्त, 25 निर्गुण, 24 कृष्ण काव्य, 7 रामकाव्य

टायलर वाकर ने अध्ययन में पाया कि 1600 ईसवी से पूर्व जो भी संग्रह संकलित किए गए, उन संग्रहों की कविताओं में निर्गुण-सगुण का कोई प्रश्न नहीं था। उन संकलनों में राग, विषय, उत्सव, ऋतु, इष्टदेव आदि के अनुसार विभाजन करने का प्रक्रम किया गया था। उपरोक्त कालक्रमिक वर्णन अध्ययन से भी यही सिद्ध हो रहा है कि समय के साथ-साथ आगे बढ़ने पर भक्ति कविता में अलगाव की प्रवृत्ति ज़्यादा बढ़ी है।

इसमें 'पंथवादी कविता' में समय के साथ जब प्रसार हुआ तो उसमें इन तत्त्वों का विलयन भी हो गया। इसे इटैलियन विद्वान 'मार्का डोला टोम्बा' ने कबीर के संदर्भ में लक्षित किया। जिसे टायलर वाकर ने उद्धृत करते हुए- **" हलाकि कबीरपंथी साधु अरूप, अनाम परमात्मा को**

[1] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ-

मानते थे फिर भी वे साकार नारायण और निरंजन को भी मानते थे तथा कबीर पंथ के अंदर भवानी (दुर्गा) की भी पूजा होती थी"[1]**।** कबीरपंथ में नवदीक्षित अनुयायी अपनी पूर्व उपासना पद्धतियों को पूरी तरह नहीं छोड़ पाते थे। इस कारण भी भक्ति तथा उपासना की इस पद्धति का मिश्रण बाद में प्राप्त हो जाता है। यह उस समय में प्रचुरता में रहा होगा जब पंथ की स्थापना हुई होगी। पंथ की मान्यताओं की दृढ़ता तब ज़्यादा नरम और पारदर्शी रही होगी और भक्ति काव्य का विभाजन उतना ही नगण्य जितना टायलर वाकर ने अपने अध्ययन में दिखाया है,जो बाद में समय के साथ दृढ से दृढ़तर होता गया।

[1] विलियम्स,टायलर वाकर,भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,पृष्ठ -73

2.2- सूफीकाव्य और पाश्चात्य साहित्येतिहास –

गार्सा-दा-तासी और सूफी काव्य-

पाश्चात्य हिंदी साहित्य इतिहास लेखकों ने सूफी कविता के विभिन्न पक्षों पर अपना आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। जिनमें प्रमुख रूप से मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य पर ज़्यादा ध्यान दिया गया है। प्रथम हिंदी साहित्य इतिहास लेखक गार्सा-दा-तासी ने अपने इतिहास में अकारादि क्रम से जायसी के जीवन, व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

तासी, जायसी के नाम, धर्म और एक रचना 'पद्मावती' के नाम की संक्षिप्त चर्चा अपने इतिहास ग्रंथ में करते हैं। तासी, जायसी को कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास की तरह इसी क्रम में रखते हुए जायसीदास के नाम से स्थान देते हैं। **"जायसी (मलिक मुहम्मद) जिन्हें 'जायसीदास' भी कहा जाता है। जो उनके हिन्दू से इस्लाम धर्मानुयायी बनने की ओर संकेत करता प्रतीत होता है"**[1]**।** तासी जायसी को हिन्दू मानते हैं। जिनका नाम जयसीदास था। जो बाद में मुसलमान बन गए थे। लेकिन जायसी के हिन्दू होने के पीछे कोई पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त हुए हैं। कविता और कविता की भाषा के संबंध में राय देते हुए तासी उद्धृत जारते हैं- **"मलिक मुहम्मद जायसी ने (यद्यपि मुसलमान) हिंदुई में कवित्त और दोहरों की रचना की है। इन्होंने उत्तर की उर्दू या हिन्दुस्तानी मुसलमानी में भी लिखा है"**[2]**।** तासी जायसी को यद्यपि मुसलमान कहते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि वह रचना करते समय हिन्दू नहीं थे। और इसी के प्रभाव स्वरूप उनमें दोनो धर्मों के भाषाई तत्त्व मौजूद थे। वह एक धर्मांतरित मुसलमान के रूप में जायसी की पहचान निश्चित करते हैं। जायसी ने अपना अधिकतम काव्य अवधी भाषा में रचा है। लेकिन तासी काव्यभाषा के रूप में **'उत्तर की उर्दू या मुसलमानी हिन्दुस्तानी'** मानते हैं। पद्मावत के संबंध में लिपि विषयक बहस सामने आती है जिसमें विद्वानों के सामने यह तय करने का प्रश्न सामने है कि -जायसी ने मूल रूप से पद्मावत किस लिपि में लिखा? लेकिन तासी भाषा की दृष्टि से इस महाकाव्य को 'उर्दू' में रचित मान रहे हैं। जो कि स्थापित भाषाई मान्यताओं से एकदम अलग है।

क्योंकि पद्मावत आज जिस रूप में हमारे सामने है तमाम बहसों के बाद निष्कर्षतः यह प्रमाणित हो चुका है कि यह ग्रंथ 'अवधी भाषा' में लिखा गया है और इसकी मूल लिपि अवश्य 'कैथी या उर्दू' थी। इस पर बाद की आलोचना में विवाद भी सामने आता है। लेकिन तासी अपनी स्थापना में इस ग्रंथ को 'उर्दू या उत्तर की मुसलमानी' में लिखित मानते हैं।

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -206

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -206

तासी हिंदी साहित्य के शुरुआती इतिहास लेखक थे और उनके पास प्रामाणिक सामग्री का भी अभाव था इसी कारण वह कुछ ठोस स्थापनाएं साहित्य में कवियों के संदर्भ में नहीं दे पाए। यह तासी के इतिहास की सीमाएँ भी हैं। लेकिन तासी के बाद आये इतिहास लेखक जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने जायसी के विविध पक्षों पर विचार किया है-

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन और सूफी काव्य-

जॉर्ज अब्राह्म ग्रियर्सन जायसी के जीवन, कथा विवरण, भाषा, लिपि, भाषयी विकास, पश्चिमी साहित्यिकों से तुलना, कविता में संगीतात्मकता और भारतीय काव्य परंपरा में कथासूत्र तथा पूर्व परंपरा से ग्रहण किए गए तत्व जो जायसी की कविता में पल्लवित रूप से प्राप्त होते हैं का विवेचन करते है।

ग्रियर्सन रामभक्ति और कृष्णभक्ति कविता का विवेचन करने के बाद इतिहास में जायसी के संबंध में **"इन दोनों संप्रदायों को कुछ देर के लिए अलग छोड़कर हमें एक असाधारण व्यक्ति के सामने रुकना चाहिए जो कुछ बातों में राजपूत चारणों का वंशज था और दूसरी तरफ जिसकी रचना में कबीर के उपदेशों का भी प्रभाव पूर्ण रूप से स्पष्ट है। मलिक मुहम्मद ने मुसलमान और हिन्दू दोनों आचार्यों से पढ़ा था और उन्होंने अपने युग की शुद्धतम भाषा में पद्मावत नामक दार्शनिक महाकाव्य लिखा"[1]।** जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, जायसी को राजपूत मानने के पक्ष में हैं। लेकिन यदि तासी की स्थापना से तुलना करें तो वह उन्हें 'धर्मांतरित मुसलमान' अवश्य मानते हैं, लेकिन उनके वंश को निर्धारित नहीं करते हैं। ग्रियर्सन, कबीर का प्रभाव किन अर्थों में जायसी पर लक्षित कर रहे हैं यह हम आगे विवेचित करेंगे लेकिन यह स्पष्ट है कि वह जायसी को मुसलमान न कह 'हिन्दू धर्म -मुसलमान धर्म दोनों आचार्यों से शिक्षा प्राप्त' करने वाला मानते हैं। भाषा विषयक विचार करते हुए तासी 'उत्तरी भारत की उर्दू या मुसलमानी हिंदवी' में 'पद्मावत' को रचित बताया है। लेकिन ग्रियर्सन इसे **'शुद्धतम भाषा'** में रचित मानते हैं।

जायसी के 'पद्मावत' को ग्रियर्सन ने एक दार्शनिक महाकाव्य माना है। इसके सम्पूर्ण कथाक्रम में दर्शन व्याप्त है जो अंत में इस दुनिया की असारता के संदेश के साथ समाप्त होता है। पद्मावत के कथाक्रम में रूपकों का ऐसा संयोजन किया गया है कि कथा रूपक काव्य बन पड़ा है- **"स्पष्ट भाषा में कहता हुआ भी यह ग्रंथ एक रुपक काव्य है, जिसमें बुद्धिमत्ता के लिए आत्मा की खोज और वे सभी कठिनाइयाँ एवं दुर्लभ जो उस पर यह यात्रा करते समय आक्रमण**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-

करते हैं वर्णित हैं”[1]**।** ‘पद्मावत’ में रूपकों को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करते हुए कथा को आगे बढ़ाते हैं।

एक तरफ जब वह जायसी के जीवन पर विचार कर रहे होते हैं तो ‘राजपूत चारणों का वंशज’, जायसी को बताते हैं लेकिन जब वह आगे इसका विश्लेषण विस्तार से करते हैं तो उन्हे **‘मुसलमान फकीर’** के रूप में वर्णित करते हैं। ग्रियर्सन की आलोचना में यह ततथ्यात्मक विरोधाभास देखने को मिलता है। शुरुआत में वह हिंदी-मुस्लिम गुरु से शिक्षा प्राप्त करते हैं, यही लिखकर आगे बढ़ जाते हैं।

“मलिक मुहम्मद का आदर्श अच्युत है और इस ‘मुसलमान फकीर’ के सम्पूर्ण काव्य में अपने देशवासी हिंदुओं के कुछ महात्माओं की सी विशाल उदारता और सहानुभूति की दिशाएं सर्वत्र प्रवाहित हैं। जब कि हिन्दू लोग अभी अंधेरे ही में उस प्रकाश के लिए टटोल रहे थे, जिसकी झलक उनमें से कुछ को मिल भी गई थी”[2]**।** ग्रियर्सन, जायसी के आदर्श जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों के प्रति गहरी सहनुभूति प्राप्त होती है, की प्रखर वाणी थे। जिस एकात्मक सहानुभूति को हिंदू उस समय में खोज रहे थे वह जायसी के काव्य में सहज प्राप्त है।

ग्रियर्सन, जायसी के काव्य का भाषायी दृष्टिकोण से महत्त्व निर्धारित करते हुए उसकी भाषायी अमूल्यता को स्पष्ट करते हैं। क्योंकि यह ग्रंथ जनता की भाषा में लिखा गया है जो 16 वीं शती में प्रचलित थी। यह भाषा प्रांजल तथा शुद्ध है उस दौर में जो भाषा काव्य में प्रचलन में थी उसमें एक प्रकार की जकड़न थी। ग्रियर्सन परंपरा से चली आ रही संस्कृत भाषा की जकड़न इस समय के रचनाकारों में पाते हैं। इस जकड़न को जायसी की कविता में अतिक्रमित किया गया है। वह परंपरा से चली आ रही भाषा के स्थान पर एक ऐसी भाषा में अपनी रचना करते हैं, जो आमजन के रोजमर्रा के कार्यव्यापार की भाषा थी अर्थात् जायसी जनता की भाषा में कविता रच रहे थे। **“परंपरा की श्रंखलाओं में जकड़े हिन्दू लेखक शब्दों को उस प्रणाली पर लिखने के लिए बाध्य थे जिस पर वे शब्द प्राचीन संस्कृत में उनके पुरखों द्वारा लिखे जाते थे, न कि उस रूप में जिसमें उस समय बोले जाते थे”**[3]**।** जायसी अपनी कविता में एक ओर भाषा के परंपरावादी वर्चस्व को तोड़ रहे थे तो दूसरी ओर वह अवधी की कविता को फारसी लिपि में रच रहे थे। हालांकि ग्रियर्सन के इस लिपि संबंधी मत पर विद्वानों की एकराय नहीं बन पाई है लेकिन ग्रियर्सन ‘पद्मावत’ की लिपि को फारसी ही मानते है- **“मलिक मोहम्मद ने इस परंपरा की चिंता नहीं की और अपना ग्रंथ फारसी लिपि में लिखा। उसके उच्चारण का विशेष ध्यान रखा। यह फारसी पद्धति पूर्ण नहीं थी क्योंकि परंपरानुसार इसमें स्वर बहुत कम**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-51

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-51

[3] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ- 51

लिखे जाते थे। फिर भी पद्मावत में प्रत्येक शब्द का व्यंजन समूह उसी रूप में हमें मिलता है, जिस समय रचना करते समय बोला जाता है"[1]। जायसी फारसी लिपि में भी उन व्यंजनों का संयोजन इस प्रकार कर रहे थे। कविता में बोली का मूल रूप भी विकृत ना हो और बोली अपने मूल रूप में सुरक्षित रहे यह चुनौतीपूर्ण इसलिए था कि कई व्यंजन जिनका उच्चारण अवधी में होता है। फारसी में उनके लिए वर्ण नहीं थे। लेकिन इसे भी जायसी ने अपनी कविता रचते हुए साधा है।

जायसी के इस भाषायी विकास में योगदान के कारण ग्रियर्सन, जायसी की कविता के बाद 'भाषा का शैशवकाल समाप्त' मानते हैं। मलिक मुहम्मद के साथ 'हिंदुस्तान के भाषा साहित्य का युवाकाल' शुरू मानने की मांग ग्रियर्सन ने की है। इस भाषायी विकास की प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए ग्रियर्सन ने लिखा - **"विशाल देव के इस बच्चे में अब स्पंदन हुआ और उसे विदित हुआ कि अब वह दृढ़ और सबल हो गया है और गिद्ध के समान अपनी उड़ान लेने के लिए उसने अपने तरुण स्फूर्तिमान पंख पसार दिए"**[2]। ग्रियर्सन इसी भाषायी समृद्धता के कारण जायसी की कविता को भाषा के अध्येता के लिए अमूल्य बताते हैं। क्योंकि जायसी के बाद काव्य की भाषा बोलियों की ओर उन्मुख हुई।

भाषाकवियों के इस साहस ने प्राचीन भाषा से अंग्रेजी की निर्मिति में भी योग दिया यह 'स्पेन्सर' और 'मिल्टन' का उदाहरण देते हुए, जायसी की काव्यभाषा के विकास में योगदान की तुलना ग्रियर्सन हिंदुस्तान में अवधी (भाषा बोली) तथा 'स्पेन्सर' और 'मिल्टन' द्वारा लैटिन से (अंग्रेजी भाषा) के निर्मिति की प्रक्रिया को रेखांकित करते हैं -**"मलिक मुहम्मद और दोनों संप्रदाय के गुरुओं (वैष्णव) को अपना पथ निर्मित करना था और वे अनिश्चय के साथ इस दिशा में अग्रसर हो रहे थे। जब वे लोग रचना कर रहे थे उस समय बोली जाने वाली प्रकृत्या वही थी जो आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाती है। और उन्हें वही हिचक हुई होगी जो 'स्पेन्सर' और 'मिल्टन' को अपनी भाषा में लिखने पर हुई थी। 'स्पेन्सर' ने अशुद्ध प्रणाली ग्रहण की और उसने अपनी फेयरीक्वीन को पुरातनता के साँचे में ढाला। लेकिन 'मिल्टन' ने ठीक पथ पकड़ा यद्यपि उसने भी पहले पैराडाइज लसस्टस को लैटिन में लिखने का विचार किया था और तभी से अंग्रेजी भाषा निर्मित हुई। यही हिंदुस्तान में हुआ प्रारम्भिक भाषाकवियों ने बड़ा साहस किया और उन्हें सफलता मिली"**[3]। पश्चिम और भारत में दोनों जगहों पर परंपरा से हटकर लोक की भाषा में रचना करने में कवियों के समक्ष अपने खतरे रहे होंगे। उन्हें परंपरावादी लेखकों और पाठकों की घोर उपेक्षा और उलाहना का सामना करना पड़ा होगा। जिसका उदाहरण हमें तुलसीदास/नामदेव/कबीर के

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-52

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-52

[3]अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-52

जीवन प्रसंगों से प्राप्त होता है। लेकिन यह लोकभाषा का ऐसा आंदोलन था जो एक बार प्रसारित हुआ तो जनता में स्वीकार्यता प्राप्त करता गया। ग्रियर्सन इसे 'वर्नाकुलर भाषाओं का आंदोलन' कहते हैं। जिसके प्रसार में भक्तकवियों का विशेष योगदान है। टायलर वाकर विलियम जब पांडुलिपियों के आधार पर भक्तिकविता के विभाजन का अध्ययन करते हैं तो वह इस काल की कविताओं का प्रथमतया विभाजन **'रागों'** के आधार पर किया हुआ बताते हैं। इन रागों में संगीत या कहें उन्हें सस्वर गाने में प्रयुक्त स्वर, ताल और तान प्रमुख थे। ग्रियर्सन भक्तिकविता में इसी संगीतात्मकता को प्रमुखता से स्थान देते हुए जायसी की कविता में इस संगीतात्मकता के तत्त्व का कम होना या बिल्कुल न होना बताते हैं।

निःसंदेह कहा जा सकता है कि यह काल कविता और उसकी भाषा के साथ-साथ काव्यकला को सुव्यवस्थित करने का काल था। जायसी के संबंध में ग्रियर्सन अन्य कवियों की कविता से तुलनात्मकता स्थापित करते हुए निष्कर्ष देते हैं –**"मलिक मुहम्मद ने ऐसी कविताएँ लिखी थीं जो अद्भुत रूप से संगीतहीन थीं। तुलसीदास में तो देवों की सी शक्ति थी और अपने सभी समसामायिकों से वे परिष्कार और अनुपात ज्ञान में बहुत आगे थे। लेकिन अन्य प्रारम्भिक रचयिताओं की कृतियाँ उन विद्वानों के कानों में खटकती हैं जो पूर्णरूपेण संस्कृत पदावली के अभ्यस्त हैं"**[1]**।** जायसी की कविता में संगीतहीनता का आरोपण इसीलिए किया गया है क्योंकि वह सूरदास या मीरांबाई की तरह शुरुआत में राग परिचय नहीं लिखते हैं।

ग्रियर्सन ने तुलसीदास के रामचारितमानस को संगीतात्मकता के साथ गायन करते हुए उत्तर भारत में अवश्य सुना होगा इसलिए वह यह कहने में आश्वशत हैं कि '**वह अपने समकालीनों में बहुत आगे थे'।** वर्नाकुलर भाषाओं में रची जा रही इन रचनाओं के रचयिताओं से पूर्व में लिखी गई कुछ रचनाओं को संस्कृत में रचना करने वाले विद्वानों/लेखकों पाठकों द्वारा स्वागत योग्य नहीं माना गया। इन रचनाओं की इस समुदाय द्वारा उपेक्षा की गई। इसीलिए ग्रियर्सन अनुमान के आधार पर यह स्थापना देने का प्रयास करते हैं कि '**संस्कृत के परंपरागत रचनाकारों को ये रचनाएँ अपनी लोकप्रियता के कारण खटकती रहीं होंगी**। वर्नाकुलर भाषाओं में लिखी जा रही भक्तिकविता के माध्यम से एक तो नई परिपाटी का जन्म हुआ और दूसरा महत्त्वपूर्ण काम यह हुआ कि संस्कृत का धार्मिक काव्य पर (खासकर वैष्णव धार्मिक साहित्य पर) जो एकाधिकार था वह इन वर्नाकुलर भाषाओं में रचित संगीतात्मक, सुमधुर साहित्य के कारण समाप्त हो गया। इसी कारण ग्रियर्सन इस काल को कविता के सुव्यवस्थित होने का काल कहते हैं।

[1]अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ 54

ग्रियर्सन अपने इतिहास ग्रंथ में मलिक मुहम्मद जायसी को प्रेम कविता के कवि के रूप में स्थान देते हैं। पद्मावत की भाषा जिसे ग्रियर्सन ने 'गौड़ीय भाषा' कहा है। जायसी के पद्मावत को उस भाषा का किसी मौलिक विषय पर लिखी एकमात्र और प्रथम पुस्तक का दर्जा प्रदान करते हैं। इस विषय में पुस्तक की भाषा में सरलता है फिर भी रूपकों के कारण ग्रियर्सन ने पद्मावत को **"मुझे ऐसा कोई अन्य ग्रंथ नहीं ज्ञात है जिसके अध्ययन में पद्मावत की अपेक्षा अधिक परिश्रम की आवश्यकता हो। यह निश्चय ही अध्यवसाय पूर्ण अध्ययन के योग्य है। क्योंकि साधारण विद्वान को इसकी एक भी पंक्ति स्पष्ट नहीं हो सकती कारण यह कि यह जनसाधारण की विशुद्ध बोलचाल की भाषा में विरचित है इसके लिए जितना भी परिश्रम किया जाए इसकी मौलिकता और काव्यगत और दोनों की दृष्टि से वह उचित ही है"**[1]**।** ग्रियर्सन आलोचनात्मक रूप से यह टिप्पणी तो देते हैं लेकिन अध्ययन में आने वाली समस्याओं के कोई ठोस कारण की पहचान नहीं कर पाते हैं। बल्कि अन्य ग्रंथों से तुलना करते हुए 'पद्मावत' को अन्य ग्रंथों से ज़्यादा क्लिष्ट घोषित करते हैं। यहाँ भी ग्रियर्सन की स्थापनाओं में विरोधाभास ही देखने को मिल रहा है। यदि जायसी अपनी रचना उस बोली में कर रहे थे जो जनता की बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली थी तो उस रचना को जनता के लिए ज़्यादा अर्थग्रहणता से युक्त और सहज तथा सरल होना चाहिए था। इस ग्रंथ को कथ्य के आधार पर ग्रियर्सन मौलिक बताते हैं। अगर इस आधार को भी ग्रहण कर लिया जाए तो काव्यगत सौन्दर्य या अन्य काव्य उपादान समझने में आमजन/आमपाठक को समस्या आ सकती है। लेकिन प्रश्न यह है कि ग्रियर्सन ने क्या साधारण आम जन जो ग्रामीण अंचलों में रहते हैं, जिन्होंने पूरे भक्ति आंदोलन के काव्य को मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित किए रखा, वह जायसी की कविता को नहीं समझेगा? इसका एक भी कारण समझ में नहीं आता है।

कर्नल जेम्स टॉड ने जायसी के पद्मावत के संबंध में कहा है **"मलिक मुहम्मद ने नायक का नाम भीमसी से रतन में बदल दिया जो उस समय मेवाड़ का राजा था, जब यह ग्रंथ लिखा गया"**[2]**।** कर्नल जेम्स टॉड का मानना है कि जब जायसी द्वारा यह ग्रंथ रचित हुआ उस समय इसके पात्र जीवित थे। यानी कि उन सारी स्थापनाओं जिनमें अलाउद्दीन के समय को समेटते हुए कथा का संयोजन किया गया है। वह सत्य नहीं है भीमसी जिसका नाम रतनसेन, जायसी ने माना है वह इनके समकालीन थे और उन्हीं की कथा का वर्णन 'पद्मावत' में है।

टॉड की इस स्थापना का कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण या अन्य विद्वानों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि नहीं की गई लेकिन जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन जिन पूर्ववर्ती कथाओं से इस कथा की उत्पत्ति या कहें मूल कथासूत्रों की तलाश करते है। उसमें एक अन्य 'पद्मावत',उदयन की पद्मावती, रत्नावली आदि का बताते हैं। एक ओर अपनी आलोचना में वह इसकी मौलिकता की बात

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-83

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-84

करते हैं तो दूसरी ओर यह स्थापना देते हैं जिसमें कहा गया **"उन्होंने अपनी कहानी का एक अंश एक अन्य पद्मावत, उदयन की पद्मावती, रत्नावली से भी उधार लिया है। वह अपने नायक को प्रिया प्राप्ति के लिए योगी बना देता है और दोनों रानियों के जलने का दृश्य यद्यपि वास्तविक करूण दुर्घटना से ही प्रेरित है फिर भी यह रत्नावली में आयी हुई परिस्थिति से पूर्ण मेल में है"**[1]**।** ग्रियर्सन ने कुछ पूर्ववर्ती कथा-आधारों के साथ 'पद्मावत' की विकास परंपरा को मानते हुए इस कथा के मौलिकता पक्ष के आधार पर मौलिक भी माना है।

धार्मिक पूर्वग्रहों से अलग होकर अगर किसी कृति को रचा जाए तो वह रचना कितनी उत्कृष्ट हो सकती है। इस पैमाने पर जायसी की कविता उत्कृष्टता की श्रेणी में आती है। ग्रियर्सन कविता के इस पक्ष को प्रभावी और महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उस समय अधिकतर रचनाएँ धार्मिक कलेवर में ही कवियों द्वारा प्रस्तुत की जा रही थीं। लेकिन जायसी उस धार्मिक जंजाल में फंसे हिन्दू मस्तिष्कों के लिए ग्रियर्सन की नजर में एक उदाहरण के रूप में काम करते हैं।

ग्रियर्सन का मानना है कि पश्चिम में पद्मावत से प्रथम परिचय जेम्स कर्नल टॉड ने कराया था। टॉड की पुस्तक 'राजस्थान' में जायसी के संबंध में वर्णन टॉड द्वारा किया गया है। जिसका जिक्र करते हुए जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन लिखते हैं -**"सोलहवीं शताब्दी में एक मुसलमान ने काव्य में एक हिन्दू विषय सर्वथा हिन्दू तरीके से प्रस्तुत किया है। अंग्रेजी पाठकों में इसके प्रचार का श्रेय टॉड के राजस्थान को दिया गया है"**[2]**।** इस प्रकार जायसी के अध्ययन में ग्रियर्सन की जो मान्यताएं हैं उनपर कर्नल टॉड का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज-

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज ने अपनी इतिहास पुस्तक 'हिंदी साहित्य के रेखांकन' में जायसी के काव्य पर आलोचनात्मक विचार किया है। वह जायसी को स्पष्ट रूप से एक मुसलमान कवि तथा धर्मात्मा के रूप में अपने काल का काफी प्रसिद्ध व्यक्ति मानते हैं **"अनेक महान मुसलमान कवियों में वे एक बहुत बड़े धर्मात्मा थे और अपनी चारित्रिक पवित्रता के कारण काफी प्रसिद्ध थे"**[3]**।** जायसी के कृतित्त्व के संबंध में ग्रीब्ज केवल उनकी दो रचनाओं का उल्लेख करते हैं **पद्मावत और अखरावट।** अखरावट का कथ्य सृष्टि की रचना से संबंधित है। इसमें वह सृष्टि-निर्माण का वर्णन करते हैं। ग्रीब्ज के संज्ञान में कवि की एक महत्त्वपूर्ण रचना

---

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-84

[2] गुप्ता, आशा (1948), डॉ ग्रियर्सन के साहित्येतिहास, आत्माराम एंड संस पृष्ठ-118

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ 67

आखिरी कलाम उस समय तक संज्ञान में नहीं रही होगी या उस समय तक अप्राप्त रही होगी। इसीलिए वह जायसी की दो ही रचनाओं को अपने इतिहास में जगह देते हैं।

पद्मावत के संबंध में जायसी तिहरी रुचि जिस कारण से इस ग्रंथ का अध्ययन किया जाना चाहिए को वर्णित करते हैं। यह तीनों रूचियाँ जो इस ग्रंथ को महत्त्वपूर्ण बनाती हैं, निम्नलिखित है-

1. विस्तार पूर्वक कही गई एक मनोरंजक कहानी।
2. एक रुपक समासोक्ति (बान्थान की हौलीवर शैली से मिलती-जुलती)।
3. भाषिक दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व (यह उस काल की इस जिले की किस भाषा में रचा गया था,उस भाषा को आज भी प्रस्तुत कर रहा है)।

ग्रीब्ज कथा की मनोरंजकता/रोचकता, रूपक-समासोक्ति शैली तथा क्षेत्रीय भाषा में काव्य की रचना इन तीनों पक्षों से जायसी की कविता की मूल्यांकन की मांग करते हैं। क्योंकि यह तीन पक्ष ग्रीब्ज की दृष्टि में इस कविता को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। जायसी की 'जनपदीय भाषाई दृष्टि' के संबंध में ग्रियर्सन द्वारा प्रतिपादित किया गया- **"वे कुछ कहना चाहते थे और उसे उन्होनें पूर्णतया ऐसी भाषा में कहा जिसे सब समझ सकें"**[1]**।** एक ओर अपनी आलोचना में जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन पद्मावत की क्लिष्टता को सामने लाकर उसे सबके समझ में जल्द ना आने वाला ग्रंथ कहते हैं। लेकिन जनभाषा में रचित इस ग्रंथ को मानते हुए साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु मानते हैं। भाषाई दृष्टि से इस काव्य को ग्रीब्ज क्लिष्ट ना मान ऐसी भाषा कहते हैं जिसे सब समझ सकें।

लेकिन आज जब भाषा परिनिष्ठता और मानकीकरण के दौर से गुजर रही है, तो क्षेत्रीय बोलियों में बात करना पिछड़ेपन का द्योतक बना दिया गया है। हिंदी भाषा के मानकीकरण का पहला चरण उस दौर में शुरू हुआ था जब एडविन ग्रीब्ज यह इतिहास ग्रंथ लिख रहे थे। साहित्य के 'द्विवेदी युग' में साहित्यिक भाषा की परिनिष्ठता पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाने लगा था और बोलियों में प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दों को मानक हिंदी से बाहर किया जाने का काम शुरू हो गया था। ऐसे में जिसे ग्रीब्ज जायसी के पद्मावत का आधुनिक पाठक कह रहे हैं, वह द्विवेदीयुगीन भाषा के मानकीकरण का पक्षधर पाठक है। पद्मावत की ग्राह्यता और भाषा के संबंध में – **"आधुनिक पाठकों के लिए यह सहज ग्राह्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि साधारणतया जायसी में सोलहवीं शताब्दी में (अवध में) जो भाषा प्रसिद्ध थी,वह आज की भाषा नहीं है"**[2]**।** अवध में जो अवधी बोली जाती रही होगी वह समय के साथ बदलती

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-68

[2]अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-68

रही। यह भाषा विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है। लेकिन ग्रीब्ज के समय में वह परिनिष्ठित हिंदी आंदोलन के द्वारा बदलाव के सोपान तय की होगी।

'पद्मावत' की 'कथावस्तु' कथानक के मूल स्रोत के संबंध में बहस केंद्र में रही है। उसमें कल्पना तथा इतिहास के मध्य क्या अनुपात है? विद्वानों ने इस पर लंबे-लंबे शोध लेख लिखे हैं और हिंदी आलोचना में इस कथा की ऐतिहासिकता और कल्पना तत्त्व की विवेचना की है। ग्रीब्ज इस संबंध में- **"पूरी कहानी वास्तविक इतिहास से ग्रहण की गई है। कवि रचना समाप्ति पर रूपक तत्त्व या समासोक्ति के अर्थ की व्याख्या करता है। चित्तौड़ नगर मनुष्य के शरीर को इंगित करता है। जबकि रतनसेन को उसकी आत्मा कहा गया है तथा अलाउद्दीन पापयुक्त मोह या मायादि है"**[1]**।** पद्मावत की कथा की ऐतिहासिकता पर ग्रीब्ज बिल्कुल भी संदेह व्यक्त नहीं करते हैं। वह इतिहास का कलेवर लिए इस कथा में रूपकों के माध्यम से कथा की 'कहन शैली' को रेखांकित कर प्रत्येक पात्र और स्थान को एक रुपक के रूप में कवि द्वारा कविता में उपयोग में लाने की प्रविधि अपनाने वाला बताते हैं और इस ग्रंथ को भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं।

वह पद्मावत की भाषा में सरलता, सहजता और आकर्षण को मुख्य मानते हैं। भाषा में प्रयुक्त पद- विन्यास और शब्दों आदि में सरलता के साथ-साथ संगीतात्मकता भी ग्रीब्ज रेखांकित करते हैं वह छंदों की मधुरता आदि को महत्त्व देते हुए लिखते हैं **"जायसी का समस्त काव्य वाक्यरचना और भाषा की कृत्रिमता तथा दुर्बोधता के विशिष्ट और प्रशंसनीय विरोधाभास के रूप में प्राप्त परवर्ती काव्य (रीतियुगीन) से बहुत आगे निकाल गया है"**[2]**।** जायसी की भाषा में सरलता, सहजता जो आने वाले युग से भी आगे निकल गई।

जायसी की कविता में निर्गुण-सगुण विभाजन का विश्लेषण करते हुए एक तथ्य निकलकर हमारे सामने आया था, जिसमें प्रमुखता के साथ यह कहा गया था कि **जायसी की कविता में संगीतहीनता है।** जायसी की कविता अपने समकालीनों से संगीतहीन थी या आलोचकों द्वारा स्थापित मान्यता है? लेकिन एडविन ग्रीब्ज जब जायसी की कविता की भाषा का मूल्यांकन करते हैं तो संगीत तत्त्व की मौजूदगी कविता में पाते हैं। वह लिखते हैं- **"वाक्य विन्यास सरल हैं और छंद मधुर एवं संगीतात्मक हैं"**[3] जायसी की काव्य भाषा में संगीतहीनता का आरोप लगाने वाले आलोचकों से इतर एडविन ग्रीब्ज पद्मावत में मधुर संगीतात्मकता का होना स्थापित करते हैं।

---

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-69

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-69

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ- 69

एफ. ई. केई-

एफ. ई. केई साहित्य के विकास को एक सतत प्रवाह के रूप में देखते हैं जो कहीं कम और कहीं ज़्यादा तो हो सकता है लेकिन पूरी तरह से बाधित नहीं हो सकता। केई के इतिहास विषयक विवेचना में इस पक्ष को विस्तार से वर्णित किया गया है। पद्मावत और जायसी के संबंध में विवेचन करते हुए एफ. ई. केई इसे 'चारण काव्य और भक्ति काव्य के मध्य की एक कड़ी' के रूप में देखते हैं। इसका कारण यह है कि एक ओर इस काव्य में युद्ध वर्णन तथा रासो काव्य की तरह विरह और विवाह के प्रसंगों का वर्णन किया गया है तो दूसरी ओर इसे दर्शन और आध्यात्म के माध्यम से वैराग्य तक की यात्रा का वर्णन इसकी कथा में करते हुए संसार की असारता तक ले जाते हैं। इसी कथाक्रम को मुख्य आधार बना **"इस काल की एक विलक्षण रचना यह सिद्ध करती है कि कैसे चरण काव्य भी धार्मिक पुनरुत्थान से प्रभावित हुआ था यहाँ 1540 के आस-पास वर्तमान मलिक मुहम्मद जायसी की पदुमावती थी"**[1]**।** केई चारण काव्य पर भक्ति के प्रभाव के रूप में इस रचना को देखते हैं, क्योंकि वह भी ग्रीब्ज की तरह पद्मावत की कथावस्तु को इतिहास सम्मत मानने के पक्षधर हैं।

वह यह अवश्य निर्धारित नहीं कर पाते कि पद्मावत में वर्णित नायक रतनसेन वास्तव में कौन है? इसलिए किन्हीं रतनसेन की कहानी के रूप में उसे स्थान देते हैं। वह कथा कि ऐतिहासिकता के संबंध में अपने इतिहास में लिखते हैं - **"मलिक मुहम्मद का काव्य चित्तौड़ किलेबंदी की वास्तविक घटना से जुड़े तथ्यों पर आधारित है जो 1303 ईसवी में घटित हुई थी। किन्तु उन्होंने विवरण में कुछ दूसरी कहानियों से भी उधार लिया है"**[2]**।** एफ. ई. केई अन्य कथाओं के संयोजन और इतिहास की घटना को मिलाकर 'पद्मावत' की कथा निर्मिति और उसके बाद काव्य रचना के रूप में मानते हैं।

ग्रियर्सन, कर्नल टॉड के माध्यम से यह स्थापित करते हैं कि जायसी अपने किसी समकालीन राजा की कहानी लिख रहे थे। जो कि एफ. ई. केई से अलग स्थापना है। जायसी लोककथाओं से अच्छी तरह परिचित थे और इन्हीं लोककथाओं की सामग्री का संयोजन कर इतिहास की घटना को मिलाकर आख्यान की रचना की है।

एफ. ई. केई ने जायसी को 'देशभाषा का कवि' कह उनकी कृतियों के लिए साहित्य इतिहास में सर्वश्रेष्ठ स्थान की मांग की है। शुक्ल जी ने जायसी के पद्मावत को 'कैथी लिपि' में लिखा हुआ बताया। लेकिन पूर्व की आलोचना में इसे फारसी लिपि में लिखित माना गया है- **"इस रचना में उच्चकोटि की मौलिकता तथा असाधारण काव्य सौन्दर्य है और इसे हिंदी की**

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर, पृष्ठ- 41

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ- 42

सर्वश्रेष्ठ कृतियों में स्थान मिलना चाहिए"[1]**।** एफ. ई. केई जायसी के पद्मावत को मौलिक काव्य मानते हुए, हिंन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थान प्रदान करने की मांग अपनी आलोचना में करते हैं।

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ- 42

2.3- स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक और हिंदी सूफी कविता-

ए.जी. शिर्रेफ-

सन् 1938 ईसवी में जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन द्वारा किए जा रहे अनुवाद के कार्य को पूरा करने का काम ए.जी. शिर्रेफ ने किया था। जो सन् 1944 ईसवी में पद्मावत के अनुवाद के रूप में 'रॉयल एशियटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' द्वारा प्रकाशित किया गया। मूल पद्मावत के रूप में शिर्रेफ ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित प्रति का उपयोग किया था। इसीलिए इन्होंने भूमिका में जो विश्लेषण जायसी के जीवन और पद्मावत के संबंध में दिया है, वहाँ ग्रियर्सन के साथ- साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रभाव भी लक्षित होता है।

शिर्रेफ ने जायसी को हिंदुस्तान का '*सबसे पुराना देशी कवि*' माना है। इनकी रचनाओं पर कबीर, हिन्दू लोककथाओं तथा मुस्लिम संस्कारों का एक साझा और समन्वित रूप सामने आता है। जायसी के जीवन के संबंध में कई किंवदंतियाँ कविता में प्राप्त होती हैं। जिनके आधार पर मुस्लिमों के बीच एक संत के रूप में जायसी को स्थापित किया गया था । इनके जीवन के अलौकिक पक्ष के रूप में कई किंवदंतियाँ जनस्मृति के माध्यम से प्राप्त होती हैं, जिन पर विजयदेवनारायण साही ने चर्चा करते हुए संतत्व के संबंध में – **"कहा तो यहाँ तक गया है कि, जायसी केवल संत थे। बल्कि पहुंचे हुए सिद्ध थे। उनके आशीर्वाद से संतान पैदा होती थी। इच्छानुसार परकाया प्रवेश कर सकते थे। आदमी से शेर बन सकते थे और उनकी मृत्यु कब और कैसे होगी जानते थे"**[1]**।** साही उन सभी किंवदंतियों पर इतिहास के आधार पर पड़ताल करते हुए प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं। अगर यह सब किंवदंतियाँ सही है, तो आश्चर्य की बात यही है कि क्या आईने-अकबरी, मुख्त-खाबुब-तवारीख में जिसमें उस समय के बहुत से छोटे-बड़े फकीरों का जिक्र है,मलिक मुहम्मद जायसी नाम से सिद्ध पुरुष का उल्लेख क्यों नहीं मिलता है?

साही, शिर्रेफ द्वारा व्याख्यायित किए गए संतत्व की छवि को अस्वीकार करते हैं –**"अगर वे सूफी संत होते तो अपने बाबा व्यक्तित्व की चारों ओर चमत्कार और जादू टोने का घटाटोप बांधकर उबर जाते, जैसा उस युग में आम बात थी। लेकिन वे प्रतिभाशाली कवि ही थे"**[2]**।** इस तरह ना तो अपनी आलोचना में जायसी शिर्रेफ की तरह सूफी माने जाने के पक्षधर हैं और ना ही संत माने जाने के, वह केवल उन्हें एक 'प्रतिभाशाली कवि' के रूप में अपनी आलोचना में स्थान देते हैं।

[1] साही, विजयदेवनरायण ,जायसी (2017), हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद ,पृष्ठ-9

[2] साही, विजयदेवनरायण ,जायसी (2017), हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद ,पृष्ठ-15

जायसी को सूफी मानने की शुरुआत जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने की थी जिसका प्रभाव शिर्रेफ ने ग्रहण किया साही ने इसी संदर्भ में अपनी आलोचना पुस्तक में लिखा –

"तसव्वुफ़ बल्कि सूफी संप्रदाय के चौखट में जायसी को कसने की शुरुआत ग्रियर्सन ने की। ग्रियर्सन ने जायसी को मुस्लिम असेटिक अर्थात 'मुसलमान संन्यासी 'कहा और उनकी सांप्रदायिक लोकप्रियता का बखान किया है"[1]। ग्रियर्सन और ए.जी. शिर्रेफ संत तथा सूफी संन्यासी जैसी शब्दावली जायसी के लिए प्रयोग में लाते हैं जबकि साही अपने अध्ययन में जायसी को एक 'लोकप्रिय कवि' के रूप में स्थापित करते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो जायसी के संबंध में सूफीवाद के साथ संबद्धता का जो विचार किया गया है, वह पश्चिमी अध्येताओं की देन है।

ग्रियर्सन, जायसी का समादर अपने समकालीनों में सिद्ध फकीर के समान मान्यता प्राप्त मानते हैं। लेकिन जैसा कि पूर्व में बताया गया है और जिसका संदर्भ साही ने भी दिया है कि उस समय दर्ज की गई सूफी फकीरों और संतों की सूची में जायसी इस रूप में वर्णित नहीं हैं। केवल एक पहलू जिस पर ज़्यादा जोर दिया जाता है, कि उस समय में दर्ज जायसी ने अपनी कविता में कुछ पीरों और मुरशिदों की वंदना की है।

इस वंदना मात्र से क्या हम यह निष्कर्ष निकाल लें कि जायसी इन गुरुओं के संप्रदाय में दीक्षित थे? वे इन गुरुओं के विचारों से सहमत थे? तथा जिस एक पद जिसके आधार पर बाद के आलोचकों ने जायसी को सूफी बताया **'तन चित्तौर मन राजा कीन्हा'** इस पद को माताप्रसाद गुप्त द्वारा किए गए पाठानुसंधान द्वारा पहले ही प्रक्षिप्त/बाद में जोड़ा हुआ बता दिया गया है।

शिर्रेफ, जायसी की शब्दावली आदि के संबंध में उसमें आये धार्मिक शब्दों जिनमें पंडित, कैलास आदि वह इस्लाम के प्रतिस्थापित शब्दावली के रूप मेंप्रयोग किया हुआ मानते हैं। जहाँ इनका अर्थ संदर्भ मौलवी या जन्नत के समकक्ष है। पद्मावत में वह 'पुराण' शब्द को प्रयोग में लाते हैं। वहाँ उसका अर्थ संदर्भ 'कुरान शरीफ' से जुड़ जाता है। यह सामासिक-शब्दावली जायसी की अपनी निर्मिति थी।

शिर्रेफ ने जायसी के जीवन में घटी किंवदंतीपरक घटनाओं को अपने अध्ययन में दर्ज किया हुआ है। वह उन तमाम मान्यताओं को जिनको विजयदेवनारायण साही ने खारिज किया उन अलौकिकताओं को दर्ज करने का काम करते हैं। पद्मावत को सूफीकाव्य मानने के पक्षधर शिर्रेफ, जायसी की कथा में रूपकों के माध्यम से कही कथा को आलंकारिक सूफी मसनवी के

[1] साही, विजयदेवनरायण ,जायसी (2017), हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद ,पृष्ठ -23

रूप में प्रस्तुत किया। यह इस कहानी के कथ्य को एक 'प्रेमकहानी' के रूप में और 'प्रेमतीर्थ की यात्रा' के रूप में वर्णित करते हैं।

शिर्रेफ इस कहानी के नकलकर्ता के रूप में तुलसीदास को मानते हैं – **"कवि ने अपनी आस-पास की दुनिया में और दो सभ्यताओं की परंपरा और संस्कृति में जो कुछ भी आकर्षणता और सुंदरता पाई उसका एक बहुरूपदर्शक मिश्रण पद्य में बताया जिसकी नकल करने में तुलसीदास को खुशी हुई"**[1] जायसी द्वारा प्रवर्तित लोकभाषा अवधी में कविता करने को बाद में तुलसीदास द्वारा अपनाया गया। लोकभाषा सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक सौहार्द और सहिष्णु शब्दावली आदि जायसी की कविता के वह पक्ष थे जिसने उन्हें स्वीकार्यता प्रदान की।

शिर्रेफ इसी पक्ष को देखते हुए जायसी को '**एकता के पैगंबर**' के रूप में उद्धृत करते हुए - **"उनकी व्यापक सहिष्णुता और समझ ने उन्हें सबसे बढ़कर एकता का पैगंबर बना दिया अब हम उनसे एलिसीयन क्षेत्रों में मिल सकते हैं तो उनसे पूछ सकते हैं, कि क्या उन्होनें मुस्लिम या हिन्दू दृष्टिकोण से अपनी थीम पर विचार किया है? तो मैं कल्पना करता हूँ, वह एक मुस्कान के साथ जबाब देंगें"**[2]**।** जायसी की कविता किसी धार्मिक उलझन से परे थी। वहाँ पर किसी भी स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं था। शिर्रेफ स्वयं जायसी से मिलने पर इस प्रश्न को एक हास्यास्पद नजरिए से देखते हैं और जायसी की कविता को 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैरोकार' मानते हैं। इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हुए वह एक तथ्यात्मक जानकारी का उदाहरण देते हैं- **"सुल्तानपुर के गजेटियर में यह तथ्य दर्ज है कि यह जिला सांप्रदायिक झगड़ों से सदैव मुक्त रहा है और इसमें कवि का जीवंत प्रभाव देखना दूर की कौड़ी नहीं होगी। शुक्ल ने व्यक्तिगत अनुभव के रूप में उल्लेख किया है कि जिन मुसलमानों के घरों में 'पदुमावती' की पांडुलिपि रखी है, वे विशेष रूप से मित्रवत और पक्षपात रहित हैं"**[3]**।** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और ए जी शिर्रेफ, जायसी की कविता को सद्भाव और एकता की कविता के रूप में वर्णित करते हैं और जायसी को एकता के पैगंबर के रूप में घोषित करते हैं। जो एक कवि के रूप में जायसी की कविता की सफलता है। क्योंकि यह मानवीय सरोकारों के साथ मानवीयता के पक्ष में अपने को खड़ी करती है।

विजयदेवनारायण साही भी शिर्रेफ की भांति जायसी के पक्ष को 'मनुष्यता का पक्ष' घोषित करते हैं। जहाँ किसी भी प्रकार का कोई धार्मिक या संप्रदायगत भेद देखने को नहीं मिलता है।

---

[1] ए.जी.शिर्रेफ,पद्मावती(1944) द रॉयल एशिआटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ,पृष्ठ-8

[2] ए.जी.शिर्रेफ,पद्मावती(1944) द रॉयल एशिआटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ,पृष्ठ-9

[3] ए.जी.शिर्रेफ,पद्मावती(1944) द रॉयल एशिआटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ,पृष्ठ-10

थॉमस दे ब्रूइंज- 'रूबी इन द डस्ट'

ए जी शिर्रेफ के बाद जायसी की कविता विषयक अध्ययन में दूसरा नाम थॉमस दे ब्रूइंज का आता है थॉमस ने अपनी पुस्तक 'रूबी इन द डस्ट' में जायसी की कविता और जीवन के विविध संदर्भों पर आलोचनात्मक टिप्पणी की है। जायसी के जन्म, कथा यात्रा का क्रम विशेषताएँ आदि पर थॉमस स्वतंत्र रूप से विचार करते हैं। सूफी शाखाओं के प्रसार के संबंध में थॉमस सन् 1456 ईसवी को एक निर्णायक तिथि के रूप में देखते हैं। निजामुद्दीन औलिया (दिल्ली) की मृत्यु होने के बाद सूफी खानकाहों में एक बड़ा विभाजन देखने को मिलता है। जो विभिन्न नए सूफी केंद्रों के उभरने और उदय होने की परिस्थितियों के निर्माण में सहायक होता है- **"चिश्ती वंश अपनी शाखाओं में विभाजित होने लगा। प्रत्येक का अपना नेता था। इस अवधि के दौरान उत्तर भारत के क्षेत्रीय कस्बों और शहरों के तेजी से विकास के साथ इन स्थानीय खानकाहों का महत्त्व बढ़ गया। धार्मिक अधिकार का दावा अब केन्द्रीकृत नहीं था"**[1]**।** थॉमस ने जायसी का जन्म सन् 1580 ईसवी में होना निश्चित किया है। यानि यह वह समय था, जिसमें ये क्षेत्रीय खानकाहें अपने प्रभावशाली रूप में सामने आ रहीं थीं। जायसी इन्हीं में से एक खानकाह से सम्बद्ध थे। थॉमस कवि के रूप में जायसी को प्रतिष्ठित करने का ज़्यादा प्रयास नहीं करते, जैसा कि विजयदेवनारायण साही के संदर्भ में हमने देखा। थॉमस धर्म से संबंधी सभी प्रश्नों पर विराम लगाते हैं। वह जायसी को न राजपूत चारण मानने के पक्ष में हैं, न ही धर्मांतरित मुसलमान। बल्कि वह जायसी का संबंध उनके नाम में प्रयुक्त **'मलिक'** शब्द से जोड़ते हैं। उससे अर्थ -ग्रहण करते हुए एक नई स्थापना देने का प्रयास करते हैं – **"कवि का नाम- मलिक मुहम्मद जायसी उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का सुराग देता है। मलिक शीर्षक -ईरानी मूल के -भू स्वामिओं की पृष्ठभूमि की ओर इशारा करता है जो तेरहवीं शताब्दी में भारत में चले आये थे"**[2]**।** थॉमस, जायसी को 'ईरानी मूल' का तथा मुहम्मद उनके 'नाम को' एवं जायसी उनके 'निवास स्थान' (जायस) से संबंधित बताते हैं।

जायसी के जीवन में प्रचलित तमाम किंवदंतीपरक आख्यानों को जिनमें विभिन्न चामत्कारिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार के आख्यान को थॉमस **'भारतीय पवित्र पुरुषों की आश्चर्यकथा'** कहते हैं। जनश्रुति और परंपरा से चली आ रही किंवदंतियों पर विचार करते हुए जायसी के जीवन में शासकों से जो भेंट से हुई, वह इन भेंटो को कल्पित मानते है। क्योंकि थॉमस जब इसकी तह में जाते हैं तो प्रामाणिकता तथा पुष्ट प्रमाणों का अभाव पाते हैं। जायसी का समय साहित्य के इतिहास का संक्रमण का समय था और भक्ति के छोटे-छोटे केंद्रों

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-40

[2] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-31

में यह संक्रमण खासकर सत्ता केंद्रों में घनिष्ठता का संघर्ष और बढ़ जाता था **"इन छोटे केंद्रों के नेताओं ने स्थानीय अभिजात वर्ग के प्रभाव और संरक्षण के लिए भारतीय भक्ति और नाथ योगी मंडलियों से प्रतिस्पर्धा की"**[1]। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि स्थानीय शासकों से संरक्षण प्राप्त भक्ति पद्धति का प्रसार में जनता जल्दी ही विश्वास कर लेती होगी और इसी कारण स्थानीय सत्ता के संरक्षण के लिए इन तमाम भक्ति संप्रदायों में इस समय एक प्रतिस्पर्धा आपस में देखने को मिलती है।

जायसी के संदर्भ में देखें तो शासकों से हुई भेंट की कल्पित कथाओं के अतिरिक्त अन्य ऐसी कथाएँ जो यह पुष्ट करतीं हैं, कि जायसी किसी दरबार के दरबारी कवि थे। को थॉमस ने किसी पुष्ट और तथ्यात्मक, ऐतिहासिक प्रमाण की अनुपस्थिति के कारण मानने से इन्कार कर दिया है- **"ऐसा कोई सबूत नहीं है जो यह बताता हो कि दरबारी कवि के रूप में उनकी स्थिति थी। जिनमें वंशावली और अन्य महाकाव्यात्मक आत्मकथाएं बनाना शामिल था। लेकिन यह संभव है कि उन्होंने रहस्यमय कविता को सांसारिक संरक्षकों तक पहुँचाया। जैसा कि 'कन्हावत' में संकेत दिया गया है"**[2]। थॉमस, जायसी के राज्यश्रितता की ओर अपना इशारा कर रहे हैं। वह वैसे भी निराधार है। क्योंकि जायसी की कविता में मिलने वाले आत्मकथनात्मक आख्यानों में इस संदर्भ में कुछ भी प्राप्त नहीं होता है और न ही परवर्ती आलोचकों ने इस पक्ष पर अपनी कोई राय व्यक्त की है।

जायसी की कविता में उनके जीवन से संबंधित वर्णन अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा ज़्यादा प्राप्त होता है। इन्हीं वर्णनों का विश्लेषण करते हुए थॉमस ने इसका उपयोग अपनी आलोचना में कई स्थापनाओं को पुष्ट करने में किया है। प्राथमिक सामग्री के तौर पर कवि वर्णन को जायसी के संबंध में **"अन्य प्रारम्भिक आधुनिक भक्ति या संत कवियों से उपलब्ध जानकारी की तुलना में जायसी के जीवन और प्रष्ठभूमि का विवरण अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और ठोस है। यह माना जाना चाहिए कि विभिन्न प्रारम्भिक आधुनिक परंपराओं और समुदायों के बीच की सीमाएँ तरल थीं और यह कि जायसी के संप्रदाय की अन्य धार्मिक वातावरणों के साथ बातचीत होती होगी। नाथयोगियों के सिद्धांतों और प्रथाओं से उनकी निकटता कविता में स्पष्ट है"**[3]। ऐसा लगता है कि जायसी के काल में उनके प्रतिस्पर्धी नाथ और योगी ही रहे होंगे। क्योंकि 'पद्मावत' में नायक का योगी बनना तथा अन्य प्रतीक जो जायसी ने अपनी कविता में प्रयोग किए हैं वह भी इन्हीं संप्रदायों के ज़्यादा

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-17
[2] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-50
[3] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ -62

निकटवर्ती हैं। भारतीय सूफियों ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए नाथ-योगियों की शब्दावली को अपनाया था।

'पद्मावत' की पांडुलिपि, प्रसार तथा अन्य उपादानों के संबंध में थॉमस ने उस तथ्य की ओर अपना इशारा किया है जो जायसी के संबंध में बहुत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। जायसी के जीवनकाल के 135 वर्ष बाद 'पद्मावत' की पहली पांडुलिपि प्राप्त होती है। यानी कि जायसी के जीवनकाल में पद्मावत का क्या स्वरूप था उस समय की कोई भी पांडुलिपि आज हमें प्राप्त नहीं है। जिस कारण यह तय कर पाना कि जायसी के समकाल में वह किस लिपि में लिपिबद्ध थी? गायन का स्वरूप क्या था? जिन स्रोतों से ये पांडुलिपि बाद में प्राप्त हुई है, उनकी भौगौलिक अवस्थिति क्या थी? इसके लिए विभिन्न प्राप्त पांडुलिपियों पर स्वतंत्र रूप से शोध की आवश्यकता पर थॉमस ने जोर दिया है। माताप्रसाद गुप्त पाठ की प्रामाणिकता तथा प्रक्षिप्तता पर बात अवश्य करते हैं। लेकिन यहाँ वह इस परिवेश का विश्लेषण करने की मांग करते हैं, जिस परिवेश में वह पांडुलिपि विकसित हुई और उस पांडुलिपि के बनने के पीछे के मुख्य कारकों की पड़ताल करने की माँग करते हैं?

यह प्रश्न अभी भी बना हुआ है कि मूल पद्मावत की लिपि क्या थी? थॉमस 'कैथी लिपि' में प्राप्त पांडुलिपियों की विपुलता को देखते हुए मानते हैं कि **"हो सकता है उन्होंने कार्य के प्रसारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई हो"**[1]**।** थॉमस, 'पद्मावत' के प्रसार में *'कैथी लिपि'* की भूमिका को रेखांकित करते हैं। लेकिन स्पष्ट रूप से यह नहीं कहते कि यह ग्रंथ मूल रूप में कैथी या फारसी किस लिपि में लिपिबद्ध किया गया था।

मध्यकालीन काव्य मौखिक रूप से समाज के मध्य व्याप्त था। जायसी की कविता भी इससे अछूती नहीं थी। लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि एक पद्मावत का स्वरूप वह था जो पांडुलिपियों मे दर्ज था और काफी हद तक स्थिर था तथा दूसरा स्वरूप जनता के मध्य रहा। कविता के मौखिक स्वरूप का प्रसार ज़्यादातर अनपढ़ जनता के मध्य होता था – **"कविता का मौखिक प्रदर्शन एक सामान्य और सम्मानित प्रथा थी। इस तरह की प्रस्तुति में भाग लेना, पाठ का आनंद लेने या पढ़ने का एक तरीका था। विशेष रूप से अनपढ़ दर्शकों के लिए जिनकी पांडुलिपियों तक पहुँच नहीं थी"**[2]**।**

थॉमस, 'पद्मावत' की कविता के मौखिक पाठ को प्रसारित करने वाले गायकों के हस्तक्षेप जिसके द्वारा पाठ का कई स्थानों पर परिवर्तन हुआ। यह एक प्रमुख कारण रहा कि पद्मावत का

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-78

[2] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-78

मूल पाठ लगातार दूर होता गया। पद्मावत के वह दृश्य जो ज़्यादा लोकप्रिय होते होंगे, जिन अतिशयोक्तियों को जनता द्वारा ज़्यादा पसंद किया जाता होगा उन्हें दर्शकों और श्रोताओं की मांग पर ज़्यादा समय तक बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता रहा होगा। इसमें विशद विवरण के साथ नए चौपाई-दोहा, श्लोक जोड़ने के लिए पसंदीदा स्थान थे। इन छंदों को दरबारी माहौल के प्रसंगों में जोड़े जाने की ज़्यादा संभावना है। जहाँ कविता में नायक के रूप में सराहना की गई और वीरता के प्रसंगों का वर्णन किया गया हो। इसमें गोरा-बादल, अलाउद्दीन खिलजी आदि का युद्ध यहाँ इस तरह के विस्तार की संभावना पद्मावत के साथ थॉमस ने व्यक्त की है। पद्मावत पर विचार करते हुए इन दोनों 'संवहन स्रोतों' पर विचार करना आवश्यक है। थॉमस इन सबसे अलग प्रिन्ट के आगमन के बाद 'नवल किशोर प्रेस' द्वारा प्रकाशित की गई 'पद्मावत' की प्रति को उन भक्ति संग्रहों के साथ ही प्रकाशित किये जाने के कारण वह इसे इस रूप में देखते हैं कि भक्तिकविता के समकक्ष ही पद्मावत का भी मूल्यांकन करते हैं।

पश्चिमी जगत 'पद्मावत' की कथा से जायसी से पूर्व में परिचित था। यह परिचय सबसे पहले जे. टिफेन्थेलर द्वारा कराया गया था। पुस्तक लेखक ने भारत के आठवीं शताब्दी के भौगौलिक विवरण में '**पद्मिनी रानी'** का जिक्र किया है। सन् 1808 ईसवी में कोलब्रुक ने **'हिंदी कैविटस एण्ड दोहरा'** के रूप में जायसी की कविता को शामिल किया। सन् 1856 ईसवी में 'जर्नल ऑफ रॉयल एशियटिक सोसाइटी' में 'थियोडर पावी' का लेख जिसमें उन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के राजस्थानी कवि 'जटमल' द्वारा पद्मावत की कहानी की तुलना की है। इसके बाद ग्रियर्सन के द्वारा इस कथानक पर लेख लिखे गए।

'पद्मावती' के साहित्यिक संदर्भ जायसी के पूर्व भी भारतीय परंपरा में प्राप्त होते हैं। जायसी तक आते-आते यह परंपरा समृद्ध हो जाती है। क्योंकि इसमें विभिन्न विचार-प्रवाहों का सम्मिलन जायसी के द्वारा करवा दिया गया है। इसीलिए थॉमस, 'पद्मावत' को विभिन्न भारतीय और इस्लामी साहित्यिक परंपराओं के चौराहे पर स्थित मानते हैं। एक ओर भारतीय शास्त्रीय साहित्य था, नाथ-योगियों की उपदेशात्मक कविता थी तो इसमें विभिन्न स्थानीय साहित्यिक परंपराओं के अलावा लिखित-मौखिक साहित्य जो भारतीय इस्लामी साहित्य की विरासत का हिस्सा था। जिसमें प्रमुख रूप से फारसी की रहस्यमय कविता, वीर कहानी कहने की परंपरा आदि का सम्मिलन जायसी की कविता में मिलता है।

यह परंपरा शुरू होती है राजा हर्ष (606-648) से सिंहल में राजकुमारी रत्नावली को प्राप्त करने के लिए, लक्ष्य का पीछा करते हुए वह खतरनाक यात्राओं और आकस्मिक समस्याओं को पार कर शादी करता है। जैन साहित्य में भी इस प्रकार की एक कथा का वर्णन नैतिक संदेश के साथ प्राप्त होता है (भरथरी, गोपीचन्द, विक्रम) जैसे राजाओं की कहानी में भी नाथ-योगी

कहानियों का आधार प्राप्त होता है। इनमें नायक का योगी बन जाना एक कथा उपक्रम के रूप में सामने आता है। यह कथा विन्यास मौखिक परंपराओं में भी उत्तर भारत में बहुत ज़्यादा लोकप्रिय था लेकिन इस **"विरह की पीड़ा के माध्यम से प्रेम की इस पीड़ा को एक सकारात्मक छवि बना दिया जो ईश्वर के लिए तड़प का प्रतीक है। प्रेम जो पद्मावत में योगी राजा रतनसेन के अंतिम लक्ष्य के रूप में चित्रित किया गया है। एक सकारात्मक धारणा है और इश्क की अवधारणा से तुलनीय है, जो सूफी सिद्धांत और फारसी रहस्यमय कविता में प्रमुखता से है"**[1]**।** इस प्रकार थॉमस अपनी आलोचना में चली आ रही कथा-परंपरा में ईश्वर प्राप्ति की पीड़ा से जोड़ दिया और यह रहस्यमयता फारसी सूफी काव्य से कविता में आयी थी।

'चंदायन' इससे पूर्व लिखा गया था। लेकिन 'मुल्ला दाऊद' ने स्थानीय कहानी रोमांस को सूफी रहस्यमयता में बदलने का प्रयास नहीं किया। उनका काम 'ईश्वर के रहस्यमय प्रेम के प्रतीक' के रूप में 'लोरिक' और 'चन्दा' के प्रेम के मंचन में एक नवीनता या प्रयोग का आभास नहीं देता। 'मुल्ला दाउद' ने लेकिन कुछ कथा आधार प्रदान किए जिनका उपयोग जायसी ने अपने पद्मावत में किया है। **"चंदायन पद्मावत के स्तुतिखंड, प्रस्तावना के लिए एक मॉडल भी प्रदान किया। जायसी ने दाऊद की तरह पारंपरिक वस्तुओं का भी उल्लेख किया। जैसे दाऊद ने चंदा की सुंदरता का नख-शिख वर्णन, बारहमासा में लोरिक की पत्नी 'मैना' के विरह का वर्णन, लोरिक की निराशा, जब चन्दा को दो बार सांप काटने से मार दिया जाता है तो वह फिर से जीवित हो जाती है। ये दृश्य कहानी को एक रहस्यमय स्थान देने के लिए रहस्यमय स्थान हैं"**[2]**।** थॉमस ने 'पद्मावत' और चंदायन की विषयगत तथा संरचनात्मक समानताओं की ओर इशारा किया है। पद्मावत की काव्यगत पृष्ठभूमि को खोजने के लिए उन स्रोतों की इतिहाससम्मत पड़ताल करने की अनुशंसा की है, जिनसे चंदायन ने सामग्री ली है। इन आधारों को 'मृगावती' और 'मधुमालती' में नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि इन ग्रंथों की प्रकृति साहित्यिक अधिक थी।

इन ग्रंथों में जहाँ तमाम परंपराओं, काव्य परंपराओं के समन्वय का पक्ष देखा जा रहा है वहीं 'कार्ल- अर्नस्ट का मानना है -**"दक्खिनी में शुरुआती सूफी कविता का उद्देश्य मंडली के भीतर आंतरिक उपयोग के लिए अधिक था, न कि सुधार के लिए"**[3]**।** सूफियों के मध्य प्रचार के लिए दक्कन में सैद्धांतिक रूप से मत से सम्बद्ध कविता लिखी जा रही थी। जिसका उद्देश्य अर्नस्ट स्पष्ट करते हैं। लेकिन जायसी के संबंध में यह अवधारणा पुष्ट नहीं होती, क्योंकि

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-104

[2] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-112

[3] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-113

पद्मावत अगर किसी सूफी संप्रदाय को शिक्षित करने के लिए लिखा गया होता तो उसमें प्राप्त होने वाली शब्दावली जिसमें प्रमुख रूप से हिन्दू धार्मिक शब्दावली का उपयोग किया गया है, कवि द्वारा नहीं किया जाता।

अर्नस्ट भले ही कविता के समन्वयवादी पक्ष को ख़ारिज करने का काम करते हैं। लेकिन जायसी की कविता पर इस प्रकार की किसी भी अवधारणा को आरोपित करना भूल होगी। भारतीय सूफी उत्तर भारत में रहने के साथ-साथ यहाँ के धार्मिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में रच-बस गए और क्षेत्रीय भाषा ज्ञान के साथ ही उन्होंने लोकप्रिय कविता के रूपों को भी जान लिया। इस प्रकार अरबी-फारसी में प्रशिक्षित कवियों ने मिश्र रूप से एक ऐसे काव्यरूप का आविष्कार किया जिसमें सभी तत्त्व मौजूद थे।

भक्ति आंदोलन के उदय के पहले नाथ-योगियों का वर्चस्व इस क्षेत्र में था। थॉमस ने भक्ति की इस पूर्व स्थापित परंपरा से सूफीसंतों और भक्तकवियों के संघर्ष को अपनी आलोचना में दिखाया है। नाथों के साथ दो क्षेत्रों में होने वाले संघर्ष को *'करिश्मा और सत्ता की समीपता'* के रूप में पहचाना है। यह पूर्व में भी विवेचित किया जा चुका है। **"संतों की पौराणिक आत्मकथाओं में दर्ज सूफियों और योगियों के बीच टकराव हमेशा रहस्यमय अनुभव के अनुकूल आदान-प्रदान के उद्देश्य से नहीं थे, बल्कि अक्सर सूक्ष्म रूप से 'प्रच्छन्न सत्ता संघर्ष' के कारण थे। जिन्हें भौगौलिक ग्रंथों में जादुई प्रतियोगिता के रूप में संदर्भित किया गया है"**[1]**।** जिस समन्वय या नाथ-योगी रूपकों की चर्चा पहले की जा चुकी है। जिसके आधार पर पद्मावत की कथा को 'चौराहे' की संज्ञा दी गई। इसके दो पक्ष उभरकर सामने आते हैं। पहला पक्ष जिसमें इस आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार का समन्वय संभव है। दूसरा यह कि जनता की रुचि एकदम से योगियों के प्रति आकर्षण से नहीं हटाई जा सकती थी और नए पंथों और भक्ति पद्धतियों पर लोगों का विश्वास जल्द नहीं जम पा रहा था। इसी कारण उनकी कविता और जीवनचरित में योगियों-नाथों के साथ वार्त्ता और चामत्कारिक संघर्ष को दिखाया गया है। जिसमें *'कबीर-गोरख गोष्ठी'* प्रसिद्ध है। इस प्रकार की कथा सूफीसंतों के जीवनचरितों में भी प्राप्त होती है। इन संतों के साथ योगी-नाथों का संबंध दिखाया गया है।

जायसी द्वारा रतनसेन का योगी रूप धारण करवा कर सिंहलद्वीप भेजना तथा पद्मावत में नाथ-योगी सिद्धांतों में शरीर की अवधारणा का ज़िक्र करते हुए सिंहल के किले को शरीर के रूप में चित्रित करके इन छवियों को बढ़ावा दिया। योगी धातु विज्ञान में पारंगत माने जाते थे। पद्मावत

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-115

की कथा में कई वर्णन इसी धातु विज्ञान को वर्णित करने वाले हैं। थॉमस दोनों रूपों में इन वर्णनों को देखते हैं जिसे सामाजिक दबाव और समन्वय के रूप में रेखांकित किया जा सकता है।

जायसी की सम्बोधन शैली जिसमें वह अंत में दोहा के माध्यम से सीधे श्रोताओं को संबोधित करते हैं। थॉमस इस युक्ति पर संतसाहित्य का प्रभाव मानते हैं मुख्यतःकबीर का और जायसी की तुलना कबीर से करते हुए **“जायसी और कबीर के रहस्यवाद के बीच समानताएँ विभिन्न अध्ययनों का विषय रही हैं। ज़्यादातर इस दृष्टिकोण से कि दो कवियों के काम पर धार्मिक समन्वयवाद किस तरह से देखा जा रहा है”**[1]**।** थॉमस कई स्तरों पर कबीर और जायसी की तुलना करते हैं-

1. रहस्यमय अवधारणाओं का वर्णन करते हुए दोनों कवि नाथ-योगी बिम्ब और स्थानीय अभिव्यक्तियों का उपयोग करते हैं।
2. कविताओं में धार्मिक मनोबल के साथ लोकप्रिय कहावतों का उपयोग दोनों कवियों ने किया है।

लेकिन एक तत्त्व है, जो कबीर की कविता में है और जायसी की कविता में अनुपस्थित पाया जाता है -**‘धार्मिक सत्ता पर कटु प्रहार’।** कबीर किसी भी धार्मिक मान्यता से ऊपर व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके मौलिक चिंतनयुक्त अनुभव को रखते हैं लेकिन जायसी एक अदृश्य सत्ता के प्रति अपना समर्पण व्यक्त करते हैं।

उस वाद-विवाद जिस पर हिंदी अकादमिक की दुनिया में लंबे समय से बहस चल रही है। जिसमें हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में सूफी कविता का स्थान कैसे निर्धारित किया जाए? थॉमस ब्रूइंज भी यहाँ इस प्रश्न को उठा रहे हैं। इस संदर्भ में हमें एक बार फिर विजयदेवनारायण साही की उस अवधारणा की ओर लौटना होगा जिसमें उनका मानना है कि **‘कवि के रूप में जायसी दोहरी उपेक्षा के शिकार हुए हैं’** यह दोहरी उपेक्षा वह मध्ययुग में तथा आधुनिक इतिहास लेखन की परंपरा दोनों ही जगह देखते हैं **“मध्ययुग में सूफी या बाबा होने की कीर्ति उनके काव्य के प्रति आकर्षण पैदा कर सकती थी। वे उपेक्षित हुए क्योंकि किसी सूफी संप्रदाय में उन्हें पूर्णतः पचा लेने की शक्ति नहीं थी। हमने देखा कि उनका ज़िक्र कोई नहीं करता और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब सूफी होने की कीर्ति कवि के दकियानूस और अपरिचित होने के खतरे से जुड़ गई है तब उनके चारों ओर तसव्वुफ़ का लबादा घेर दिया गया। अतःअधिकांश वर्तमान लेखकों और आलोचकों के लिए**

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-118

जायसी अप्रासंगिक हो गए"[1]**।** साही, आलोचकों और समकालीन इतिहास लेखकों के साथ-साथ मध्यकाल में सूफियों द्वारा जायसी की दोहरी उपेक्षा की जिस बात को दोहराते हैं। उसको ही थॉमस उस कशमकश के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे थे। क्योंकि जायसी की कविता किसी एक साँचे में ढलकर बनी हुई कविता नहीं थी। जो सहज ही इतिहासकार के किसी एक फ्रेम में आ जाती।

'पद्मावत' में एक ओर कबीर की कविता से साम्य-वैषम्य को खोजने का काम थॉमस ब्रूइंज अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से करते हैं तो वह रामकथा के प्रारूप को भी इस महाकाव्य में देखते हैं। उन्होंने रतनसेन की दोहरी भूमिका को रामकथा के पाठ द्वारा समझने का सुझाव दिया **"रतनसेन की दोहरी भूमिका को रामकथा के पाठ से समझा जा सकता है। जिसमें प्रेम के लिए तपस्या करके सांसारिक अस्तित्त्व को पार करने की इच्छा रखने वाले राजा को वासना और जुनून से निर्देशित सांसारिक शासक का सामना करना पड़ता है"**[2]**।** थॉमस के द्वारा यहाँ पद्मावत के पात्रों का साम्य रामकथा के पात्रों से बिठाने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा रामकथा की घटनाओं पर प्रेम के विषय का प्रक्षेपण भी इस कथा के अन्य रूपांकनों के संदर्भ का आधार मानते हैं। वह रामकथा के प्रसंगों तथा पात्रों के साथ पद्मावत के पात्रों का संयोजन इस प्रकार करने का काम करते है। यह स्थापित करते हैं कि जायसी की प्रेरणा रामकथा की यह घटनाएँ हो सकती हैं- **"जायसी राम के आदर्श सेवक के रूप में हनुमान के कई लोकप्रिय प्रतिनिधित्वों से भी अवगत थे। जो रामभक्ति के इस चरित्र का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। जब वे वर्णन करते हैं कि कैसे गोरा और बादल सुल्तान की कैद से अपने स्वामी की रिहाई के लिए अपनी जान की बाजी लगा देते हैं तो रामकथा के हनुमान को समर्पित सेवक के उदाहरण के रूप में लाया जा सकता है"।** [3] इन विभिन्न प्रसंगों और नवीन उद्भावनाओं के बाद थॉमस अपनी आलोचना में यह निश्चित करने का प्रयास करते हैं कि शायद तुलसीदास अपनी रामकथा की रचना करते हुए इन्हीं 'सूफी कविता पैटर्न' को उदाहरण के रूप में सामने रखते होंगे। **"इसी तरह यह बहुत बड़ी संभावना है कि तुलसीदास ने सूफी कविताओं के तत्त्वों को रामकहानी के उपदेशात्मक संस्मरण के लिए उपयोग किया"**[4]**।** थॉमस ने जायसी की कविता में जिस 'चौराहे' की बात कही थी वह इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि अगर एक ओर योगी और नाथों की परंपरा थी तो दूसरी

---

[1] साही, विजयदेवनरायण ,जायसी (2017), हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद ,पृष्ठ-49

[2] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-137

[3] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-139

[4] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-140

तरफ वह अपनी कविता में कबीर से प्रभाव ग्रहण कर रहे थे। आगे की रामकाव्य परंपरा के लिए भाषा और कथाक्रम तथा उपदेशात्मकता का मार्ग खोलने का काम कर रहे थे।

हिंदी आलोचना में यह एकदम नई अवधारणा है, जहाँ जायसी से कथा के लिए तुलसीदास ने प्रभाव ग्रहण किया है। वह विभिन्न साहित्यिक विश्लेषण के बाद जायसी में उत्तर भारत के समग्र क्षेत्र की संस्कृति को अंतर्निहित मानते हैं। जायसी का पद्मावत एक 'अंतरपाठीय परिदृश्य' में अध्ययन की माँग करता है। क्योंकि वह न तो 'एकरैखिक कथा' का अनुसरण करते हुए रची गई पुस्तक है। न ही उसे इस आधार पर मूल्यांकित किया जा सकता है। भक्तिकाव्य की कई अन्तर्धाराओं की पहचान जायसी की कविता में की जा सकती है।

जायसी के 'पद्मावत' को यदि शिल्प के आधार पर देखें तो जायसी का शिल्प कुछ नया नहीं करता **"जायसी का शिल्प सामग्री का आविष्कार करने में नहीं, बल्कि मौजूदा कथातत्त्वों को पुनर्व्यवस्थित करने और उन्हें सुसंगत छवियों और रूपकों के माध्यम से एक सुसंगत विषयगत संपूर्णता में संयोजित करने में निहित है"**[1]**।** रामचन्द्र शुक्ल और माताप्रसाद गुप्त ने रस और अलंकार की कसौटियों पर आधारित शास्त्रीय भारतीय काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में जायसी की काव्यशैली और कल्पना का विश्लेषण किया।

इस संदर्भ में थॉमस, जायसी को 'सिद्ध कवि' मानते हैं। काव्य के इन प्रतिमानों से जायसी का परिचय था लेकिन जायसी उस प्रकार कविता की बुनावट नहीं रखते जिस प्रकार काव्यशास्त्र में पारंगत कवि द्वारा रखी जाती है। जायसी 'पद्मावत' में उपदेशात्मकता का एक आभासी प्रदर्शन सामने लाते हैं जिसमें कवि की कहानी संपृक्त है। थॉमस यहाँ साही की आलोचना की तरह ही अस्वीकार करते हैं जहाँ इन प्रेमकाव्य के कवियों को फारसी कथाक्रम का अनुकरणकर्ता मात्र मानकर सारे उन तत्त्वों की खोज कर ली जाती है जो फारसी कविता परंपरा शैली में प्रचलित हैं। भारतीय काव्य की शाखा में वह अलग-अलग मॉडल जो कवि सापेक्ष है तथा मौलिक है इसमें प्रत्येक की अपनी मौलिकता है। वह किसी भी स्तर पर ग्रंथ में प्राप्त हो सकती है। इसी मौलिकता के आलोक में थॉमस यह मानने को तैयार नहीं हैं कि 'हिंदी सूफी कवियों' ने 'फारसी सूफी ग्रंथों' का अनुसरण किया। क्योंकि प्रत्येक कवि अपना अलग और विशिष्ट कविता मॉडल प्रस्तावित कर रहा था।

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-153

उन्होंने प्रस्तावना को चौपाई-दोहा प्रारूप में एकीकृत किया जो पूरे पाठ में उपयोग किया जाता है। फारसी ग्रंथों की तुलना में अवधी कविताओं में प्रस्तावना अधिक संक्षिप्त है तथा प्रत्येक विषय को एक या दो चौपाई तक सीमित करती है।

'जिस कीनहेसि'- (उसने बनाया) पदबंध का सम्बोधन प्रस्तावना में सृष्टि निर्माण के संबंध में उपयोग में लाया गया। उसे ज़्यादातर आलोचक इस्लाम में (कुरान) सृष्टि निर्माण वर्णन का प्रभाव मानते हैं। लेकिन थॉमस इस कथारूढ़ि को जैन कवियों द्वारा पूर्व में उपयोग किया गया बताते हैं और जायसी के पद्मावत में इस रूढ़ि का आगमन वहीं से मानते हैं। - **"स्वयंभू का पउमचरिउ शुरुआत में अट्ठारह श्लोकों में जैन संतों (तीर्थंकर) की स्तुति करते हैं"**[1]**।** थॉमस द्वारा किसी भी स्तर पर अन्य आलोचकों की तरह जायसी के पद्मावत को फारसी मूल का घोषित करने की बजाय प्रयुक्त की गई कथारूढ़ि के अन्य मौलिक मूलाधारों की खोज करने का प्रयत्न किया है। जहाँ प्रस्तावना के बाद निर्गुण ईश्वर का वर्णन कवि द्वारा किया गया है, वहाँ के वाक्यांश की छवियों की साम्यता थॉमस ब्रूइंज ने **"कवि विरोधाभास का वर्णन करने के लिए नाथयोगी और संत कवियों द्वारा उपयोग किए गए वाक्यांशों के समान छवियों का उपयोग करता है, कि भगवान, अलख, अरूप, अबरन है लेकिन दुनिया की सभी घटनाओं को नियंत्रित करता है"**[2]**।** जायसी की कविता में इस प्रकार की शब्दावली प्रयोग में लाई गई है। जिससे किसी एक रूढ़ि का काव्य में होना किसी भी तरह से सिद्ध नहीं हो पाता है।

सिंहल, पद्मावत का आदर्श स्थान है। जो जायसी की कल्पना द्वारा निर्मित है। वह कविता में धरती के स्वर्ग के रूप में वर्णित है। जायसी 'आखिरी कलाम' में जब स्वर्ग का वर्णन करते हैं तो वह इस वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। वहाँ एक दिव्य सौन्दर्य से परिपूर्ण रानी बैठी हुई होती है। थॉमस ने कथानक की साम्यता सिंहलद्वीप की पदावली से करते हुए सिंहल को 'धरती के स्वर्ग' के रूप में वर्णित किया है।

यह ग्रंथ जायसी को एक 'विनम्र कवि' के रूप में स्थापित करता है तथा कविता का प्रत्येक पक्ष प्रेम का प्रतिनिधित्त्व करता है। जिसमें सूफीकविता का अनिवार्य और निश्चित तत्त्व 'विरह' समायोजित है। पद्मावत के इस पक्ष को उद्धृत करते हुए थॉमस ने काव्य परंपरा में विरह की धारा को भी मूल्यांकित करने का प्रयास किया है। **"पीड़ित महिला की छवि जो अपने पति की वापसी की प्रतीक्षा कर रही है, उत्तरी भारत की प्रारम्भिक आधुनिक देशी कविता का पसंदीदा शीर्ष है और अवधी में एक निश्चित तत्त्व के रूप में विकसित हुई है। पद्मावत में**

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-178

[2] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ- 179

नागमती का बारहमासा इस कविता का प्रसिद्ध अंश है"[1]**।** यह पूर्वपरंपरा थॉमस संभवतः संदेशरासक तथा प्रथ्वीराज रासो के विरह पक्ष को लेकर लिखी गईं कविताओं में देखकर इस तरह का तर्क प्रस्तुत किया गया है। मुख्य रूप से राजस्थानी के रासो ग्रंथों में इस तरह के विरह वर्णन बहुतायत में पाए जाते हैं। इस विरह को सूफी आख्यानों में ईश्वर से मिलन की तड़प के रूप में भी देखा गया है। प्रत्येक परिघटना किसी गहरे सांस्कृतिक संदर्भों की ओर इशारा करती है तथा रुपक विधान द्वारा वह रहस्यात्मक रूप से ईश्वर के मिलन की एक कड़ी बन जाती है। 'पद्मावत' की जिस काव्य पंक्ति को माताप्रसाद गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं **'चित्तौर भा इस्लाम'** वह वाक्यांश को थॉमस ने दोहरे अर्थ-संदर्भ इंगित करने के कारण ***'उभयलिंगी वाक्यांश'*** कहा। इसकी व्याख्या में विभिन्न प्रकार की अटकलों का समावेशन मिलता है। इसमें यह विचार राजपूत राजा और इस्लाम के बीच विरोधी के रूप में दर्शाता है। जो धार्मिक पाठों के लिए एक आधुनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

रुपक योजना में **'प्रकाश'** को कवि द्वारा महत्त्व दिया गया है। जहाँ वह 'एक नूर से उत्पन्ना' कहकर पूरी सृष्टि का निर्माण प्रकाश से ही मानता है अल्लाह, पैगंबर, राजा, और पीर की स्तुति में प्रकाश की ये छवियाँ इस प्रकार रुपक योजना का परिचय देती हैं। जायसी की सम्पूर्ण कविता में प्रकाश रुपक के रूप में सामने आता है **"प्रकाश की प्रतीतात्मक योजना भी छवियों के पीछे संरचनात्मक सिद्धांत हैं। जो पद्मावती को 'कमल के फूल' के रूप में वर्णित करती है जो सूर्य के प्रकाश के लिए खुलती है और मधुमक्खी को आकर्षित करती है, जो भीतर रस प्राप्त करने के लिए आती है। यह एक शक्तिशाली और बहुस्तरीय छवि है, जिसमें कवि नाथ, योगी, सूफी रहस्यवाद की अवधारणाओं को ओवेरलैप करता है"**[2]**।** विभिन्न कथा पद्धतियों का संयोजन यहाँ थॉमस द्वारा इंगित किया गया है। वह इसमें किसी एक की बहुलता नहीं बल्कि रूपक के माध्यम से एक सुगठित कथा संयोजन सामने लाते हैं।

'पद्मावत' का अध्ययन करते हुए थॉमस पूर्व के अध्ययन में अध्येताओं के द्वारा की गईं ग़लतियों को ध्यान में रखते हुए इनसे बचने का प्रयास करते हैं। विशेष रूप से वह स्थापनाएँ जो ऐसे परिवेश में विकसित हुईं जो बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में राष्ट्रवादी विचारधाराओं से प्रभावित थे। एक साहित्यिक इतिहास के निर्माण के प्रयास में, शुरुआती सूफी लेखकों की इस्लामी पहचान की व्याख्या हिन्दू और मुस्लिम समुदायों के बीच बढ़ते विभाजन के आलोक

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ-226

[2] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ- 250

में की गई थी। स्थानीय भाषाओं में कथात्मक कविताओं की परंपरा स्थापित करने में सूफी लेखकों की प्रमुख भूमिका आधुनिक हिंदी साहित्य की वांछित छवि के अनुरूप नहीं थी।

थॉमस इतिहास लेखकों की उस राजनीति से पर्दा उठाने का प्रयास अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से करते हैं,जो शुरुआती इतिहास लेखकों द्वारा की गई थी। यहाँ पर सूफी कविता द्वारा साहित्य की दुनिया को जो साझी संस्कृति तथा देशभाषा कविता के रूप में उनका अवदान है, उसे लक्षित न कर, कविता की धार्मिक पहचान को ज़्यादा उभार दिया गया और आदर्श तथा समन्वय की साझी काव्य विरासत को कम, यह इस कारण हुआ क्योंकि इतिहास लेखकों की राष्ट्रवादी धारा द्वारा धर्म को ज़्यादा प्रमुखता दी गई।

थॉमस इससे अलग **"पुस्तक हिन्दू-मुस्लिम पहचान के विरोध में जायसी के समग्र साहित्यिक मुहावरे को अलग करने का प्रस्ताव करती है कि कैसे कवि अपनी कविता की विचारोत्तेजक शक्ति और शब्दार्थ पोलीफोनी को मौखिक रूप से भारतीय और फारसी सामग्री देकर समृद्ध करता है"**[1]**।** थॉमस ने जायसी के 'पद्मावत' द्वारा काव्यपरम्परा को अवदान को रेखांकित किया है ,बजाय उन इतिहास लेखकों जैसा करने के जो जायसी के 'मलिक मुहम्मद जायसी' नाम पढ़ते ही अपने धार्मिक पूर्वग्रहों के कारण कई व्याख्याओं को इससे प्रेरित कर उलटने का प्रयत्न करते हैं।

जायसी की कविता में सामाजिक प्रासंगिकता के कई अन्तःसूत्रों की पहचान थॉमस द्वारा की गई है तथा वह इसके पाठों को अलगाव नहीं बल्कि संयोजकता की दृष्टि से देखने के पक्षधर हैं। जहाँ अन्य काव्य परम्पराएं जिनमें सिख, संत,तथा अन्य समकालीन काव्य परम्पराओं के साथ निकटता से जोड़े जाने की अपील वह साहित्य के अध्येताओं से करते हैं। जिससे जायसी के साहित्य के आलोक में भारत की साझी संस्कृति को समझने का प्रयास किया जा सके।

सम्पादन तथा स्वतंत्र पुस्तक के अलावा सूफी कविता के संबंध में समय-समय पर शोधपूर्ण आलेख भी पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। इनमें उस परंपरा के प्रमुख पक्षों पर विचार विद्वानों द्वारा किया गया है। इन शोधपूर्ण आलेखों में जायसी, पद्मावत, सूफी परंपरा, मध्यकालीन साहित्य आदि को केंद्र में रखकर अध्ययन किया गया है। कुछ प्रमुख अध्येता निम्नलिखित हैं-

1. चार्ल्स एस. जे. व्हाइट
2. रिचर्ड एम. ईटन
3. जॉन मिलिस

[1] थॉमस द ब्रुइंज,रूबी इन द डस्ट,लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012, पृष्ठ- 271

व्हाइट ने **मध्यकालीन हिंदी साहित्य में सूफीवाद** शीर्षक से आलेख लिखा इसमें वह सूफीवाद के उदय को रेखांकित करते हैं। वह सूफी धारा रूढ़िवादी इस्लाम के विरोध में जो इस्लाम के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। **"रूढ़िवादी मुसलमानों ने हमेशा सूफी आंदोलन में रहस्यवादी प्रवृत्ति का विरोध किया है, जिसमें ईश्वर के साथ मिलन की संभावना पर ज़ोर दिया गया है। इस आधार पर यह पूर्ण उत्थान से अलग है"**[1]**।** व्हाइट परंपरागत इस्लाम से सूफियों का विकास एक वर्गगत अलगाव के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति में उनकी निंदा करने वाले समूह द्वारा या प्रचारित किया गया - **"शुरुआती अरब समुदाय के सबसे ग़रीब सदस्य अपने बिस्तर और आश्रय के लिए मस्जिद के सामने स्थित बेंचों (सुफा) का सहारा लेते थे। अन्य विद्वानों ने इन्हें ऊनी सूफ़ पहनने के करण सूफी माना"**[2]**।** महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या कट्टर इस्लामिक मान्यताओं का पालन न करने वाले अरब के वह ग़रीब मुसलमान थे? जिनके पास अपना स्वयं का आश्रय तक नहीं था? और वह मस्जिद के चबूतरे पर सोने के लिए मजबूर थे, क्या सूफियों के प्रति यह हेयता का भाव इसी वर्गान्तर के कारण है?

सूफी मत का प्रसार इसके बाद पूरी दुनिया में हुआ और भारत तक आ पहुँचा। धार्मिक प्रभाव को अपने में समायोजित करते हुए एक शैली के रूप में विकसित हुआ। चार्ल्स जे. व्हाइट किसी एक उद्भव रूप की व्याख्या से सहमत नहीं हैं लेकिन जिस प्रकार वह सूफियों की स्थिति का वर्णन अरब की दुनिया में करते हैं, उससे यह अंदाज़ा कैसे लगा लिया जाए कि जो धार्मिक संप्रदाय अपने मूल देश में ही इतना उपेक्षित था (चबूतरे पर सोकर जीवन गुजारने वालों का समूह) वह मूल इस्लामिक मान्यताओं के विरोध में खड़े होकर भी इतनी द्रुत गति से प्रसारित हो सकता है और इतना लोकप्रिय हो सकता है?

जिस समय सूफीकविता का उदय भारत में हुआ उस समय को व्हाइट इस प्रसार के अनुकूल समय के रूप में देखते हैं। एक ओर दिव्य छवियों के सम्मिलन से भारत मे काव्य लिखा जा रहा था, सत्ता हस्तांतरित होकर इस्लाम के अनुयायियों के हाथ में आ गई थी **"भारतीय मध्ययुग में सूफियों के स्थानीय साहित्य में हिन्दू काव्य सम्मेलनों के साथ फारसी और अरबी के संलयन के लिए अनुकूल समय था"**[3]**।** इस संलयन ने क्षेत्रीय भाषाओं में कविता लिखने को प्रेरित किया। इसका एक प्रमुख कारक यह स्थिति रही होगी, फारसी और अरबी बोलने वालों के लिए संस्कृत विदेशी बोली की तरह थी इसीलिए इसमें लिखना मुश्किल रहा होगा। लेकिन क्षेत्रीय भाषाएँ जिनकी शब्दावली से इनकी रोज मुठभेड़ होती रही होगी समझना/लिखना

[1] व्हाइट,एस. जे.,सूफिज़्म इन मिडिविल हिन्दी लिटरेचर(j store),पृष्ठ -114

[2] व्हाइट,एस. जे.,सूफिज़्म इन मिडिविल हिन्दी लिटरेचर(j store),पृष्ठ-144

[3] व्हाइट,एस. जे.,सूफिज़्म इन मिडिविल हिन्दी लिटरेचर(j store)हिस्ट्री ऑफ रिलीजस समर,1965,vol.5, no.1(1965) ,पृष्ठ-116

ज़्यादा आसान रहा होगा। मालाबर तट से उत्तर भरत तक की इस यात्रा में बहुत सारे नाम हैं जिनका योगदान इस परंपरा निर्मिति में है। नेजामी, मौलाना राम, सनाई, उमर ख़य्याम, फरीरुद्दीन आदि। इन सूफियों ने द्विपक्षीय संबंध भारतीय साहित्य से स्थापित करने का काम किया।

हुज़वेरी 1026 ईसवी में लाहौर आये थे तथा मुईनउद्दीन चिश्ती 1190 ईसवी में इन्होंने चिश्ती संप्रदाय की स्थापना की। इसी से भारत में सूफीमत का इतिहास शुरू होता है। जिस क्षेत्र में जायसी कविता कर रहे थे वह उत्तरप्रदेश का पूर्वी भाग है। इसके पास जौनपुर शहर में स्थित 'अटाला मस्जिद' का सूफी परंपरा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस केंद्र के संबंध मे व्हाइट ने लिखा है- **"जौनपुर में 'अटाला मस्जिद' एक मदरसा था। जिसमें अन्य मुस्लिम देशों के विद्वान क़ानून और धर्मशास्त्र का अध्ययन करने आते थे। यह संगीत के साथ-साथ विभिन्न सूफी संप्रदायों का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। पद्मावत के लेखक मलिक मुहम्मद जायसी जौनपुर में शुरू हुए एक सूफी संप्रदाय 'महदवी आंदोलन' के सदस्य थे इसी संदर्भ में हिंदी सूफी साहित्य लेखन को गति मिली"**[1]**।** एक ओर इस केंद्र में इस्लामी क़ानून/धर्मशास्त्र की शिक्षा है दूसरी ओर इनसे विद्रोह करने वाली सूफी परंपरा तो क्या यह अनुमान लगाना ग़लत होगा कि इस विरुद्धता के कारण यह केंद्र सूफी कविता में उसी तरह स्थान रखता है जैसे भक्ति कविता में बनारस, जिसमें दोनों धाराओं का विकास संभव हो सका। सूफी कविता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रेम और विरह है। जायसी, मंझन की कविता में इस विरह की पीड़ा को जीते हैं यह परंपरा एक अद्वैत निर्माण करती है। विरह की अतिशयता को ईश्वर से मिलन के रूपक के रूप में व्यक्त किया गया है। जिसके मूल में यही अद्वैतता का भाव है।

रिचर्ड एम.ईटन-

'व्हाइट' ने सूफियों को 'देशी काव्यभाषा' को बढ़ाने वाला और 'बोलियों में रचना करने वाले' पक्ष को सामने लाने का काम किया। ईटन अपने अध्ययन में इस पक्ष को ज़्यादा महत्त्व नहीं देते हैं बल्कि इसके प्रसार की एक भाषा फारसी को मानते हैं। इसके पीछे का तर्क यह दिया गया कि सूफी साहित्य आम-जन के लिए नहीं बल्कि सूफीमत में दीक्षित लोगों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया था- **"सूफी साहित्य सूफियों के उत्थान के लिए लिखा गया था और ऐसा लगता है कि हिन्दू भारत के निचले तबकों के बीच प्रसारित नहीं हुआ था और न ही इसका इरादा था इसके अलावा भारत में जैसा कि अधिकांश ग़ैर अरब मुस्लिम दुनिया में होता है ऐसा साहित्य आमतौर पर फारसी में लिखा जाता था"**[2]**।** यह

[1] व्हाइट,एस. जे.,सूफिज़्म इन मिडिविल हिन्दी लिटरेचर(j store) हिस्ट्री ऑफ रिलीजसमर, 1965, vol.5, no.1 (1965), पृष्ठ-117

[2] ईटन,एम.रिचर्ड,सूफी फॉक लिटरेचर एण्ड द एक्सपेन्सन ऑफ इंडियन इस्लाम,पृष्ठ-118

स्थापना उस व्याख्या के विरोध में पड़ती है, जिसमें कहा गया कि सूफीकविता आम तथा निचले तबके के हिंदुओं को धर्मांतरित करने के लिए रची गई थी। अगर काव्य-भाषा फारसी थी तो आमजन ख़ासकर अनपढ़ जनता को यह मत कैसे प्रभावित कर सकता था।

और जिस गूढ़ और रहस्यवादी परंपराओं का उल्लेख सूफीसाहित्य में किया गया है क्या वह आम आदमी के लिए बोधगम्य रही होंगी? इन्हीं कुछ प्रश्नों को 'ईटन' अपने शोध आलेख में प्रमुखता से सामने लाते हैं।

वह दक्कन में सूफी कविता की दूसरी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, जिसमें मौखिक रूप से इस परंपरा को महिलाओं ने अपने जीवन की दिनचर्या में हिस्सा दिया चक्कीनामा, चरखानामा, विवाहनामा, विवाहगीत, सुहागननामा आदि कुछ प्रमुख प्रकार थे। जिनमें सूफीकविता के स्वरों को ग्रामीण महिलाओं द्वारा गाया जाता था। इस तरह उत्तर और दक्षिण में सूफीकविता के प्रसार की अपनी क्षेत्रगत सीमाएँ आलोचना में हमें देखने को मिलतीं हैं। जिनको 'ईटन' ने इस प्रकार दर्ज किया है- **"सूफियों द्वारा लिखी गईं अधिकांश लोक-कविताएँ ग्रामीण महिलाओं द्वारा घर के विभिन्न कामों में व्यस्त रहते हुए गायी जाती थीं"**[1]**।** इन कविताओं में इस्लामी अनिवार्यता का तत्त्व प्रमुख रूप से अंतर्निहित रहता था। जिनमें रूपकों का सहारा लेकर विभिन्न स्तरों पर ईश्वर या सत्ता से संबंध सथापित करते हुए रहस्यवादी व्याख्या की जा सकती है। दक्कन में सांस्कृतिक रूप से इस्लाम के प्रसार में इस पद्धति की बड़ी भूमिका है।

इन मौखिक परंपराओं में सूफी कविताओं की वाहक महिलाओं की सामाजिक पृष्ठभूमि के संबंध में ईटन ने इन्हें निम्न जीवनस्तर जीने वाली ग़ैर संभ्रांत महिलाओं के रूप में पहचाना है - **"मूल रूप से सत्रहवीं शताब्दी के सूफियों की ओर आकर्षित होने वाली महिलायें शायद उन्हीं सामाजिक मूल की थीं जो वर्तमान में दरगाहों के सामाजिक जीवन में भाग ले रही थीं, कोई यह अनुमान लगा सकता है कि हिन्दू समाज की हाशिये पर रहने वाली ग़ैर संभ्रांत महिलाओं ने सूफियों और उनकी क़ब्रों को किसी भी सांसारिक चिंताओं से धार्मिक शरण के स्थान के रूप में आकर्षित किया होगा"**[2]**।** इन्हीं महिलाओं ने अपने पूर्व मान्यताओं के साथ इन सूफियों की शिक्षाओं का मेल कर एक समन्वय बना दिया तथा दरगाह व उनके मूल धर्म के मध्य एक उदार संबंध इस परंपरा के माध्यम से सामने आता है। जिसको महिलाओं द्वारा विकसित किया गया। इसके महत्त्व को ईटन द्वारा स्थापित किया गया।

जॉन मिलिस-

[1] ईटन,एम.रिचर्ड,सूफी फॉक लिटरेचर एण्ड द एक्सपेन्सन ऑफ इंडियन इस्लाम,पृष्ठ-119

[2] ईटन,एम.रिचर्ड,सूफी फॉक लिटरेचर एण्ड द एक्सपेन्सन ऑफ इंडियन इस्लाम,पृष्ठ-124

पद्मावत में प्रतीकवाद के संबंध में जॉन मिलिस ने एक शोध आलेख प्रस्तुत किया और धार्मिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में कविता का मूल्यांकन किया। जायसी की कविता का मूल्यांकन करते हुए जॉन मिलिस ने लिखा - **"मलिक मुहम्मद जायसी हिंदी के महानतम मुस्लिम कवि थे और वे हिंदी साहित्येतिहासकारों की पहली श्रेणी में शामिल एकमात्र मुसलमान हैं"**[1]**।** जायसी उन इतिहास लेखकों से अपनी आलोचना में सहमति व्यक्त करते हैं जो जायसी को प्रथम पंक्ति का रचनाकार मानते हैं। मिलिस ने जायसी की कविता के धर्मनिरपेक्ष पक्ष को रेखांकित करते हुए पद्मावत को 'धर्मनिरपेक्ष आख्यान' कहा है। वह मध्यकाल के अन्य कवियों की तरह जायसी को किसी एक संप्रदाय से जुड़ा हुआ नहीं मानते **"जायसी धार्मिक विषयों पर कविता लिखने वाले हिन्दू नहीं थे जो एक सांप्रदायिक श्रोता को खुश कर सकते थे बल्कि जायसी एक सूफी संत थे जिन्होंने पद्मावत लिखा था जो पहली नजर में एक धर्मनिरपेक्ष आख्यान प्रतीत होता है"**[2]**।** मिलिस, जायसी के पद्मावत में उदार भावना तथा सहज आयी भारतीयता की प्रशंसा करते हैं जो एक साझा संस्कृति के निर्माण में सहायक हुए। 'पद्मावत की कथा' में स्थानीय मुहावरों तथा किंवदंतियों का सहज ही उपयोग किया गया है और भाषाई तथा धार्मिक शब्दावली के रूप में जायसी की कविता ज़्यादा सहिष्णु है। मिलिस, जायसी की कट्टर छवि को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते हैं और उनके कवित्त्व तथा व्यक्तित्त्व पर मुस्लिम पक्ष का प्रभाव कम से कम लक्षित करते हैं। जायसी में हिन्दू परंपराओं का अद्भुत संयोजन करने वाली कला की 'मिलिस' ने सराहना की है।

विद्वानों के संबंध में मिलिस अपनी राय व्यक्त करते हुए लिखते हैं **"ऐसा लगता है कि वे जायसी में एक अधिक शिक्षित कबीर को खोजने के लिए उत्सुक थे। जो एक शुद्ध सांप्रदायिक परंपरा का प्रतिनिधित्त्व करने में दिलचस्पी नहीं रखते थे"**[3]**।** शिररेफ़ भी इसी मान्यता को मानते हुए जायसी को एकता का पैगंबर मानते हैं।

[1] जॉन, इरविन मिलिस,मलिक मुहम्मद जायसी:अलेग्री एंड रिलीजस सिम्बलिज़म इन हिज पद्मावत,(1984) द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो,पृष्ठ-1
[2] जॉन, इरविन मिलिस,मलिक मुहम्मद जायसी:अलेग्री एंड रिलीजस सिम्बलिज़म इन हिज पद्मावत,(1984) द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो,पृष्ठ -3
[3] जॉन, इरविन मिलिस,मलिक मुहम्मद जायसी:अलेग्री एंड रिलीजस सिम्बलिज़म इन हिज पद्मावत,(1984) द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो,पृष्ठ -5

निष्कर्ष-

अध्ययन की सुविधा के लिए साहित्य, इतिहास आदि अनुशासनों को समय या किसी विशिष्ट प्रवृत्ति अथवा व्यक्ति के आधार पर बाँटकर अवश्य पढ़ा जाता है। जो सही भी है। लेकिन भक्तिसाहित्य के लेखन के समय के संबंध में यह सही नहीं है। उस समय लेखक भक्तिकविता रचते हुए किसी प्रकार की विभाजक रेखा को ध्यान में नहीं रख रहे थे। गार्सा-दा-तासी के इतिहास में विभाजन का कोई प्रश्न नहीं आया। लेकिन भारत में जो पांडुलिपियाँ एकत्र की गईं उनमें समयानुसार विभाजन को देखा जा सकता है। ग्रीब्ज विभाजन को एक सीधी रेखा के रूप में नहीं, बल्कि विस्तृत रूप में देख रहे थे। इसके पीछे उनकी मान्यता थी कि कुछ विशेषताओं की जड़ें पूर्वयुग में पाई जाती हैं। संतकवि, कबीर, नानक तथा रैदास के साथ-साथ सगुण भक्तकवियों जैसे सूर, तुलसी, मीरां आदि की कविता में ईश्वर के किसी भी स्वरूप का नकार नहीं, बल्कि एक प्रकार का समन्वय हमें वहाँ प्राप्त होता है।

केई के इतिहास में जहाँ स्पष्ट विभाजन प्राप्त होता है, वहीं एक वैयक्तिक ईश्वर की उपासना के कारण वह एक धरातल पर भी होते हैं। इसके तुरंत बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में भी दोनों प्रकार के भक्त एक-दूसरे मत का आदर करते हैं तथा कविता में स्थान देते हैं।

जॉन स्ट्रेटन हौली भक्तकवियों के भावबोध को प्रमुखता देते हुए समय के साथ भक्त कवियों के भाव बोध में परिवर्तन को इस विभाजन का कारण मानते हैं। यह भावबोध अनंत काल से चली आ रही परंपरा का एक अंग है तथा समय के साथ इनमें परिवर्तन व परिमार्जन होता रहा है।

डेविड लॉरेंजन द्वारा भक्तिकविता में जिस 'संतचरित' की बात को प्रमुखता दी गई है, उसमें एक पैटर्न मिलता है। जीवन का पूरा उपक्रम जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक एक ख़ास प्रकार के पैटर्न को जीवनचरित की रचना करते हुए स्थान दिया गया है। हौली जहाँ 'भावबोध के स्तर' पर समानता, तो लारेंजन उसे 'संत जीवनचरित' में पाई जाने वाली समान घटनाओं के कारण एक धरातल पर मानते हैं। वह इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि आख़िर वह क्या रहा होगा? जो तमाम विरोधाभासों के बीच सारे भक्तकवियों को एक धरातल प्रदान करता था और हमें उनसे लोकतंत्र की सीखने की आवश्यकता है।

जॉन स्ट्रेटन हौली *'भक्ति-परिवार'* की संकल्पना करते हैं। लेकिन पश्चिम में भक्तिकविता के विभाजन को लेकर कोई भी एक राय नहीं है। शारतोल वोदिविल, डब्ल्यू. एच. विल्सन, मैकडोनाल्ड, सुखदेव सिंह आदि विद्वान तथा कैरीन शोमर जैसी विचारक इस विभाजन में दो धाराओं को स्वीकार करती हैं। हौली विभाजन का अध्ययन करने के लिए जिस प्रविधि को

प्रस्तावित करते हैं उसे बाद में टाइलर वाकर विलियम्स द्वारा अपनाया जाता है। वह इस काल की सीमा 1300-1600 मानते हुए, इस समय सीमा में संकलित की गई पांडुलिपियों का अध्ययन करते हैं और उसमें संकलित की गई कविताओं का समग्रता में अध्ययन कर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं-

1- आपस में भक्ति कविता में एक-दूसरे के मत का विरोध हैं।

2- विरोध करने वाला किसी एकमत के प्रति कट्टर नहीं है।

यहाँ किसी भी प्रकार का विरोध व्यक्तिगत है। वह कविता लिखते हुए किसी भी रूप में सामने आ सकता है। टायलर उस आवाजाही को प्रतिपादित करते हैं, जिसमें सगुण भक्त-निर्गुण भक्त एक दूसरे में निर्बाध आवाजाही कर रहे थे। आज जिस प्रकार का विभाजन प्राप्त होता है उसके पीछे टायलर की राय में वह मठ संप्रदायों के मठाधीश ज़िम्मेदार हैं, जो इसे दृढ़ता से अलग कर के लागू करने के पक्ष में रहे। भक्तकवियों के पास स्वतंत्र, दार्शनिक रूप में समान शैलीतत्त्व, संवेदनात्मक स्तर पर एक प्रकार की समानता थी। वह व्यक्ति की उपासना और विनय को कविता में स्थान दे रहे थे तथा वहाँ कट्टरता का अभाव था। सूरदास, तुलसी का उदाहरण देते हुए टायलर ने उस आवाजाही को रेखांकित किया है। जिसकी बात ऊपर की गई है। भक्तिकविता के आलोचकों की 'मनचीती राजनीति' की आलोचना करते हुए टायलर ने कई स्थानों पर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए 'कविता की एक भावभूमि' की तलाश की। तुलसीदास की जो छवि आज प्रचलित है कि वह सगुणवाद के प्रबल समर्थक थे और निर्गुणवाद के कट्टर आलोचक। यह छवि आधुनिक काल के आलोचकों द्वारा गढ़ी गई है। क्योंकि तुलसी की कविता में (निर्गुण ब्रह्म, सगुण राम और दशरथ सुत राम) तीनों का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। टायलर वाकर , इतिहास में रविदास तथा तुलसी में कोई विशेष अंतर लक्षित न कर निष्कर्षत: कहते हैं कि, तुलसी किसी विशेष सिद्धांत का अनुसरण नहीं कर रहे थे।

लुटशेन्डार्फ, जो आज तुलसी की छवि है उसके लिए 'हिंदू धर्मरक्षक आंदोलनों' को प्रमुख कारक मानते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक शुक्ल जी द्वारा कबीर की कविता को कविता न मानने के पीछे उनके अपने दुराग्रह रहे। इस कारण भी कवियों के मध्य एक सायास विभाजक रेखा खींच दी गई, जो आलोचना में और दृढ़ तथा मजबूत होती गई।

साहित्य और मतों में विशुद्धतावादी आग्रह ने इस विभाजन को और बढ़ाया।

जायसी की कविता से पूर्व जायसी के जीवन पर अधिकतम विद्वानों ने अपना मत प्रस्तुत किया है। जो पक्ष आलोचना में एक बार आलोचकों द्वारा प्रस्तुत कर दिए गए उन्हीं पक्षों पर जायसी के संदर्भ में ज़्यादा विवेचना या पुनर्मूल्यांकन किया गया। इसमें ऐतिहासिकता, कल्पना,

जायसी का जीवन सूफी काव्य है या नहीं है। मसनवी शैली का प्रभाव, फ़ारसी कविता का प्रभाव आदि पक्ष प्रमुख रूप से उभरकर आते हैं।

ग्रियर्सन, पद्मावत को एक दार्शनिक महाकाव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। वह कथा क्रम में दर्शन के होने की बात बार-बार करते हैं। व्यक्तिगत जीवन में जायसी उदारमना थे और अवधी भाषा में अपने ग्रंथ की रचना कर, देशभाषा में रचना करने का उनके द्वारा मार्ग प्रशस्त किया गया। इनकी कविता को ग्रियर्सन द्वारा 'संगीतहीन कविता' कहा गया। क्योंकि उनके प्रतिमान सूर तथा तुलसी जैसे कवि थे। ग्रियर्सन की आलोचना में जो ऐतिहासिकता विषयक पक्ष है वह 'कर्नल टॉड' के 'राजस्थान' के आधार ग्रहण करता है। ग्रीब्ज, पद्मावत को मनोरंजक, रुपक तथा भाषिक महत्त्व वाले ग्रंथ के रूप में स्थान देते हैं। एक ओर ग्रीब्ज इनकी 'भाषिक दृष्टि' की सराहना करते हैं, तो कुछ दुर्बोधता के कारण आलोचना भी करते हैं। ग्रियर्सन से उलट ग्रीब्ज जायसी की कविता को लयात्मक और संगीतात्मक कहते हैं।

केई 'चारणकाव्य' के माध्यम से 'धार्मिक पुनरुत्थान का काव्य' कहते हुए, इसे कुछ-कुछ चारणकाव्य परंपरा में वर्णित करने का प्रयास करते हैं। लोक कथाओं का समायोजन कर इतिहास की घटना का संयोजन जायसी ने किया और आख्यान की रचना की है। जायसी के स्वतंत्र आलोचकों में ए.जी. शिरेफ के अनुवाद में ग्रियर्सन और रामचंद्र शुक्ल का प्रभाव है। शिरेफ, कबीर, लोक कथाओं के अलावा मुसलमान संस्कृति का समन्वित रूप पद्मावत में मानते हैं। विजयदेव नारायण साही द्वारा 'सूफीसंत' कहे जाने वाली छवि को शिरेफ अस्वीकार कर देते हैं। वह मानते हैं कि वह सूफी नहीं बल्कि एक प्रतिभाशाली कवि थे। सबसे पहले जायसी को सूफी मानने का प्रयास जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन द्वारा किया गया। लेकिन जिस वंदना के आधार पर उन्हें आलोचकों ने सूफी माना है शिरेफ के लिए सिर्फ़ उस एक आधार पर सूफी नहीं माना जा सकता है। शिरेफ जिस एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को रेखांकित करते हैं वह यह कि, जायसी का अनुकरण मानस में किया गया है और वह उन्हें एकता के पैगंबर के रूप में देखते हैं।

'थॉमस द ब्रुइंज' पारिवारिक पृष्ठभूमि, सूफी केंद्रों का विकास तथा दरबारी, इन पक्षों पर विस्तार से अपनी पुस्तक चर्चा करते हैं। जायसी की कविता में जायसी के जीवन से संबंधित वर्णन अन्य की अपेक्षा ज़्यादा है तथा इसी कारण इसकी ऐतिहासिकता तथा प्रामाणिकता पर भी अन्य से ज़्यादा चर्चा की जाती है। जायसी 'विरह की पीड़ा' को ईश्वर के मिलन की पीड़ा का जो रूपक गढ़ते हैं। ब्रुइंज उसे अतुलनीय मानकर सूफीवाद का एक अंग मानते हैं। वह जायसी की कविता को मिश्रकाव्य रूप कहते हैं, जिसमें सभी तत्त्व मौजूद थे।

ब्रुइंज, जायसी और कबीर की तुलना करने का काम करते हुए उनके धार्मिक समन्वय को रेखांकित करते हैं तथा उनकी समकाल में आज की जा रही दोहरी उपेक्षा पर भी चिंता व्यक्त करते हैं। वह कोई नया आविष्कार न कर मौजूद कथातत्त्वों को संयोजित करने का काम कर रहे थे। ब्रुइंज के अनुसार वह उन छवियों को ज़्यादा स्थान दे रहे थे जैसे स्त्री का विरह जिनको लोक पक्ष ज़्यादा पसंद करता था। ब्रुइंज हिंदू-मुस्लिम मुहावरों से अलग उस भाषिक संरचना के आलोक में जायसी की कविता का अध्ययन करने की माँग करते हैं।

इसके अलावा चार्ल्स एस.जे.व्हाइट , रिचर्ड एम.ईटन, जॉन मिलिस आदि ने भी जायसी के विभिन्न पक्षों पर अपने आलेखों में विवेचन करने का काम किया है, जिसमें सूफी शब्दों की विभिन्न अर्थछायाएँ , प्रसार के कारण तथा उसके विभिन्न संदर्भ, अटाला मस्जिद का प्रसार में योगदान के अलावा दक्षिण में सूफीवाद और उनके तत्त्वों का वर्णन करते हैं। इस प्रकार समग्रता में विभाजन की राजनीति से लेकर सूफीवाद के विभिन्न पक्षों पर पाश्चात्य आलोचकों द्वारा अध्ययन कर अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं। जो किसी एक सर्वसहमत निष्कर्ष तक नहीं पहुँचती, वरन् विभिन्न दृष्टिकोणों का परिचय प्रदान करती हैं।

अध्याय-3
निर्गुण संतकाव्य और पाश्चात्य आलोचना

अध्याय विवरण

3.1- निर्गुण संतकाव्य और पाश्चात्य आलोचना की पृष्ठभूमि

3.2 - रविदास का काव्य और पश्चिमी आलोचना

3.3 - कबीर:पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथों में

3.4 - कबीर के स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक

3.5 – अन्य निर्गुण संत और पश्चिमी साहित्येतिहास

निष्कर्ष

3.1- निर्गुण संतकाव्य और पश्चिमी आलोचना की पृष्ठभूमि-

एफ. ई. केई जब भक्तिकविता पर अपने इतिहास में विचार करते हैं, तो इस आंदोलन का वर्गीकरण तीन भागों में करने का प्रयास करते हैं-

1. वे जो राम को अवतार मानकर उपासना करते थे और जिन्हें मूर्तिपूजा स्वीकार थी।
2. वे जो ईश्वर की उपासना राम नाम के माध्यम से करते थे, पर जिन्होंने मूर्तिपूजा तथा अवतार की अवधारणा को अस्वीकार कर दिया।
3. वे जो कृष्ण उपासक थे।

केई द्वारा किए गए इस वर्गीकरण में सूफीकविता को स्थान नहीं दिया गया है। यानी कि केई सूफीकविता को भक्तिकाव्य के अंतर्गत नहीं मानते थे और निर्गुण कविता में राम महत्त्वपूर्ण रूप से विद्यमान हैं, बस उनमें मुख्य भेद मूर्तिपूजा और अवतारवाद की मान्यता से असहमति के कारण है। केई के वर्गीकरण में अन्य बातें गौण हो जाती हैं। वर्गीकरण का मुख्य आधार यही दो बिंदु होते हैं उन्होंने कोई नाम निर्गुण या सगुण नहीं बल्कि आराध्य कौन है? इस आधार पर नामकरण करके विभाजन किया है।

केई के अनुसार 15 वीं सदी हिंदी साहित्य के इतिहास में इस प्रकार की सदी के रूप में रही **"इसमें आधुनिक संप्रदायों के प्राचीनतम संस्थापक दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने भक्ति सिद्धांत संबंधी भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग किया है और जिन्होंने इस बोली में धार्मिक भजनों और नैतिक कविताओं का सृजन किया है**"[1]। इस आंदोलन में सबसे बड़ा बदलाव यह देखने को मिला कि काव्य की रचना जनता की भाषा में होने लगी। निर्गुण संतकवियों में जनभाषा का प्रयोग ज़्यादा मिलता है। कबीर तो संस्कृत भाषा को 'कुएँ का पानी' घोषित कर देते हैं और 'भाखा' के हिमायती के रूप में हमें दिखाई पड़ते हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' में इस भाषाई रूप से टिके रहने के पीछे कारण देते हुए समझाया है कि- "**गीता में किसी प्राचीन पद्धति का परित्याग करना उचित नहीं समझा जाता था। प्रत्यूत स्वतंत्र रूप से कर्तव्य करने वाले के लिए बताया गया था- कि उसे न तो सिद्धि मिलती है और न सुख मिलता है और न ही उत्तम गति प्राप्त होती है। क्या यह एक अपरोक्ष कारण हो सकता है"[2]।** कबीर और निर्गुणसंतो के ईश्वर व्यक्तिगत तथा अलग थे और वह वैदिक तथा पौराणिक परंपरा का अनुसरण नहीं करते थे। इसलिए निर्गुणसंतो की कविता में '**भाखा**' की व्याप्ति ज़्यादा मिलती है। लेकिन परलोक बिगड़ने के डर से पूर्व में अधिकतर कवियों ने इसी शास्त्रीय सीमा के कारण कभी उन्होंने इस भाषाई सीमा को तोड़ने का साहस नहीं किया।

सगुणकवि कविता करते हुए संस्कृत और व्याकरण के आग्रह पर ध्यान दे रहे थे। मानस में कांड जब शुरू होता है, तो वहाँ संस्कृत में श्लोक मिल जाते हैं तथा जो कथाएँ वहाँ पर

---

[1] हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास

[2] 23/अध्याय-16 गीता,चतुर्वेदी,परशुराम,उत्तरी भारत की संत परंपरा,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-30

'भाखा' में वर्णित की गई वह संस्कृत में रचित पुराणों की कथाएं हैं। इस प्रकार भाषाई रूप से निर्गुण संतकवियों की कविता में संस्कृत का नहीं बल्कि जनभाषा के साथ 'जनानुभव' की व्यापकता मिलती है।

'मॉडर्न हिंदुइज्म एंड इट्स डेब्ट टू द नेस्टोरियन' लेख जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन का रॉयल एशियाटिक सोसाइटी से 28 जनवरी सन् 1960 ईसवी को प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होनें लिखा-"**14वीं 15वीं सदी में उत्तर भारत में बड़े पैमाने पर स्थानीय भाषा में एक धार्मिक क्रांति हुई इस क्रांति को संस्कृत भाषा की बजाय स्थानीय बोली में लिखा गया था। इसीलिए उसकी यूरोपीय इतिहासकारों ने अनदेखी की थी"** इस उद्धरण को यहाँ देने का आशय इतना समझना है कि ग्रियर्सन के समय तक जो अध्येता भारतीय साहित्य का अध्ययन कर रहे थे उनके अध्ययन के केंद्र में संस्कृत में रचा गया साहित्य था। वह भारतीय भाषाओं में लिखे गये बहुतायत साहित्य की लगातार अनदेखी कर रहे थे। मैक्समूलर अपनी पुस्तक 'भारत हमें क्या सिख सकता है' में इन भाषाओं में लिखे साहित्य के महत्त्व को समझ रहे थे। वह इस संदर्भ में चिंता व्यक्त करते हैं - वैदिक, संस्कृत साहित्य, कालिदास आदि का अध्ययन अब तक हो चुका है। वह काफी है। अध्येताओं को अब अन्य क्षेत्र में अग्रसर होना चाहिए। ग्रियर्सन और मैक्समूलर इन भारतीय भाषाओं में लिखे साहित्य के महत्त्व को समझ रहे थे। इसी समय इसके अध्ययन की पृष्ठभूमि निर्मित हुई।

साहित्यिक पाठालोचना के लिए फूको ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी "**साहित्यिक आलोचना के द्वारा लेखक के निर्माण के लिए अपनाई गई विधियां, सीधे-सीधे उन विधियों से ली गई हैं जो ईसाई परंपरा में पाठकों को स्वीकृत या रद्द करने के लिए अपनाई गई थी। रचना लेखक को फिर से खोज निकालने के लिए आधुनिक आलोचना वैसी ही विधियां अपनाती है। जो किसी रचनाकार के तत्त्वों के आधार पर पाठ का मूल्य निर्धारित करने के लिए ईसाई भाष्यकार अपनाया करते थे**"[1]। यहाँ यह मुख्य प्रश्न इसलिए है कि फूको की नजर में यदि पाठालोचन के लिए विधि वही अपनाई जा रही है। जो किसी पाठ को रद्द या स्वीकृत करने में ईसाई भाष्यकार अपना रहे थे। तो क्या जब हम इन पाठों के शुरुआती अनुवादक जो ईसाई थे, इससे प्रभावित नहीं रहे होंगे? और अगर प्रभावित रहे होंगें तो इन्हीं अनुवाद और पाठानुसंधान के आधार पर लिखी गई पुस्तकों में उनका प्रभाव भी लक्षित हो रहा होगा? इसको पृष्ठभूमि में इस संदर्भ में इसलिए समझना आवश्यक है क्योंकि जगह-जगह पर जब संतो के मूल्यांकन के बाद निष्कर्ष आएगा उसमें यही ईसाई नैतिकता और अनुवाद आधारित पूर्वग्रह लक्षित हो सकते हैं।

प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल 'अकथ कहानी प्रेम की' पुस्तक में लिखते हैं- "**औपनिवेशिक आधुनिकता के प्रभाव में हुए कबीर वाणी संकलन और अध्ययनों में**

[1] अग्रवाल,पुरुषोत्तम,अकथ कहानी प्रेम की,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-223

अपनी मनचाही व्याख्या में बाधा डालने वाली कबीर वाणी को प्रक्षिप्त बता देने का मोह कदम-कदम पर दिखता है"[1]।

ईसाई नैतिकता और 'मनचीती राजनीति' यह दोनों ही शब्द इस काव्य की उस पृष्ठभूमि की ओर इशारा करते हैं जहाँ अपने विवेक के अनुसार कवि और कविता की व्याख्या कर दी जाती है। अनचाहे प्रसंगों को प्रक्षिप्त बता दिया जाता है। भारतीय आलोचकों की अपने हितों के कारण आलोचना में इस प्रकार की सापेक्षता संभव है। लेकिन पश्चिमी आलोचकों में भी यह सापेक्षता देखने को मिलती है। जिसे तासी अपने इतिहास की भूमिका में स्वीकार भी करते हैं। इसी की पड़ताल करना इस शोधकार्य का महत्त्वपूर्ण पहलू है।

यह माना जाता है कि –

'भक्ति द्रविड़ उपजी, लाए रामानंद
प्रकट किया कबीर ने, सप्त द्वीप नवखंड'

यह मान्यता अधिकतर हिंदी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों द्वारा पुष्ट की जाती रही है।

लेकिन केई ने इस पर अपनी राय दूसरे शब्दों में दी है - "**सामान्य तौर पर यह स्वीकार किया जाता है कि इस काव्य में उत्तर भारत के धार्मिक पुनरुत्थान को सर्वाधिक गति और प्रेरणा रामानंद ने दी। किंतु इनके पहले भी कुछ ऐसे लोग हुए थे जिन्होंने इस आंदोलन के अग्रदूत की भूमिका निभाई। गुरु अर्जुनदेव द्वारा 1604 में संकलित सिखों के आदिग्रंथ में भक्ति आंदोलन की हिंदी कविता के प्राचीनतम रूप सुरक्षित है**"[2]। रामानंद के पहले जिन भक्तों की रचनाओं के अंश आदिग्रंथ में सुरक्षित है उनमें 'सदना' और 'नामदेव' हैं। आज बहुत ही स्पष्ट रूप में यह तथ्य प्रमाणित हो गया है कि, रामानंद का समय इन दोनों से पहले का नहीं था। लेकिन भक्तिआंदोलन के अग्रदूत के रूप में यदि रामानंद को श्रेय ना भी दिया जाए तो जिन कवियों को यह इनसे पूर्व का मानते हुए भक्तिकविता के अग्रदूत के रूप में आदिग्रंथ के संकलन के आधार पर बता रहे हैं। वह निराधार नहीं है, इतिहास सम्मत है।

एडविन ग्रीब्ज अपने इतिहास में कबीर, नानक, दादू को स्थान देते हैं। लेकिन एक वर्गीकरण '**संत कवि**' के नाम से अलग करते हैं। सभी को एक साथ वर्गीकृत कर स्थान देते हुए मान्य वर्गों के मध्य इनके प्रभाव को काफी हद तक प्रभावी भी मानते हैं। इनका साहित्य के विकास में योगदान का मूल्यांकन करते हुए केई उसकी 'अल्पता' की ओर इशारा करते हैं।

ग्रीब्ज जब कबीर, नानक, दादू का वर्णन करते हैं तो 'संतकवि' की उपमा देते हैं और इनमें मौलिकता, प्रतिभा का अभाव और रचनाओं को सामान्य श्रेणी का मानते हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य

[1] अग्रवाल,पुरुषोत्तम,अकथ कहानी प्रेम की,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-224

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ -31

यह समझने वाला है कि संत कवियों के प्रति इस प्रकार की स्थापना, कि उनके हर पक्ष को कमतर बता दिया जाए इसके पीछे एडविन ग्रीब्ज के पास क्या कारण हो सकते हैं?

केई इस साहित्य की 'उदय की पृष्ठभूमि' के संबंध में लिखते हैं- "**दिल्ली सल्तनत के राज में हिंदू धर्म लगातार खतरे में रहा। सुल्तानों और प्रांतों के सूबेदारों में से जो अत्यंत क्रूर थे वह अक्सर हिंदुओं का नरसंहार करते थे और हिंदू धर्म स्थलों को नष्ट कर देते थे। जो थोड़े कम क्रूर थे वह भी बल पूर्वक धर्मांतरण करवाते थे। यही वह समय था जब हिंदू आस्था की महान धाराओं में से एक 'भक्तिधारा' का विकास हुआ**"[1]। शुक्ल जी के पहले लिखे इस इतिहास में केई इस अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। सन् 1929 ईसवी में आचार्य शुक्ल की पुस्तक '**हिंदी साहित्य का इतिहास**' प्रकाशित होती है। इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुसलमानों के शासन को केंद्र में रखकर हताश, निराश हिंदू जनता को ईश्वर की शरण को एकमात्र विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अगर समग्रता में इतिहास लेखन की इस धारा का हम मूल्यांकन करें तो पाएंगे कि, बिना नाम लिए शुक्ल जी केई की इस स्थापना को अपने इतिहास में जगह देते हैं। इस पृष्ठभूमि को समझे बिना हम बाद के तमाम मत-मतांतरों को नहीं समझ पाएंगे। परिवेश के इस चित्र के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी '**स्वाभाविक चिंतन धारा**' को भक्तिकाव्य के उदय का कारण मानते हैं। लेकिन केई की स्थापना का दूरगामी प्रभाव यह रहा कि शुक्ल जी के इतिहास में जगह पाने के बाद यह शुक्ल जी की मूल स्थापना के रूप में जानी अवश्य जाती है लेकिन इतिहासक्रम में यह मूल रूप से एफ. ई. केई की स्थापना है।

यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि, केई के समय में कुछ अध्ययेता यह स्थापित करने का प्रयास कर रहे होंगे कि *'कबीर हिंदी साहित्य के जन्मदाता'* हैं। इसका खंडन वह इन शब्दों में करते हैं कि "**धार्मिक कवित्त्व के पहले महान कवियों में से एक थे**" यानी कि केई धार्मिक साहित्य जिसे भक्तिसाहित्य के रूप में देखा जा सकता है। उसका 'प्रथम कवि कबीर' को मानने के पक्षधर हैं।

"कबीर को कभी-कभी हिंदी साहित्य का जन्मदाता कहा जाता है। हालांकि वे इस उपाधि के उचित पात्र नहीं। फिर भी यह कहना सही होगा कि वे धार्मिक कविता के पहले महान कवियों में से एक थे और हिंदी साहित्य के इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है"[2]। भक्तिकविता की शुरुआत केई के अनुसार कबीर से मानी गई लेकिन अन्य किसी इतिहासकार ने इस तरह का दावा नहीं किया है।

---

[1] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-32

[2] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ--36

3.2-संत रविदास का काव्य और पाश्चात्य आलोचना-

गार्सा-दा तासी-

साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम गार्सा-दा-तासी, संत रविदास का वर्णन करते हैं। संत रविदास को तासी, 'रैदास' या 'राउ-दास' के नाम से वर्णित करते हैं। तासी, रविदास की जाति, गुरु और पंथ के संस्थापक के तौर पर उनका उल्लेख करते हुए लिखते हैं- **"ये मान्य व्यक्ति जो अपने कामों में चमड़े का प्रयोग करने वाले चमारों की अपवित्र समझी जाने वाली जाति के थे। रामानंद के शिष्य और अपने नाम के आधार पर 'रविदासी' कहे जाने वाले एक संप्रदाय के संस्थापक थे"[1]।** तासी, रविदास को एक मान्य व्यक्ति के तौर पर चिह्नित करते हैं। उनकी जाति चमड़े का व्यवसाय करने के कारण उत्तर भारत में अपवित्र समझी जाती है। इसके बावजूद वह माननीय थे। इसका प्रमुख कारण उनका भक्त होना था।

आज आलोचना की परंपरा में जब 'रविदासी संप्रदाय' के लोग यह मानने को तैयार नहीं कि रामानंद उनके गुरु थे (जिसका जिक्र आगे हौली के साथ किया जाएगा) ऐसे में तासी अपने ग्रंथ में रामानंद को रविदास का गुरु घोषित करते हैं।

'भक्तमाल' और 'आदिग्रंथ' को तासी की आलोचना में रविदास के लिए आधारग्रंथ की तरह उपयोग में लाया गया। उन्होंने 'भक्तमाल' में प्रयुक्त नाभादास की उक्तियों से रैदास के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व का मूल्यांकन किया। कविता के प्रमाण के लिए आदिग्रंथ की प्रतियों में संकलित पदों को महत्त्व प्रदान किया। मौखिक रूप से रविदास के पद बनारस में उनके पंथ के भजनों में गाए जाते हैं।

तासी इतिहास में रविदास के जन्म के कारण पीछे एक शाप जो उन्हें पूर्वजन्म में दिया गया था। जिसके कारण उनका जन्म 'चमार जाति' के परिवार में हुआ। इसमें रामानंद को आकाशवाणी हुई कि रैदास ने नवीन जन्म एक चमार के घर में लिया है। गार्सा-दा-तासी जनश्रुति/किंवदंती के आधार पर ही रामानंद को रविदास का गुरु बताते हैं तथा प्रचलित जनश्रुतियों का सहारा लेकर केवल उनके व्यक्तित्त्व के पक्ष को सामने लाते हैं। कविता के संबंध में कुछ विशेष विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करते हैं।

हिंदी साहित्य का रेखांकन- रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज-

ग्रीब्ज सामान्य सूचनाओं को आधार बनाकर रविदास के बारे में सामग्री प्राप्त करते हैं। रविदास की योग्यता को सराहते हुए लिखते हैं- **"इनके संबंध में जो सामान्य सूचना प्राप्त है उससे यह कहीं अधिक योग्य थे। यह कम महत्त्व का विषय नहीं है कि जितनी रैदास को प्रसिद्धि मिली है शायद ही एक उपेक्षित चमार जाति का व्यक्ति इतनी प्रसिद्धि प्राप्त करता, रामानंद के एक शिष्य थे"[2]**

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -348

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-66

एडविन ग्रीब्ज भी रविदास के गुरु के रूप में रामानंद को स्वीकार करते हैं। उनकी व्याख्या से प्रतीत होता है कि, भक्तिसाहित्य में एक 'अछूत जाति' से आए रविदास की प्रसिद्धि आश्चर्यचकित कर रही है। लेकिन ग्रीब्ज यदि भारतीय साहित्य की पूर्व में प्रचलित परंपराओं पर नज़र डालते तो उन्हें यह आश्चर्य नहीं होता क्योंकि सिद्ध और नाथों में अछूत जातियों के कवि व रचनाकार बहुतायत में है।

हो सकता है कि ग्रीब्ज की यह धारणा सामग्री और अध्ययन के अभाव में ही पुष्ट हुई हो। क्योंकि उस समय सिद्ध और नाथसाहित्य ज़्यादा प्रकाश में नहीं आया था और जो कुछ आया भी था वह ग्रीब्ज की पहुँच से बहुत दूर रहा होगा।

ग्रीब्ज उस सत्य को भी रेखांकित करते हैं जहाँ रविदास की जाति के कारण बनारस में उन्हें प्रताड़ित किया जाता रहा होगा। उस प्रसिद्धि को भी रेखांकित करते हैं जहाँ 'रानी झाली' और 'मीरांबाई' के गुरु होने का गौरव 'रविदास' को प्राप्त होता है। यहाँ दो प्रकार के ध्रुव रविदास के जीवन में हैं। जहाँ वह एक ओर रूढ़िवादियों के द्वारा परेशान किए जा रहे हैं, तो दूसरी ओर राजपूत रानी उनको अपने गुरु के रूप में स्वीकार करती है।

जिस प्रकार तासी इनकी रचनाओं के संबंध में ज़्यादा कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियां प्रस्तुत नहीं करते हैं, उसी प्रकार ग्रीब्ज भी इनकी रचनाओं के संबंध में उद्धृत करते हुए कहते हैं- रैदास की रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए उन्हें उच्च स्तरीय साहित्य की श्रेणी में नहीं रखते बल्कि 'औसत साहित्यकार' के रूप में देखते हैं। मूल्यांकन कर ग्रीब्ज अपना विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं- साहित्यिक दृष्टि से उनकी रचनाओं में से बहुत सी रचनाएँ उच्च स्तरीय नहीं हैं। प्रायः भाषा और शैली में चमक, परिष्करण और विशिष्टता उत्तम गुणों का अभाव है। अर्थ भी बहुत स्पष्ट नहीं है और शिक्षाएं, कथन कहीं तर्कसंगत नहीं है। किंतु काव्य की आनंददायिनी सच्ची धार्मिक तेजस्विता को दृष्टि में रखकर यदि उसकी तुलना उन काव्य रचनाओं से की जाए जो नैतिकता की दृष्टि से अति दयनीय और निम्न स्तरीय हैं। तो लगता है इन्हीं की स्थिति को उच्च स्तरीय बनाने के लिए धार्मिक तत्त्व और तेजस्विता की खोज की गई है।

एडविन ग्रीब्ज ने साहित्यिक दृष्टि, भाषा, शैली, अर्थ, शिक्षा की तर्कसंगतता तथा आनंद दायिनी सच्ची धार्मिक तेजस्विता के उपादानों के आधार पर औसत ही पाया है। ग्रीब्ज निम्नतम नैतिकता से युक्त रचनाओं से रविदास की कविता की तुलना करते हैं, तो वह इनको 'औसत से कुछ उच्च' पाते हैं। जिसका कारण वह बताते हैं कि इनकी स्थिति को उच्च स्तरीय बनाने के लिए इसकी खोज की गई है। ग्रीब्ज, रविदास की कविता के प्रभाव से प्रभावित हजारों लोगों को मानते हैं। लेकिन इस प्रभावशालिता के संबंध में वह अपने प्रतिमान निर्धारित करते हुए लिखते हैं - प्रभावशाली होना अलग बात है और साहित्यिक होना अलग बात। एडविन ग्रीब्ज इन दोनों प्रतिमानों को रविदास के संबंध में अलगाते नहीं है। **"साहित्य की**

समीक्षा में बल नहीं होता जो ऐसी रचनाओं की उपेक्षा करती है। जिनका एक व्यापक प्रभाव रहा हो"[1]।

एफ. ई. केई –

एफ. ई. केई अपनी इतिहास पुस्तक में, रविदास के संबंध में इतना ही लिखते हैं कि वह रामानंद के शिष्य थे। इसके अलावा और किसी प्रकार का वर्णन वहाँ नहीं मिलता है।

'भक्ति के तीन स्वर'- जॉन स्ट्रैटन हौली-

हौली अपनी पुस्तक 'भक्ति के तीन स्वर' में प्रमुख रूप से मीरां, सूर, कबीर के व्यक्तित्त्व, कविता, कविता के पाठ आदि पर विस्तार से चर्चा करते हैं। लेकिन वहीं वह जब पाठ निर्धारण आदि के संदर्भ में आदिग्रंथ का अध्ययन करते हैं तो वहाँ 'रविदास' के पदों की संख्या से चमत्कृत होते हैं – **"गुरुग्रंथ साहिब में कबीर तथा नामदेव के बाद रविदास को सबसे ज़्यादा उद्धृत कवि माना जाता है। बशर्ते हम सिख गुरुओं की कविताओं को छोड़ दें। रविदास की प्रसिद्धि केवल गुरुग्रंथ साहिब के कारण नहीं है। उनके पद सर्वांगी तथा पंचवाणी में भी संकलित हैं। जो कि दादूपंथ के सबसे महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्र माने जाते हैं। वास्तव में पंचवाणी में जो पाँच वाणियाँ हैं उनमें एक रविदास की ही है। लेकिन उत्तर भारत के भक्तिकालीन कवियों में उनका नाम कम ही लिया जाता है"[2]।** हौली, रविदास और उनकी कविता की उपस्थिति कई पंथों के संकलन में देखते हैं। जिनमें सिख पंथ, दादू पंथ प्रमुख हैं। यानी कि रविदास की व्यापकता या प्रभाव केवल रविदासी संप्रदाय तक ही सीमित नहीं था। बल्कि वह पंथ के बाहर भी राजपूताना और पंजाब में लोकप्रिय था। इन पंथों के धर्मग्रंथों में इनके पदों को स्थान दिया गया। लेकिन क्या कारण है कि हौली जिस मुख्य बात को रविदास के संबंध में उठाते हैं उसका स्पष्ट उत्तर अब तक नहीं खोजा जा सका- कि उत्तर भारत जहाँ के रविदास थे वहाँ के भक्तकवियों में रविदास का नाम कम क्यों लिया जाता है? बनारस के इस कवि का प्रभाव पंजाब और राजपूताना में जितना लक्षित किया जा सका, उतना उस स्थान पर नहीं जहाँ के रविदास थे।

रविदास का प्रभाव दिल्ली तथा पंजाब में ज़्यादा है, जहाँ उनके नाम पर सामाजिक संस्थाएँ तथा शैक्षणिक संस्थाएँ चलाई जा रही है। यह संस्थाएँ मिशन के रूप में कार्यरत हैं। हौली, रविदास के काव्य के प्रसार तथा प्रभाव के संबंध में चर्चा करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि, यह तेजी से होता विस्तार एक जाति (चमार) के महिमामंडन और गुरु मानने के कारण संभव हुआ है- **"उनकी जाति के लोग समाज में अपनी जाति के प्रति पारंपरिक तिरस्कार भावना को खत्म करने के लिए उनके नाम को महिमामंडित करने के लिए जुट गए हैं"[3]।**

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ -66

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 44

[3] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 49

रविदासी संप्रदाय में सर्वेक्षण के दौरान हौली बनारस के रविदास मंदिर में भजनों को ध्यानपूर्वक सुनकर नोट करते हैं और आदिग्रंथ के पाठ से उनका मिलान करते हैं। अध्ययन के दौरान हौली पाते हैं कि जो भजन मंदिर में रविदास के भजनों के रूप में गाए जा रहे थे, वह रविदास के नहीं थे। बल्कि वह उनके अनुयायियों के द्वारा रचे गए थे और गुरु को भगवान मान उनके प्रति भक्तिभाव प्रकट करते हुए उनकी रचना की गई थी। **"जहाँ तक मैं समझ पाया था उन पदों में से एक भी पद ऐसा नहीं था जो गुरुग्रंथ साहिब में संकलित है। मैं तो ऐसे गीत सुन रहा था जो रविदास के लिखे हुए नहीं बल्कि उनके बारे में लिखे हुए थे हालाँकि दर्ज रिकॉर्ड के मुताबिक़ वे ही उनके रचनाकार थे"[1]।** जो भजन, पंथ के मंदिर में भक्तिभाव से रविदास को भगवान मानकर गाए जा रहे थे, उन्हीं भजनों पर रचनाकार के रूप में 'छाप' रविदास की ही लगी थी। मंदिर के गायक जो भजन गा रहे थे, न ही वह रविदास के थे और जिन पर कवि के रूप में रविदास की छाप लगी थी, न वे ही रविदास के थे। क्योंकि प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए हौली ने उन्हें गुरुग्रंथ साहिब के पाठ से मिलान किया था। टेप रिकॉर्डर से रिकॉर्ड कर पदों की प्रामाणिकता जाँचने के बाद हौली ने पाया कि **"उत्तर भारत में कई ग्रंथों का पाठ संबंधित गुरु के प्रति भक्तिभाव प्रकट करके शुरू किया जाता है और जिस धार्मिक परंपरा में सतगुरु को भगवान का अवतार माना जाता है, उसमें भक्तिभाव कि यह अभिव्यक्ति कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इस मामले में ग़ौर करने वाली बात यह है कि कल्पित रचनाकार और वह संत जिसका वह महिमा गान कर रहा है, एक ही व्यक्ति है"[2]**। गार्सा-दा-तासी, ग्रीब्ज, एफ ई केई एक स्वर में रविदास के गुरु के रूप में रामानंद को स्थापित करते हैं। लेकिन हौली रविदास पंथ के अनुयायियों के साथ इस सवाल पर जब चर्चा करते हैं तो पाते हैं कि, पंथ का कोई भी अनुयायी इस मान्यता का समर्थन नहीं करता है। वह लिखते हैं- **"यह समुदाय इस पारंपरिक मान्यता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि विख्यात स्वामी रामानंद उनके गुरु थे"[3]।** दूसरे वे साथ ही सद्गुरु यानि भगवान का भी महिमागान कर रहे थे।

समुदाय के लोग उन पंक्तियों का गायन करते हैं तो एक प्रकार से गर्व का अनुभव करते हैं और अपने वह आदर्श जो समय-समय पर संशोधित और संकल्पित होते रहे, रैदास के बाद भी उनको दोहरा कर अपनी पहचान के एहसास को मज़बूत करते हैं। पंथ के अनुयायियों का इस बात से कोई वास्ता नहीं होता कि वह शब्द गुरु रविदास के हैं या नहीं। वह उन्हें रविदास का ही मानकर चलते हैं।

[1]अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 46

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--46

[3] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--46

यहाँ पर हौली कविता में 'हस्ताक्षर के महत्त्व' को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करते हैं। हस्ताक्षर मौलिक परंपरा में पंक्ति किसके द्वारा कही गई है? इस पहचान के लिए आवश्यक होता था। रविदासी संप्रदाय के उत्तर भारतीय रचनाकारों ने रविदास के हस्ताक्षर के साथ कई कविताओं की रचना की जो आज रविदास के नाम से ही जानी जाती है। इस हस्ताक्षर का महत्त्व यह था कि इससे पाठ की स्वीकार्यता तथा महत्ता बढ़ जाती थी। **"हिंदी के भक्तिकाव्य में 'नाम देने' का यह अर्थ उतना नहीं है कि किसने क्या कहा, ताकि उद्गार को उपयुक्त महत्त्व मिले या कि जिस संदर्भ में वह कहा गया है, उसके महत्त्व को समझा जाए। रचनाकार का नाम केवल पाद टिप्पणी नहीं है, यह कविता में जान डालता है, उसे एक शख़्सियत यहाँ तक की दिव्यता प्रदान करता है, जो उसे उपयुक्त वजन और स्वर प्रदान करता है और यह उसे उस दायरे में पहुँचा देता है, जो कविता को न केवल नए और मोहक सत्य की क्षणभंगुर चमक प्रदान करता है**"[1]। हस्ताक्षर या नाम छाप के कारण वक्तव्य की स्वीकार्यता बढ़ती थी। इसी कारण भक्तिकविता में कवियों पंथगुरुओं के नाम की छाप के साथ आगे आने वाले लोगों ने रचनाएँ की। इसी के कारण प्रक्षिप्तता और पाठानुसंधान का प्रश्न प्रमुख रूप से आज के आलोचकों के समक्ष आता है। क्योंकि वह पाठ को तय नहीं कर पाता है, कि मूल पाठ कौन सा है? जिसकी रचना कवि ने की है? और क्या है जो परवर्ती कवियों द्वारा रचा गया है?

रविदास और अन्य निर्गुण संतकवियों के पाठ के पीछे हौली अनुभूति की पीड़ा को महसूस करने की माँग करते हैं। क्योंकि उसके बिना इस कविता में व्यक्त भावों और उनके दर्द को समझ पाना मुश्किल है – **"बरसों-बरस के उस दर्द को अहसास के बिना पढ़ पाना मुश्किल है, जिसे इस दुनिया के शहरों में एक चमार कवि ने झेला होगा। क्या इस बात से राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है, कि दूसरी कविताओं में वे अपनी कमतर सामाजिक हैसियत को स्वीकार करते हैं और उसे सौम्यता का माध्यम मानते हुए उस पर गर्व भी करते हैं। ब्राह्मणों और वैश्यों के लिए तो इसका जवाब हाँ में हो सकता है लेकिन दलितों का जवाब न में होगा। इस तरह के मिले-जुले जवाबों में ही शायद भक्ति के लोकतंत्रीकरण, सामाजिक सुधार और सार्थक एकता का साधन बनाने की उम्मीद निहित है"[2]।**

सीकिंग बेगमपुरा- गेल ओमवेट

गेल ऑमवेट ने दलित और लोकतांत्रिक मूल्यों, जाति, बौद्धिज़्म आदि पर अपनी कलम चलाई है। इस पुस्तक 'सीकिंग बेगमपुरा' में उन्होंने अध्याय में 'बेगमपुरा की कल्पना 'कबीर' और रविदास' में एक वैकल्पिक लोक की कल्पना करते हुए दोनों हिंदी के कवियों पर विचार

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--66

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--232

किया है। रविदास और कबीर दोनों के चिंतन में जो जोश व आक्रोश है, वह उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि में गेल ऑमवेट देखतीं हैं। वह इसके मूल में उनके हाशिए के समाज में होने के कारण को देखतीं हैं **'वे दोनों सबाल्टर्न थे'** रविदास का पैतृक व्यवसाय चमड़े का काम करने का था। कबीर कपड़ा बुनने का काम करते थे। दोनों काश्तकार जातियों (चमार और बुनकर) की स्थिति उत्तर भारत में शूद्रों में दलित समुदाय के रूप में है। ऑमवेट उनके सबाल्टर्न होने के पक्ष को इनकी कविता के स्वर के लिए महत्त्वपूर्ण मानती हैं।

ऑमवेट इस पुस्तक में उस मुख्य प्रश्न पर विचार करती हैं, जिसमें इन दोनों मध्यकालीन कवियों को रामानंद का शिष्य बताया है। गेल का मानना है कि, **"कबीर और रविदास को भी रामानंद के शिष्यों के रूप में दावा किया जाता है,जो उन्हें सुरक्षित दक्षिण भारतीय ब्राह्मण सगुणी परंपरा से जोड़ते हैं"[1]।** इस दावा के पीछे की राजनीति को ऑमवेट ने इस आधार पर समझा है कि इन दोनों सबाल्टर्न कवियों को किसी भी स्तर पर सगुणी परंपरा से जोड़ने का प्रयत्न था। वह इसे थोपी हुई व्याख्या कहकर ख़ारिज कर देती हैं। इस प्रकार ऑमवेट के पास इस प्रश्न पर ज़्यादा कुछ नहीं था। वह किंवदंतियों या अन्य प्रमाणों का संदर्भ ग्रहण करती हैं। बल्कि इस पक्ष का उद्घाटन करती हैं। यह सगुणी परंपरा से उनको सम्बद्ध करने का एक प्रयत्न है।

कबीर, रैदास के लेखन में वह दोनों पक्षों को पाती हैं इस प्रकार अगर देखा जाए तो इन दोनों कवियों की कविता में सगुण तथा निर्गुण दोनों पक्षों की उपस्थिति का मूल्यांकन करती हैं – **'वास्तव में दोनों कवियों के लेखन उभयभावी हैं'** यही उभयभाव उनकी गुरु संबंधी अवधारणा में विरोधाभास पैदा कर देता है। क्योंकि वह, वहाँ कहती हैं **'सुरक्षित दक्षिण भारतीय ब्राह्मण परंपरा से जोड़ने के लिए थोपी गई व्याख्या है'** तो प्रश्न यह बनता है कि, क्या इन दोनों कवियों में पाए जाने वाला वह उभयभाव अनायास ही था? या फिर उसका कोई अन्य कारण था? लेकिन वह, यह ज़रूर स्पष्ट कर देती हैं कि इन दोनों के गुरु रामानंद नहीं थे।

रैदास का जीवन और कार्य – विनांद एम कैलवर्त, पीटर जी फ्रीडर-

इन्होनें अपनी पुस्तक में रैदास के प्रामाणिक पदों का संकलन कर उनका अनुवाद अंग्रेज़ी में किया है। शुरुआत में रैदास के जीवन और उनके कार्यों का विश्लेषण करते हुए एक लंबी भूमिका प्रस्तुत की है, जो रैदास की कविता की आलोचनात्मक पड़ताल करती है।

"रैदास वाणी में रैदास के जीवन के कई आत्मकथात्मक जीवनी संबंधी संदर्भ शामिल हैं"[2]। रविदास की कविता में लिखित उन पदों की ओर इशारा करते हुए कैलवर्त ने

---

[1] ओमवेट,गेल, सीकिंग बेगमपुरा,नावण्या प्रकाशन,पृष्ठ-92

[2] कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास (1992),मनोहर प्रकाशन, पृष्ठ-11

संतचरित के लिए आत्मकथात्मक पदों की प्रचुरता इनकी कविता में मानी है। जिसमें प्रमुख रुप से-

1. सोढ़ी मनोहरदास मेहरबान (1581 से 1640)
2. पोथी प्रेमबोध (1693) इसमें यह रविदास की सबसे पुरानी ज्ञात पंजाबी जीवनी है। इसमें 16 संतो के जीवन का लेखा-जोखा है।
3. प्रारंभिक हिंदी स्रोत के संदर्भ में अगर हम देखें तो ओरछा के हरिराम व्यास की वाणी में रैदास का उल्लेख मिलता है। जिसमें रामानंद के शिष्य के रूप में रैदास का पहला संदर्भ वह देते हैं।
4. नाभादास के भक्तमाल में रामानंद के 12 शिष्यों में रविदास का वर्णन है।
5. भक्तिरसबोधिनी, प्रियादास की टीका में रविदास का जीवन और उनके चरित के संबंध में संक्षिप्त टिप्पणीयाँ दी गई हैं।
6. ध्रुवदास की भक्तनामावली (राधावल्लभ परंपरा की एक सूची में रविदास सहित कुछ संतों का उल्लेख भी मिलता है)
7. मीरांबाई की वाणी में कई स्थानों पर रैदास का गुरु के रूप में वर्णन मिलता है (इनका उद्गम स्पष्ट नहीं है)
8. दादू और उनके शिष्यों की वाणी में अगर हम देखते हैं तो हमें चार संदर्भ प्राप्त होते हैं।
9. राघवदास के भक्तमाल में रामानंद के शिष्य के रूप में (नाभादास के भक्तमाल पर आधारित है)

इन सभी संदर्भों के आधार को ग्रहण करते हुए विनांद एम कैलवर्त ने रविदास के जीवन वृत्त का निर्माण किया है। वह सभी प्राप्त स्रोतों की पड़ताल करने का काम अपनी आलोचना में करते हैं।

रविदास का प्रसार हिंदी क्षेत्र से बाहर पंजाब, हरियाणा और राजस्थान में भी व्यापक रूप से हुआ और इनके अनुयायी भी इन प्रांतों में पाए जाते हैं। इन भाषाई अंतरों के कारण विभिन्न पांडुलिपियों में रविदास का नाम अलग-अलग मिलता है। रैदास के नाम के संबंध में –

1. पंजाबी में रविदास
2. उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश, राजस्थान में रैदास
3. गुजरात और महाराष्ट्र में रोहिदास
4. बंगाली में रविदास[1]

निर्विवाद रूप से आलोचकों ने रविदास की जाति को ‘चमार’ माना है। सामान्यतःजन्म के संबंध में बनारस, लेकिन राजस्थानी वाणी में इसका उल्लेख नहीं किया गया। लेकिन आलोचना में इनके सामने जन्म के संबंध में इनका विवाद आता है- जिसमें बनारस में एक

[1] कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास (1992),मनोहर प्रकाशन, पृष्ठ--21

निश्चित स्थान मडुवाडीह या गोवर्धनपुर? दोनों मे से किस स्थान पर इनका जन्म हुआ था यह निश्चित कर पाना कैलवर्त के लिए मुश्किल था।

गुरु के संबंध में रविदास की प्रामाणिकता पर संदेह आधुनिक विद्वान जताते हैं। लेकिन यह अपनी आलोचना में विभिन्न संदर्भों के आधार ग्रहण कर अपनी स्थापना प्रस्तुत करते हैं। इनके शिष्य या संप्रदाय के संबंध में 'झालीरानी' जो चित्तौड़गढ़ की रानी थी, को रविदास द्वारा दीक्षा लेने की बात अनंतदास और प्रियादास के वर्णन के आधार पर स्वीकार करते हुए स्थापित करते हैं। मीरांबाई, रविदास की शिष्या थीं। इस संदर्भ में 'पोथी प्रेमप्रबोध' में वर्णन मिलता है। गुरु-शिष्य-गुरु के संबंध में विचार करते हुए 'विनांद एम कैलवर्त' ने भारतीय वार्त्तासाहित्य के आधारों और प्रचलित किंवदंतियों को प्राथमिक स्रोत के रूप में काम में लिया है।

"माघ पूर्णिमा रविवार को रविदास (भारतीय संतों के जन्म के उत्सव के लिए पूर्णिमा के दिन मनाए जाते हैं) इससे पता चलता है, जबकि संतो के जन्म के उत्सव के लिए पूर्णिमा के दिन पारंपरिक होते हैं, हो सकता है कि वे सभी पूर्णिमा के दिन पैदा न हुए हों"[1]। कैलवर्त ने उस प्रचलित संतचरित जीवन विन्यास को सामने लाकर उस पर विचार किया है और रविदास की जन्मतिथि पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया है। वह यहाँ इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को सामने लाते हैं कि भारतीय परंपरा में प्रसिद्धि प्राप्त संत के जन्म को पूर्णिमा के दिन निश्चित कर दिया जाता था। लेकिन यह प्रामाणिक नहीं कि उस संत/ प्रतिष्ठित व्यक्ति का जन्म पूर्णिमा को हुआ ही हो। रविदास के संबंध में वह इसी तर्क के आधार पर जन्म संबंधी मान्यता पर संदेह व्यक्त करते हैं।

कैलवर्त रविदास के जीवनचरित को निर्मित करने का काम करते हैं,इसके लिए वह –

1. रविदास की जीवनी के पंजाबी स्रोत
2. रविदास की जीवनी के हिंदी स्रोत
3. रविदास की वाणी में प्राप्त स्रोत

कैलवर्त अपनी आलोचना में इन तीन प्रमुख आधारों को सामने रखकर इनमें प्राप्त किंवदंतियों, तिथियों और घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक जीवनवृत्त रचने का प्रयास करते हैं।

रविदास की जीवनी के पंजाबी स्रोत - हरि का सपना, कंगन का प्रकरण, मीरां का बनारस आना, शालिग्राम की परीक्षा, समाधि, भगवान से साक्षात्कार आदि।

रविदास की जीवनी के हिंदी स्रोत- पिछले जन्म में ब्राह्मण थे, बचपन में घर से निकाला जाना, रामानंद का शाप, पारस पत्थर का मिलना,(प्रियादास अपने भक्तमाल के टीका में पांच स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिदिन का भी उल्लेख करते हैं), झाली रानी का शिष्या बनना, शालिग्राम की

[1] कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास (1992),मनोहर प्रकाशन, पृष्ठ--26

पूजा, ब्राह्मणों की जलन, भोज में प्रत्येक ब्राह्मण के सामने एक रैदास का होना, जनेऊ का प्रकटीकरण- (अनंत दास का टीका में) हमें मिलता है।

इन प्रकरणों में एक संत की महानता सामने आ रही है न कि ऐतिहासिक प्रामाणिकता। कैलवर्त ने उन सभी प्रसंगों का संयोजन उनके जीवनी निर्माण में किया है जो किसी भी रूप में कहीं भी प्रचलित थे। रविदास की जीवनी के पंजाबी स्रोतों में ब्राह्मण वर्जन नहीं है। जबकि पोथी प्रेमप्रबोध में रविदास का 'ब्राह्मण वर्जन' मिलता है।

वाणी के स्रोत- कैलवर्त, रविदास की कविता के संदर्भ में सन् 1582 से सन् 1698 तक चार परंपराओं की मौजूदगी को स्वीकार करते हैं।

1. गैर सांप्रदायिक परंपरा
2. दादूपंथी परंपरा
3. नाथ सिद्ध परंपरा(दादूपंथी प्रभाव कम है)
4. पंजाबी परंपरा (आदि ग्रंथ में)

यहाँ वह स्वतंत्र परंपरा जो किसी संप्रदाय से सम्बद्ध नहीं थी बल्कि मौखिक रूप से पदों का संवहन लोक में कर रही थी, दादूपंथ की वाणी, नाथ-सिद्ध परंपरा से संवाहित और आदिग्रंथ में संकलित रविदास का पंजाबी वर्जन ये मुख्य रूप से वाणी के स्रोत हैं। इनमें प्राप्त रविदास एक दूसरे से भिन्न हैं, उनके स्वर और वाणी में व्यक्त विचारों में भी कुछ-कुछ अंतर प्राप्त होता है। कैलवर्त अपनी आलोचना में एक प्रश्न सामने लाते हैं, बनारस से पंजाब में रविदास का प्रसार कैसे हुआ? चमार अनुयाई या अन्य नाथों द्वारा? देखा जाए तो इसका कोई ज़बाब तथ्यात्मक रूप से हमारे सामने नहीं आता है, कैलवर्त भी इस संदर्भ में केवल प्रश्न करके ही सारी स्थितियों और परिस्थितियों का अध्ययन करते हुए, रविदास की वाणी की प्राप्त पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। लेकिन रविदास की कविता का प्रसार का वह कोण ज्ञात नहीं कर पाते हैं।

रैदास की मूल वाणी-

रैदास की मूल वाणी के संबंध में रैदास जिन परंपराओं को आत्मसात करते हैं, उनमें सिख संप्रदाय,दादूपंथ और नाथपंथी प्रमुख हैं। सिख संप्रदाय और नाथ पंथ के बीच में शत्रुता का संबंध कैलवर्त दर्शाते हैं और दादूपंथ और नाथपंथ के बीच अच्छे संबंधों को वह स्वीकार करते हैं। हार्ट्समैन ने उन परिस्थितियों की ओर ध्यान दिलाया है कि कि आख़िर दादूपंथ अपने समय में प्रचलित उपासना/साधना पद्धतियों से अलग सिद्धों की ओर क्यों आकृष्ट हो रहा था? **"जब सभी वैष्णव शिक्षाओं को अपना रहे थे, दादूपंथी ने उन्हें गोरखनाथ की प्रणाली और पतंजलि योग का हवाला देकर इसे अपनी शिक्षाओं का अंग बना कर योगिक परंपरा पर ज़ोर दिया"[1]।** नामदेव, कबीर, रैदास से पता चलता है कि वह अच्छे स्वभाव के थे। यह वर्णन हमें इनके आत्म कथनों में मिलता है। हम देखते हैं तो पाते हैं कि इन कवियों ने

[1] कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास (1992),मनोहर प्रकाशन, पृष्ठ--52

सिद्धों की कई सारी योग साधनाओं का वर्णन अपनी कविता में किया है। चार परंपराओं में से तीन या सभी में इन पदों की उपस्थिति इंगित करती है कि ये रविदास के सबसे लोकप्रिय पद रहे होंगे।

कैलवर्त अन्य निर्गुण कवियों की कविता में प्रयुक्त *'इंप्रूवाइजेशन'* को रैदास की कविता में भी लक्षित करते हैं- **"यह मानने का कोई कारण नहीं है कि, रविदास स्वयं अपने पद हमेशा ठीक वैसे ही गाते थे, जब वे उन्हें प्रस्तुत करते थे। सामान्य क़व्वाली परंपरा में गीत के पाठों को समय और स्थान तथा दर्शकों और उन प्रतिभागियों की प्रतिक्रिया के अनुसार कलाकारों द्वारा बदल दिया जाता है"[1]।** इस प्रकार रविदास की वाणी में विसंगतियाँ एवं अनियमितताएँ प्राप्त होती हैं और कैलवर्त इन बदलावों के पीछे निम्न कारण प्रमुख मानते हैं-

1. प्रदर्शनों की सूची में कोई सुसंगत संबंध नहीं है।
2. मुंशी द्वारा कुछ बदलाव होना यह स्वीकार करते हैं।

"एक गुरु-शिष्य परंपरा के भीतर संचरण मौखिक प्रसारण का एकमात्र रूप नहीं हो सकता। ग़ैर रैदासी परंपराओं के गायकों ने भी रैदास या उनके किसी शिष्य द्वारा किए जा रहे प्रदर्शन को सुनकर रैदास के पद सीखे होंगे। यह संभावना है कि रैदास के पद जल्द ही तीसरे हाथ से सीखे जा रहे होंगे। उन गायकों द्वारा जिन्होंने रैदास के पद को दूसरे गायकों द्वारा सुना हुआ था, जिन्होंने उन्हें रैदास या उनके शिष्यों से सुनकर सीखा था"[2]। इस प्रकार कैलवर्त ने विभिन्न पांडुलिपियों का अध्ययन करते हुए उनमें कोई सुसंगत संबंध नहीं पाया है। इस असंगतता के मूल में लिपिकारों और मौखिक परंपरा की प्राथमिक और द्वितीयक पंक्तियों के अनुकरणकर्ताओं को मुख्य कारक माना है।

रैदास की शिक्षाएं-

रैदास की शिक्षाओं को भक्तों के मध्य भजन के रूप में गाया जाता है। इनमें गाए जाने वाले उपदेश हैं-

1. चेतावनी
2. प्रार्थना
3. विरह में प्रेम
4. भ्रम छवि का मिथ्यात्त्व
5. स्तुति की महिमा
6. साध-मिलाप
7. सच्ची भक्ति का स्वरूप
8. प्रियतम की पहचान

[1] कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास (1992),मनोहर प्रकाशन, पृष्ठ-58

[2] कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास (1992),मनोहर प्रकाशन, पृष्ठ-68

9. अनुभव

रैदास अपने पदों में ईश्वर को दिव्य राजा के रूप में साकार ईश्वर की बात करते हैं। कैलवर्त अपनी आलोचना में "**रैदास ईश्वर के उन अवतारों का आवाहन करते हैं जो करुणा का उदाहरण देते हैं। यह इस बात का संकेत नहीं है कि अवतारों की वैधता को स्वीकार करते हैं बल्कि इस बात की ओर संकेत करते हैं उन्होंने ईश्वर के विशेष लक्षणों के रूप में देखा"[1]।** रैदास की वाणी में राम निर्गुण (आनंद लेना, रुकना, विश्राम में रहना) परम भगवान, विष्णु नहीं वे मूर्तिपूजा की रूढ़िवादी हिंदू प्रथा को ख़ारिज करते हैं। उनके लिए ईश्वर की पूजा करने का एकमात्र सच्चा तरीक़ा आंतरिक मनन के माध्यम से है भगवान से मिलन के लिए सुमिरन (प्रयोग नहीं इस शब्द का),चिंतन,स्मरण आदि का प्रयोग अपनी आलोचना में करते हैं।

[1] कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास (1992),मनोहर प्रकाशन, पृष्ठ-84

3.3- कबीर पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहासों में-

पश्चिम के देशों में कबीर को जानने का सबसे पहला काम इटैलियन भाषा में 'मार्को डेला टोंबा' (1726-1803) ने किया था। कबीर के 'ज्ञानसागर' का अनुवाद उन्होंने सन् 1758 ईसवी में करने का काम किया था। 'मार्को डेला टोंबा' का अधिकांश जीवन बिहार के बेतिया और पटना में बीता था। इसके बाद कबीर के अध्ययन के क्रम में इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के विद्वान आए। कैप्टन डब्लू प्राइस (1780-1830) ने बीजक में पाया जाने वाला गोरखनाथ से कबीर के वार्तालाप को अपने पुस्तक '**हिंदू एंड हिंदुस्तानी सिलेक्शन'** में संकलित किया था। वहीं जनरल हैरियट ने यह **'ए मेंबार ऑन दी कबीर पंथ'** में कबीर की कुछ कविताओं का अनुवाद फ्रेंच में किया था। हैरियट (1786-1860) ब्रिटिश सेना में अफ़सर थे उन्होंने सन् 1832 ईसवी में कबीर का अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया था।

कबीर के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व पर पहला वैज्ञानिक अनुशीलन करने का श्रेय 'एच. एच. विल्सन' को जाता है। विल्सन प्राच्यविद तथा मूल रूप से सर्जन थे कोल ब्लॉक के कहने पर वह सन् 1811 ईसवी में 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' के सचिव बनाए गए उनका अध्ययन पहली बार '**हिंदू सेक्टस'** नाम से 'एशियाटिक रिसर्च' में सन् 1828 ईसवी तथा 1832 ईसवी में छपा था।

सुभाष चंद्र कुशवाहा की पुस्तक '**कबीर है कि मरते नहीं'** में कबीर से जुड़ी अनेक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया गया है - कबीर का जन्म-मृत्यु वर्ष, माता-पिता, गुरु आदि सवालों पर सुसंगत विचार किया गया है। वहीं पर संदर्भ प्राप्त होता है कि सन् 1841 ईसवी से कबीर के बारे में ब्रिटिश अख़बारों में लेख और समाचार छपने लगे थे। उन्होंने इस संदर्भ में 'ब्राडफोर्ड ऑब्ज़र्वर का उदाहरण दिया है, जिसमें लांगलेज का लंबा लेख है और लांगलेज ने इस लेख में कबीर को 'भारत का महान सुधारक' और '15 वीं सदी का नायक' कहा है।

इसके बाद इस पुस्तक में इस बात के लिए कई संदर्भ दिए गए हैं। जिसमें कबीर पर पश्चिम के अखबारों में लेखों के माध्यम से चर्चा होती रही। और लगभग दो दर्जन अख़बार जिनमें-

1. एलेंज इंडियन मेल (2 नवंबर 1848)
2. गार्जियन (1जनवरी1853)
3. मॉर्निंग एडवरटाइज़र (10 मार्च 1835)
4. एस्कॉर्ट मैन (5 जुलाई 1872)
5. बर्मिंघम डेली पोस्ट (15 अगस्त 1879)
6. ईडी एडवरटाइजर (30 नवंबर 188)
7. द होमवर्ड मेल (23 जनवरी 1882)
8. लंदन दिल्ली न्यूज़ (24 मार्च 1883)

9. यार्कशायर गज़ट (17 जून 1893)[1]

प्रमुख रूप से इनमें कबीर से संबंधित लेख, छवि और कबीर पर चर्चा-परिचर्चा होती रही। लेकिन यह सब वह प्रस्थान बिंदु थे जहाँ अनुवाद या कबीर के किसी एक पक्ष को लेकर संक्षेप में लेख लिखे गए हैं।

कहीं कबीरपंथ की जानकारी है, कहीं किसी अनुवाद की समीक्षा है और इससे पश्चिम में कबीर पर अध्ययन के द्वार खुले। 19वीं सदी के पूर्वार्ध के में गार्सा-दा-तासी फ्रेंच में हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास लिख रहे थे, वह फ्रांस में पूर्वी भाषाओं के प्रोफ़ेसर थे। तासी ने कबीर पर लिखने के लिए जिन अध्येताओं से अपने इतिहास में आधार सामग्री ली। उनमें **मार्को डोला टोम्बा, हैरियट**, **विलियम- प्राइस, विल्सन** प्रमुख थे। तासी ने अपनी पुस्तक के प्रथम भाग को सन् 1839 ईसवी में और द्वितीय भाग सन् 1847 ईसवी में प्रकाशित किया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कबीर विषयक लेखन को अगर तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो कबीर पर तासी ने शुक्ल जी से डेढ़ गुना ज़्यादा लिखा है। यह इसलिए आश्चर्यजनक है क्योंकि भारत में रहकर 90 साल बाद जब शुक्ल जी कबीर का मूल्यांकन करते हैं तो, कम स्थान अपनी आलोचना में देते हैं और तासी ज़्यादा स्थान देते हैं। जबकि तासी भारत से दूर उनका मूल्यांकन कर रहे थे।

गार्सा-दा-तासी- इतिहास

तासी, कबीर के समय-समाज को 'आधुनिक संप्रदायों के प्राचीन संस्थापकों' का समय मानते हैं। और उन में विशेष रुप से कबीर का उल्लेख करते हैं, कबीर के संबंध में जब तासी लिखते हैं जिन्होंने संस्कृत का साहस पूर्वक विरोध किया उनके शिष्य सूरत गोपालदास सुखनिधान के संकलनकर्ता और धर्मदास 'अमरपाल' के रचयिता 'नानक' और 'भागोदास' जो अत्यंत प्रसिद्ध है।

कबीर को तासी प्रमुख रूप से स्थान देते हैं, उनके भाषाई तेवर को इंगित करते हैं, भाषा की विशेषता के बाद तासी कबीर के अन्य पक्षों उपासना, नाम का अर्थ, गुरु, जन्म की कृतियाँ, पंथ के संबंध में संक्षिप्त में चर्चा करते हैं। इस विश्लेषण में ऊपर लिखी गई प्रमुख पश्चिमी विचारों की पुस्तकों के अलावा तासी, अबुल फज़ल की **आईने-अकबरी** और नाभादास के **भक्तमाल** की सामग्री का उपयोग करते हैं। कबीर के संबंध में भक्तमाल की प्रसिद्ध उक्ति का उदाहरण तासी देते हैं **'कबीर कान राखी नहीं वर्णाश्रम सटदर्शनी'** की आलोचना दृष्टि पर इसका प्रभाव भी लक्षित होता है। उन्होनें अपने ग्रंथ में कबीर को एकेश्वरवादी माना है। इसी को दोहराते हुए तासी मानते हैं **"जिन्हें अबुल फजल ने एकेश्वरवादी बोला है एक प्रसिद्ध सुधारक और अत्यंत प्राचीन हिंदी के लेखकों में से एक हैं, जिस भाषा में उन्होंने हमें महत्त्वपूर्ण रचनाएँ दी है, इस पौराणिक व्यक्ति के संबंध में भक्तमाल में भी मिलता**

[1]कुशवाहा, सुभाष चंद्र,कबीर हैं कि मरते नहीं,अनामिका प्रकाशन 2019,

है"[1]**।** कबीर का नाम क्या था? तासी इस पर विचार करते हैं क्योंकि नाम से ही उनकी धर्मगत-पंथगत जो स्थापना है उनका मूल्यांकन सही से करने में आसानी होती है। वह लिखते हैं **"प्रायः कबीर ह्रस्व 'इ' के साथ किंतु विकृत रूप में लिखा मिलता है। यह अरबी भाषा का एक विशेषण शब्द है जिसका अर्थ है- 'बड़ा' और जो नाम अल्लाह को जो सबसे बड़ा है दिया जाता है। कभी अपने को कबीरदास जी कहते हैं जो अरबी और भारतीय मिश्रित जिसका अर्थ है ईश्वर का दास"**[2]**।** तासी हिंदी की अपेक्षा उर्दू और अरबी साहित्य से ज़्यादा परिचित थे। इसीलिए उनके इतिहास में उन स्थापनाओं की ज़्यादा झलक मिलती है जो उर्दू में या फारसी में उपलब्ध हैं। चाहे वह अबुल फज़ल का आइन-ए-अकबरी हो या अरबी शब्दकोश।

तासी का कबीर के व्यक्तित्त्व और जीवन संबंधी अधिकतम वर्णन किंवदंतियों पर आश्रित है, उसमें जन्म से संबंधित वह किंवदंती जिसमें एक ब्राह्मण अपनी बाल विधवा पुत्री को रामानंद का दर्शन कराने ले जाते हैं और वहीं पर रामानंद द्वारा एक आशीर्वाद दिया गया, तेरे गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होगा, इसका पुत्र मानवता की रक्षा करेगा, जन्म से संबंधित है। कबीर का कपड़े बुनने वाले जाति से होना या स्वयं विष्णु ने उनसे वैष्णव रूप में भिक्षा मांगी और विष्णु द्वारा उनकी मदद किए जाना, उन्होंने इतना धन प्रदान किया कि अपने घर पर इतना सामान पाकर अपना रोजगार छोड़ दिया और राम की भक्ति में पूर्णता तल्लीन हो गए। यह किंवदंतियाँ कबीर को रोज़गार या पैतृक कार्य के बीच में ही छोड़ देने वाला साबित कर रही हैं। जिसको तासी ने अपने इतिहास में स्थान दिया है।

"सिकंदर लोदी को कहाँ जानता मैं तो राम को जानता हूँ सलाम से मेरा क्या काम?"[3]**।** यह किंवदंती कबीर को 'कट्टर वैष्णव संत' घोषित करती है। जबकि जब हम कबीर की कविता को देखते हैं तो पाते हैं कि कबीर के राम और राम में बहुत ज़्यादा अंतर ही नहीं पूर्णतः अलगाव है। किंवदंतियों के आधार पर कबीर की जाति को ब्राह्मण, विष्णु से भेंट और राम की पक्षधरता से ऐसा लगता है कि तासी, कबीर को वैष्णव रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन 'ग्राहम' की पुस्तक **'ऑन सूफिज़्म**' की स्थापना को भी वह उद्धृत करते हैं जिसमें स्थापित किया गया है "**कबीर मूलतः मुसलमान थे"**[4]**।** तासी अपनी आलोचना में प्रचलित कबीर विषयक किंवदंतियों को ज़्यादा स्थान देते हैं वह उनकी प्रामाणिकता या सत्यता की जाँच करने का प्रयास नहीं करते हैं।

तासी, कबीर की रचना के संबंध में उन्हें प्राचीन मानते हुए उनमें मौजूद विविधता को रेखांकित करते हैं। कबीर की कुछ खास रचनाओं का नाम तासी द्वारा लक्षित किया गया है

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-146

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-146

[3] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -151

[4] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -153

1. **रेख्तस-** कबीर की कविताएं जिनका नाम हिंदुस्तानी कविताओं के लिए प्रयोग शब्द रेख़्ता (मिश्रित) से लिया गया है।

2. **साखी- "सखी और बहुवचन में सत्य कबीर की कुछ कविताओं का विशेष नाम कृष्ण और गोपियों से संबंधित एक गीत को सखी संबंध कहते हैं"**[1] इस प्रकार का तासी सबद- शब्द और साखी जिसका संबंध साक्ष्य से नहीं बल्कि कृष्ण काव्य में आए सखी शब्द से सामीप्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। और कबीर के भजनों का दूसरा विशेष नाम-

3. **समय** देते हैं, तासी उस मानक पर बात करते हैं, जहाँ पहचानने का प्रयास किया गया है कि, क्या कबीर का है? और क्या कबीर के अनुयायियों द्वारा रचित है? इन संग्रहों में **"कहहिं कबीर शब्दों से जो कुछ वास्तव में है, उनका है व कहे कबीर जो कुछ उनकी वाणियों का सार है, और कहिए दास कबीर शब्दों से जो कुछ उनके शिष्यों (दासों) में से किसी एक का है भेद किया जाता है"[2]।**

तासी, कबीर के छंदों और उनके प्रभावों का वर्णन करते हैं। कबीर की कविता में 'आगमवाणी' अनेक प्रकार के छंद भी हैं जो उन लोगों के लिए जो इस संप्रदाय की थाह लेना चाहते हैं। तासी, कबीर की रचनाओं के प्रभाव को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं- **"इन सब रचनाओं की शैली अकृत्रिम सरलता से विभूषित है, जो मोहित और प्रभावित करती है। उसमें एक शक्ति और एक विशेष रमणीयता है"[3]**। जनश्रुतियों के आधार पर तासी अनुमान लगाते हुए कहते हैं - लोगों का कहना है कि कबीर की कविताओं में चार भिन्न अर्थ है 'माया, आत्मा, मन और वेदों का सिद्धांत' महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कविता के किसी भी पक्ष में तासी, कबीर के संबंध में 'समाज सुधारक' जैसा शब्द कम लाते हैं। बल्कि वह व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व का चित्रण करते हैं तो कबीर के संदर्भ में 'वैष्णव शब्दावली' का प्रयोग ज़्यादा करते हैं।

तासी, कबीर को ईश्वर की एकता में विश्वास व्यक्त करने वाला और मूर्तिपूजा के विरोधी के रूप में अपने इतिहास में स्थान देते हैं। सुधारक के संबंध में अंत में लिखते हैं **"कबीर ब्राह्मण भारत के लिए वैसे ही सुधारक थे जिस प्रकार बहुत दिनों बाद मुस्लिम भारत के लिए सैयद अहमद हुए"[4]।**

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन-

कबीर जिस समय में अपनी वाणी कह रहे थे ग्रियर्सन ने उस समय को अपने इतिहास में **'15वीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण'** कहा है। वह पुनर्जागरण के युग में पहला नाम रामानंद

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-54

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-154

[3] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-

[4] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -158

का मानते हैं। **"अब हम चारण काल को पीछे छोड़ते हैं और प्राचीनता के कुहासे से निकलकर 15 वीं सदी के प्रारंभ में प्रवेश करते हैं। इस संबंध में जो पहला नाम हमें मिलता है वह है रामानंद का"[1]।** इन्हें ग्रियर्सन 'धार्मिक सुधारक' के रूप में स्थान प्रदान करते हैं। ग्रियर्सन ने संदर्भ ग्रंथ के रूप में नाभादास के 'भक्तमाल' को उपयोग में लिया है। कबीर के संबंध में जो व्याख्या की गई है उस पर भी इसका प्रभाव लक्षित होता है। ग्रियर्सन कबीर को 'बनारस का जुलाहा' कहते हैं और 'रामानंद के सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध शिष्य' के रूप में स्थान देते हैं।

कबीर के जन्म और जीवन विषयक किंवदंतियों को स्थान देने के बाद उनके जीवनकाल को 300 वर्ष का मानते हैं जो लगभग अविश्वसनीय सा है। **"एक जुलाहे की स्त्री नीमा अपने पति नूरी के साथ एक बारात में जा रही थी, उसने बनारस के निकट लहरतारा नामक तालाब में एक कमल के ऊपर इन्हें पाया। यह 1149 से 1449 तक लगभग 300 वर्ष जीवित रहे"[2]।** ग्रियर्सन जैसे अध्येता कबीर के जीवन काल की सीमा 300 वर्ष कैसे मान रहे हैं, यह तथ्य समझ से परे है।

ग्रियर्सन इतिहास में कबीर की 14 रचनाओं का उल्लेख करते हैं। उसमें वर्णित विषय सामग्री के संबंध में कथ्य को नैतिक और धार्मिक बताते हैं। कबीरपंथ के सिद्धांतों और कबीर के संबंध में अध्ययन करने वालों के लिए इतिहास में एक दृष्टि दी गई है और कहा गया- **"जो लोग इस संप्रदाय के सिद्धांतों का गंभीर अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए आगाम-बानी आदि पदों की विविधता है जिसमें अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री है"[3]।** कबीर के पुत्र कमाल के संदर्भ में प्रचलित है- **"बूड़ा वंश कबीर का उपजा पुत्र कमाल"** जिसकी सामान्यतः व्याख्या यह की जाती है कि, कमाल ने किसी भी प्रकार के पंथ के संगठन के लिए मना कर दिया था। लेकिन ग्रियर्सन अपने इतिहास में इस संदर्भ में व्याख्या प्रस्तुत करते,हुए लिखते हैं- **"यह अपने पिता के कथनों के विरुद्ध दोहे बनाया करते थे। इसलिए यह कहावत है बूडा वंश कबीर का का उपजा पूत कमाल"[4]।** मुख्य प्रश्न यहाँ यह है कि किसी भी परवर्ती इतिहासकार ने कमाल को कवि के रूप में उद्धृत नहीं किया, और न ही उनके कविता संग्रह का ही कोई प्रमाण मिला। जो कबीर की काव्य मान्यताओं के उलट हो। क्योंकि अगर ऐसा हुआ होता तो अनुमान लगाया जा सकता है कि कबीर की कविता जिस कट्टरता और पाखंड के खिलाफ मुखर थी उसके झंडाबरदार 'कमाल' की कविता का प्रचार अवश्य करते। अगर वह कबीर की कविता के उलट काव्य लिख रहे होते।

कबीर पंथ की 12 शाखाओं का उल्लेख ग्रियर्सन अपने इतिहास में करते हैं। जिसका वर्णन 'डॉ ग्रियर्सन के साहित्य इतिहास' पुस्तक में मिलता है इस में कबीरपंथ के प्रभाव को भी

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-69
[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-70
[3] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ--71
[4] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-72

लक्षित किया है- **"बाह्य समन्वय भाव तथा उपास्य के किसी स्थूल एवं प्रत्यक्ष स्वरूप के अभाव में कबीरपंथ भारत के सब प्रांतों एवं वर्गों में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका, इसीलिए वह विभाजित हो गया। उन्हें कदाचित ऐसी 12 शाखाओं का पता लगा था"[1]।** कबीर पंथ की अधिक लोकप्रियता न हो पाने का कारण ग्रियर्सन कबीर की 'वाणी में समन्वय का अभाव' और 'अप्रत्यक्ष रूप में किसी ईश्वर का ना होना' माना है।

इसी कारण एक केंद्रीय कबीरपंथ तथा उसका समस्त भारत में विस्तार नहीं हो सका। कबीर के सिद्धांतों के संबंध में ग्रियर्सन की धारणा थी कि- **"कबीर के सिद्धांत यहाँ तक कि किसी सीमा तक भाषा भी दक्षिण भारत के 'नेस्टोरियन ईसाई धर्म' से प्रभावित थी"[2]।** ग्रियर्सन कबीर के सिद्धांतों में 'ईसाइयत का प्रभाव' किस आधार पर खोजते हैं? यह उनके उपनिवेश के शासक के रूप में सोची गई एक परिकल्पना मात्र है। क्योंकि किसी भी प्रकार से कबीर पर 'दक्षिण के नेस्टोरियन ईसाईयों का प्रभाव' नहीं दिखाई पड़ता बल्कि वह भारतीय चिंतन की अवैदिक और अपौराणिक परंपरा/धारा के वाहक थे।

ग्रियर्सन, कबीर और दादू का तुलनात्मक अध्ययन अपने इतिहास में करते हैं और एक सिरे पर दोनों को अलगाते भी हैं। यों तो दोनों के सिद्धांत एक जैसे हैं किंतु 'दादू की वाणियों' में ईश्वर संबंधी मुसलमानी धारणा का सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया है। 'दादू की वाणी' में मुसलमान संबंधी धारणायें नही मिलतीं हैं। इसके अलावा अन्यत्र भी कबीर, दादू तथा नानक का आकलन करते हुए कहते हैं- **"तीनों संतों की वाणियाँ यद्यपि रामानुजाचार्य के उपदेशों से निसृत हुईं किंतु उनमें मूलभूत साम्य न रहा। ये राम को अवतार नहीं अपितु स्वयं परमेश्वर मानते रहे। उनके धर्म की नींव ऐसी विभूति के प्रेम के स्पर्श की आकांक्षा पर आधारित थी। उन्होंने निष्कर्ष दिया कि ये तीनों धर्म गिनी-चुनी आत्माओं को आकृष्ट कर पाए और अपनी समर्थक एवं अनुयायी जनता के लिए आचरण के ऊसर सिद्धांत बनकर रह गए थे"[3]।** निर्गुण कविता के महत्त्वपूर्ण स्तंभ कबीर थे, उनके सिद्धांतों ने व्यावहारिकता में कम लोगों को आकर्षित किया। क्योंकि आमजन के जीवन में कोई बदलाव उस साधना पद्धति के द्वारा नहीं दिखाई दे रहा था।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज- हिंदी साहित्य का रेखांकन-

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज ने निर्गुण काव्यधारा के कवि-वर्णन के लिए तासी के ग्रंथ का सहारा लिया है। और उसी के संदर्भ के कारण आदिग्रंथ के निर्गुण संकलन को ग्रीब्ज महत्त्व प्रदान करते हैं- **"आदिग्रंथ में प्राय: निर्गुण काव्यधारा के संतों की वाणी का संकलन हुआ है। तासी ने अपने इतिहास के लिए इसे एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ समझकर बहुत सी सामग्री**

---

[1] गुप्ता, आशा (1948),डॉ ग्रियर्सन के साहित्येतिहास, आत्माराम एंड संस पृष्ठ-12

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ--99

[3] गुप्ता, आशा (1948),डॉ ग्रियर्सन के साहित्येतिहास, आत्माराम एंड संस पृष्ठ-100

इससे ग्रहण की थी"[1]। इतिहास में ग्रीब्ज, कबीर के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से चिंतन करते हैं। कबीर के जन्म विषयक परिस्थितियों की स्पष्टता के अभाव में वह किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते हैं। और सामान्य रूप से प्रचलित एक तथ्य उनका **पालन पोषण नीरू-नीमा** नामक जुलाहे ने किया था। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण विधवा की संतति मानते हैं। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि ग्रीब्ज, कबीर विषयक किंवदंतियों को अपने इतिहास में स्थान दे रहे थे। वह किसी से सहमत या असहमत नहीं हो रहे थे। जाति के संबंध में भी ग्रीब्ज-**"उनकी जो भी जाति रही हो किंतु यह स्पष्ट है कि वे एक मुसलमान के घर पोषित हुए थे और उसी तरह यह भी स्पष्ट है कि हिंदुत्व के प्रति उनका बहुत सुदृढ़ झुकाव था"[2]।** ग्रीब्ज, कबीर को रामानंद का शिष्य बताते हुए एक स्थापना देते हैं और कबीर की 'प्रसिद्धि' तथा समाजसुधारक के रूप में स्थापित होने के पीछे इनका महत्त्व निर्धारित करते हैं -**"रामानंद ही के कारण कबीर एक हिंदू के रूप में मान्य हुए और संभवतः वे हिंदू धर्म की शिक्षा के बारे में जितना अधिक जानते थे, वह सब उन्होंने रामानंद से ही ग्रहण किया था"[3]।** ग्रीब्ज, कबीर के गुरु के रूप में रामानंद को स्थापित करते हैं और उनके ज्ञान/ सिद्धांतों में रामानंद के प्रभाव की अधिकता को भी लक्षित करते हैं। उनके परंपरावाद का बचाव करते हुए ग्रीब्ज कहते हैं 'भारत में संभवतः ऐसा कोई गुरु नहीं हुआ जो परंपरावाद का कम पोषक रहा हो' लेकिन इस परंपरावाद को वह रामानंद को कबीर के गुरु होने में बाधा नहीं मानते हैं। रामानंद में मौलिकता नहीं थी। यह बात स्वीकारते हुए कबीर जैसे शिष्यों के कारण जिन्होंने मौलिक रूप से बहुत कुछ दिया। इस 'करवाने' में परोक्ष रूप से रामानंद के महत्त्व को ग्रीब्ज द्वारा स्थापित किया गया है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक कबीर का जीवन किंवदंतियों से भरा हुआ है और इन्हीं किंवदंतियों से ग्रीब्ज, कबीर का जीवन रेखांकित करने का प्रयत्न अपने इतिहास ग्रंथ में करते हैं। कबीर अपने जीवनकाल में ही सामान्य से विशिष्ट हो गए थे। वह अपने स्वकथनों में खुद को महान समझते भी थे- उनके द्वारा कहे गए स्वकथनों के आधार पर ही एडविन ग्रीब्ज इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं- **"उनके स्वकथन ही इस निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि वे अपने लिए महान कहलाना अनुपयुक्त नहीं समझते थे"[4]** और उनका नाम कबीर है, कबीरदास नहीं। क्योंकि इनकी रचनाओं में इसी नाम का बहुतायत पाया जाना इसका प्रमाण है। कबीर के पास मौलिक चिंतन था, मौलिक विचार थे। लेकिन पंथ के बाद के अनुयायियों में इसका अभाव पाया जाता है। वह जिस अखंडता के साथ शिष्यों को उपदेश

---

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-22

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-50

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-49

[4] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-52

देते थे ग्रीब्ज ने उसे रेखांकित किया है- **"अपनी स्पष्टवादिता के द्वारा उन्होंने हिंदू और मुसलमान दोनों के सिद्धांतों पर गहरी चोट पहुँचाई। उन्होंने धर्म की उन विविध रीतियों के बाह्य रूपों की निरर्थकता को बड़ी कठोरता के साथ प्रदर्शित किया जिनसे जीवन जुड़ नहीं पाता और हृदय प्रभावित नहीं होता। कबीर अपने काव्य उपयोगितावादी विचारक थे उन्होंने अनुपयोगी दार्शनिक बातों को खरे तर्क पर कसकर उनका खंडन किया और सत्य पवित्रता तथा सत्यता के पक्ष में खड़े होकर पाखंड और अंधविश्वास का विरोध किया"[1]।** कबीर के दार्शनिक विचार किसी सिद्धांतकार या दार्शनिक की भांति सुलझे हुए नहीं थे। इसीलिए ग्रीब्ज इसका अध्ययन करते हुए किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते हैं। कबीर की रचनाओं से किसी सुदृढ़ आध्यात्मिक कल्पना की जटिलता का निराकरण हो सकता है। यह संदेहास्पद हो सकता है कि उनके दार्शनिक विचार बहुत सुलझे हुए नहीं थे।

अपनी कविता में आध्यात्मिक विचार किसी एक सिद्धांत की या दर्शन की लीक कबीर नहीं पीट रहे थे। ग्रीब्ज, कबीर के उस पक्ष पर भी ध्यान केंद्रित कराते हैं- जहाँ वह राम, रहीम, ईश्वर, अल्लाह और अन्य नामों का उपयोग करते अवश्य है लेकिन यह अभिव्यक्ति एक उदासीनता का भाव लिए हुए प्रतीत होती है। कबीर की कविता में अभिव्यक्त ईश्वर कौन है? यह स्पष्ट नहीं है। ग्रीब्ज ने बीजक को अतिशय प्रामाणिक रचना माना है, इस रचना को सारगर्भित और ठोस रूप में चिह्नित करते हैं। ग्रीब्ज बीजक को पाठ के आधार पर सरल नहीं बल्कि एक जटिल रचना की विशेषता लिए हुए मानते हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह सामने आता है कि उस जटिलता का माध्यम क्या था? क्या भाषा थी? या फिर कहन की शैली क्या थी? या फिर प्रतीक? इसमें से किसी भी पक्ष को ग्रीब्ज स्पष्ट न करते हुए बीजक पर जटिलता का आरोपण करते हैं।

'हंड्रेड पोयम्स ऑफ़ कबीर' पुस्तक को संकलन के रूप में ग्रीब्ज लेते हैं और पढ़ते हुए महसूस करते हैं कि- **"मूल की अपरिष्कृत हिंदी के साथ परिष्कृत अंग्रेजी में अनुवाद विचित्र विरोधाभास प्रस्तुत करता है। शायद ही किसी भी स्थिति का कवि समग्रता कबीर की तुलना में भाषा और शैली के प्रति इतना अधिक उदासीन रहा हो"[2]।** कबीर को हजारी प्रसाद द्विवेदी '**वाणी का डिक्टेटर**' कहते हैं। वह अपनी बात 'दरेरा देकर कहलवा लेने' में माहिर थे और इस प्रश्न का प्रतिप्रश्न यह भी हो सकता है- कि क्या कबीर भाषा और शैली में योगदान देने के लिए काव्य लिख रहे थे? ग्रीब्ज जिस उदासीनता की बात कर रहे हैं वह इसीलिए है, क्योंकि कबीर उपदेश और बात पहुँचाने का प्रयास कर रहे थे और इसी कारण कबीर ने अपनी कविता में भाषा और व्याकरण का मोह नहीं किया।

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-52

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-54

कबीर की कविता में कौन कबीर की कविता है? और कौन अनुसरणकर्ताओं की है? यह प्रश्न बार-बार ग्रीब्ज के इतिहास में सामने आया है। इसे निश्चित करने में पाठानुसंधान कोई प्रविधि पूर्ण रूप से समर्थ नहीं है। दोहों के गूढ़ अर्थ संदर्भ के कारण कई बार समझने में असमर्थता होती है। जिन उपदेशों को कबीर अपनी भाषा में प्रेषित कर रहे थे, उन उपदेशों के संबंध में एडविन ग्रीब्ज ने कहा- **"कबीर की शिक्षा (उपदेश) दिन के प्रकाश की भांति स्पष्ट है। लेकिन उनके पास लंदन के कुहासे की भांति सघनता की बहुत बड़ी शक्ति भी है। उनकी रचनाओं में अर्थगांभीर्य भी है जिसका उपयोग वे करते भी हैं। यही नहीं डेल्फी की आकाशवाणी की भांति (प्राचीन ग्रीक के अंतर्गत डेल्फी नामक स्थान की आकाशवाणी जो अस्पष्ट मानी गयी है) उनमें अस्पष्टता भी है। साखी व दोहे लिखने में सर्वश्रेष्ठ हैं"[1]।** कबीर एक तरफ सहज-सरल और जीवन प्रसंगों से जुड़े हुए दोहों को लिखते हैं तो दूसरी ओर गूढ़, रहस्यमय, उलटबासियाँ इसी कारण ग्रीब्ज कविता की एक भाषा और शैली को निष्कर्ष रूप में निश्चित नहीं कर पाए। कबीर कहीं अभिधा से भी ज़्यादा अभिधात्मक है, तो कहीं व्यंजना से भी ज़्यादा व्यंजनात्मक। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर रचनाओं के संबंध में अपना मन्तव्य प्रदर्शित करते हैं- **"विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से बहुत से कवि कबीर की अशिष्ट भाषा, टूटी-फूटी रचनाओं (प्रायः जिन्हें कविता की कोटि में सर्वथा नहीं रखा जा सकता) और अपरिपक्व वाक्यों के कारण उनसे बहुत आगे बढ़ गए हैं किंतु भाषा और शैली की दीप्ति और परिष्कृति की अपेक्षा यदि उनकी शक्ति व्यंजना और रचना प्रभाव पर विचार किया जाए तो निश्चय ही हिंदी साहित्य के कवियों के मध्य कबीर का बहुत ऊंचा स्थान होगा"[2]।** कबीर की कविता की भाषा-शैली के कारण ग्रीब्ज उसकी महानता पर संदेह करते हैं। ऐसे ही आचार्य शुक्ल भी इनकी कविता की काव्यात्मकता पर प्रश्न खड़े करते हैं। जो ग्रीब्ज से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। कबीरपंथ के वर्तमान और भविष्य पर बात करते हुए उनके दोहों की जनसामान्य तक पहुंच को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- **"कबीर की तुलना में किसी भी लेखक के शब्द इतनी अधिक मात्रा में न तो उद्धृत किए जाते हैं और ना मान्य हैं"[3]।** इस प्रकार देखा जाए तो गरीब जनता में कबीर की उपस्थिति के मौखिक रूप को भी रेखांकित करते हैं।

एफ. ई. केई का इतिहास और कबीर की कविता-

अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में एफ ई केई कबीर के संदर्भ में शुरुआत करने से पहले रामानंद की चर्चा करते हैं और सगुणभक्ति के राम से इतर उन्हें निर्गुणभक्ति के राम को स्थान

[1]अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-57

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-60

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-60

देने में रामानंद की मुख्य भूमिका मानते हैं- **“रामानंद ने एक आध्यात्मिक, अदृश्य और व्यक्तिगत ईश्वर को राम कहा और उसमें जीवंत विश्वास का उपदेश दिया”[1]।** उन्होंने केई की नजर में राम के इस स्वरूप को प्रतिस्थापित किया ही लेकिन अपने शिष्य कबीर की तरह धर्म, कर्मकांड, पाखंड, अंधविश्वास, जाति आदि पर किसी तरह का कोई प्रहार नहीं किया न ही इसका कोई प्रमाण मिलता है कि उन्होंने सामाजिक रुप से मान्य नियमों में रंचमात्र भी बदलाव करने की बात की है। यह बात एक बार फिर से इसलिए यहाँ उठाई जा रही है क्योंकि कबीर के संदर्भ में बात करते हुए हर इतिहासकार/आलोचक रामानंद के द्वारा कबीर के व्यक्तित्त्व की निर्मिति का क्रम उसमें साम्य/वैषम्य अवश्य देखता है।

रामानंद के शिष्यों ने इस आंदोलन को शक्ति इस रूप में दी कि उन्होंने लोकभाषा में साहित्य रचना की, न कि संस्कृत में। केई इस तथ्य को प्रमुखता से रेखांकित करते हैं। केई, कबीर के जीवनकाल को सन् 1440 ईसवी से सन् 1518 ईसवी तक मानते हैं और उस मान्य किंवदंती का समर्थन करते हैं, जिसमें उन्हें विधवा ब्राह्मणी के पुत्र के रूप में बताया गया है- **“कवि तथा धार्मिक नेता दोनों ही रूपों में मुसलमान बुनकर कबीर, रामानंद के शिष्यों में महानतम थे। जनश्रुति के अनुसार कबीर वास्तव में एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। जिसने लोक लज्जा के भय से नवजात शिशु को लहरतारा तालाब में फेंक दिया”[2]।**

केई प्रथमतया कबीर के कवि या कविता पक्ष को अन्य आलोचकों/इतिहासकारों की तरह बिल्कुल भी नहीं नकारते हैं। बल्कि कवि को पहले और धार्मिक नेता को उसके बाद में रखते हैं। केई के पास कबीर के धर्म के संबंध में कोई उलझन देखने को नहीं मिलती। वह स्पष्ट रूप से उन्हें ‘**मुसलमान बुनकर कबीर**’ के रूप में कहते हुए स्थान देते हैं। लेकिन अन्यत्र उनकी इस बात में विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। केई यह लिखते हैं कि- **“यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे वास्तव में मुसलमान थे या नहीं किंतु उनके विचारों पर इस्लाम का प्रभाव संदिग्ध रूप से निर्दिष्ट किया जा सकता है। वे भारत के ‘ईश्वरवादी आंदोलन’ के संस्थापक थे”[3]।** कबीर द्वारा रामानंद को गुरु बनाने के पीछे उनके पास एक नई किंवदंती है **‘लोग निगुरा (बिना गुरु का) कहकर उनका मजाक उड़ाया करते थे इस अपमान से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने रामानंद का शिष्य बनने का निश्चय किया’** उत्तर भारत में आज भी यह मान्यता है कि व्यक्ति को बिना गुरुदीक्षा के मोक्ष नहीं मिलता है। शायद यह प्रचलित मान्यता इसके पीछे का कारण हो सकती है। लेकिन इस प्रमुख सवाल के मध्य में दोनों का समय और आलोचकों की बहस आ जाती है। जिसमें एक रामानंद को कबीर का गुरु मानने के पक्ष में है और दूसरा नहीं है। कबीर ने अपनी कविता में अवतारवाद, मूर्तिपूजा,

---

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर पृष्ठ-33

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर पृष्ठ-34

[3] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-34

कर्मकांड आदि की निंदा की लेकिन एफ. ई. केई उनकी सबसे बड़ी कठिनाई उसे मानते हैं। उन्होंने किसी का भी पक्ष नहीं लिया- **"इससे भी बड़ी कठिनाई हिंदू और मुसलमान दोनों के विरोध से पैदा हुई कबीर ने दोनों के बाह्यचरों की भर्त्सना की थी जिससे दोनों आहत थे"**[1]

कैसा रहा होगा वह बेपरवाह व्यक्ति जो सत्ता और समाज के साथ-साथ किसी भी धर्म की परवाह नहीं करता था। इनके द्वारा कहा गया काव्य आदिग्रंथ और बीजक दोनों में ही संकलित है। लेकिन केई पूर्णरूपेण कबीर की रचनाएँ इनको नहीं मानते और इनमें से अधिकांश उनके उत्तराधिकारियों की मानते हैं।

केई ने कबीर की भाषा पर विचार करते हुए **"शब्दक्रीडा और प्राय: अनेकों उपमाओं की अस्पष्टता से कठिनाई और बढ़ जाती है। इन सबके बावजूद हिंदी साहित्य में कबीर का स्थान निर्विवाद रूप से ऊंचा है। जिस अद्भुत साहस से उन्होंने समकालीन धार्मिक कर्मकांड पर आक्रमण किया, हर प्रकार के पाखंड का निषेध करते हुए ईश्वर के अन्वेषकों से सत्य की मांग की और तीव्र नैतिकता के साथ ईश्वर के तत्त्व को सर्वोपरि रखने का आग्रह किया। यह उनके काव्य को असाधारण महत्त्वता प्रदान करता है"[2]।** इसके अलावा उनके 'चुभते हुए व्यंग्य', 'आघात करने वाली सूक्तियां' और 'छंदों की मोहक लय' सब मिलकर उनके काव्य को आश्चर्यजनक रूप से शक्तिशाली बनाते हैं।

कबीर कविता में जहाँ दार्शनिकता, योग आदि की शब्दावली का प्रयोग करते हैं, वहाँ अर्थ तक पहुँचना बिना उस प्रक्रिया को जाने मुश्किल ही हो जाता होगा। इसीलिए एफ. ई. केई शब्दक्रीड़ा द्वारा की गई कठिनता जैसा विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। लेकिन जब हिंदी साहित्य में स्थान निर्धारित करना होता है तो केई इनकी निर्भीकता और पक्षधरता के कारण बहुत ऊंचा स्थान प्रदान करते हैं। भाषाई वाकपटुता, व्यंग्य और लय के द्वारा काव्य को शक्तिशाली कहकर केई, कबीर के स्थान को निर्धारित करते हैं।

पूर्ववर्ती कवियों के मूल्यांकन तथा कबीर के कविता और साहित्य में उनकी कविता के योगदान, लोकप्रिय बनाने तथा जनता की भाषा में लिखने के कारण केई स्थापित करते हैं कि **"वे 'हिंदी साहित्य के अग्रदूत' तथा 'हिंदी भक्ति साहित्य के पिता' माने जाते हैं"[3]।** केई, कबीर को मूल्यांकन के बाद हिंदी साहित्य में बहुत बड़ा स्थान और हिंदी भक्ति साहित्य को उनका ऋणी मानते हैं।

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-35

[2]अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-36

[3]अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-36

3.4 - कबीर के स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक-

पाश्चात्य हिंदी साहित्य इतिहास लेखकों पर बात करते हुए उस पृष्ठभूमि पर भी संक्षिप्त में बात की जा चुकी है जिसमें एक इटैलियन 'मार्को डोला टोम्बा' से शुरू हुआ कबीर का अध्ययन अकादमिक/ इतिहास ग्रंथों, लेखों से स्वतंत्र पुस्तकों और अनुवाद के माध्यम से आज समस्त पश्चिम में व्याप्त है। कबीर, बुद्ध के बाद दूसरे व्यक्तित्त्व हैं जो भारत की पहचान दुनिया में रखते हैं। पश्चिम के अखबार जिनमें कबीर मौजूद हैं। कहीं अंग्रेजी अनुवाद के रूप में, कहीं लेख तो कहीं पंथ की जानकारी के रूप में। 'गुई सोरमन' की पुस्तक **'द जीनियस ऑफ इंडिया' 2001** में कबीर को **'राष्ट्रकवि'** कहा गया है। कबीर के विभिन्न पक्षों पर अब तक बहुत शोध हो चुके हैं और लगातार जारी है। इस उप अध्याय में कबीर पर लिखे लेखों (जिनकी अवधारणाओं ने साहित्य की आलोचना को प्रभावित किया है), अनुसंधानों (जिनके निष्कर्षों से कबीर को देखने की नई दृष्टि प्राप्त हुई है) तथा अनुवादों की भूमिकाओं को उपयोग में लेने के अलावा स्वतंत्र रूप से कबीर की कविता या उनके पंथ पर लिखी पुस्तकों का सहारा लिया गया है।

कबीर के बारे में पहला व्यवस्थित अध्ययन 'एच. एच. विल्सन' ने किया था। लेकिन डॉ. तृप्ति श्रीवास्तव अपने शोध 'भक्ति परंपरा के प्राच्यवादी पाठ' में इस तथ्य को इंगित करती हैं कि **"कवि कबीर जिनके गीतों का संग्रह पहली बार अंग्रेजी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है, भारतीय रहस्यवाद के इतिहास के सबसे रोचक व्यक्तियों में से एक थे"[1]।** 1915 में प्रकाशित '100 पोयम्स ऑफ़ कबीर' की भूमिका 'एडविन अंडरहिल' ने लिखी थी। यह रहस्यवाद की विशेषज्ञ थीं और रविंद्रनाथ टैगोर के संबंध में उन्होंने लिखा - "'रविंद्र बाबू को कबीर बहुत प्रिय थे। बाबू को कबीर का 'रहस्यवाद' विशेष रूप से आकर्षित करता था"। (लिखित पढ़त - वेबसाइट)

यानी कबीर के गीतों का परिचय अनुवाद के द्वारा हुआ और अनुवाद की भूमिका में लेखिका ने कबीर को 'रहस्यवादी' बताया। यह तथ्य यहाँ इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि अनुवादकों की इस अध्ययन में बहुत बड़ी भूमिका है।

अंडरहिल लिखती हैं- **"इन कविताओं में रहस्यवादी भावनाओं का विस्तृत विस्तार है। उच्च कोटि की अमूर्तता, अनंत के प्रति पारलौकिक आवेग से लेकर परमात्मा की अंतरंग एवं व्यक्तिगत अनुभूति को हिंदू एवं मुस्लिम विश्वासों में से बिना किसी भेद के लिए गए घरेलू रूपकों एवं धार्मिक संकेतों में अभिव्यक्ति मिली है"[2]**। इसमें रहस्यवाद, अनंत विस्तार, पारलौकिक आवेग, अंतरंग अनुभूति आदि ऐसे शब्द कबीर की आलोचना में स्थापित किए गए जिनका असर लंबे समय तक आलोचना में रहा।

---

[1] श्रीवास्तव,तृप्ति,भक्ति परंपरा का प्राच्यवादी पाठ,नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली पृष्ठ-60

[2] एडविन अंडरहिल,हंड्रेड पॉयम्स ऑफ कबीर,पृष्ठ-61

"इन अनुवादकों ने 'देशज कबीर' की 'दरेरा देने वाली भाषा' को 'अभिजात्य विक्टोरियन' भाषा शैली से प्रतिस्थापित किया है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों को प्राच्यवादी विचारधारा के तहत ही व्याख्यायित किया जा सकता है"[1]।

यहाँ, कहाँ कबीर की भाषा और कहाँ अनुवाद की अभिजात्य भाषा द्वारा प्रतिस्थापित कर नई भाषा को निर्मित किया जाना? इस व्याख्या में यह भी स्पष्ट रूप से दिख रहा है कि कबीर के रहस्यवादी पक्ष को शुरुआती अनुवादकों द्वारा ज़्यादा उभारकर कबीर को 'रहस्यवादी' कह दिया गया। जबकि कबीर के अन्य पक्षों पर 'अंडरहिल' के द्वारा ध्यान नहीं दिया गया है। जिस प्रकार 'अंडरहिल' की स्थापना है उसी प्रकार 'विल्सन' ने पश्चिम में यह मान्यता उद्धृत की - **"कबीर विधवा ब्राह्मणी के पुत्र होने की मान्यता उद्धृत की"**[2]**।** हंटर ने सन् 1882 ईसवी में **"कबीर को 15 वीं शती के भारत के लूथर"**[3] कहा है।

जी.एच. वेस्टकाट कबीर के प्रभाव तथा जनता तक उनकी पहुंच की बात को रेखांकित करते हुए लिखते हैं - यह सामान्यतः स्वीकृत है कि सभी महान हिंदू धर्म सुधारकों में कबीर और तुलसीदास का उत्तर और केंद्रीय भारत के अशिक्षित वर्गों पर सबसे गहरा प्रभाव था। कर्नल माल्कन ने कबीर को सूफी संप्रदाय का बताया है।

इन स्थापनाओं में रहस्यवाद, ब्राह्मणी का पुत्र, सुधारक, सूफी प्रभाव आदि स्थापनाऐं अनुवादकों के माध्यम से पश्चिम में पाठकों तक लेकर जाते हैं।

एफ. ई. केई- 'कबीर और कबीर पंथ'-

केई अपने इतिहास ग्रंथ की भांति ही 'कबीर और कबीर पंथ' पुस्तक में कबीर के परिवेश की चर्चा प्रथमतया करते हैं। वह वही स्थापना उद्धृत करते हैं जो भक्ति के उदय की पृष्ठभूमि में उन्होंने प्रस्तुत की थी। यहाँ पर मुसलमान शासन के प्रभाव को इस काल पर लक्षित किया है **-"दिल्ली सल्तनत के राज में हिंदू धर्म लगातार ख़तरे में रहा सुल्तानों और प्रांतों के सूबेदारों में से जो अत्यंत क्रूर थे। वे अक्सर हिंदुओं का नरसंहार करते थे और हिंदू धर्म स्थलों को नष्ट कर देते थे। जो थोड़े कम क्रूर थे वे भी बलपूर्वक हिंदुओं का इस्लाम में धर्मांतरण कराते थे।** ×××××× **यही समय था जब हिंदू आस्था की महान धाराओं में एक 'भक्ति धारा' का विकास हुआ"**[4]**।** इसी व्याख्या को भक्ति आंदोलन के उदय की पृष्ठभूमि में थोड़े हेर-फेर के साथ आचार्य शुक्ल भी अपने इतिहास में स्थान देते हैं। लेकिन यदि परिस्थितियाँ सच में ऐसी ही थीं तो मुख्य प्रश्न उभरकर यह सामने आता है कि क्या यह कट्टर मुस्लिम शासनकाल 'कबीर' के उद्भव के लिए भी उपयुक्त था? या कबीर के लिए कोई अन्य परिस्थिति या परंपरा जिम्मेदार थी? जिसने कबीर को 'कबीर' बनने में मदद की।

---

[1] श्रीवास्तव,तृप्ति,भक्ति परंपरा का प्राच्यवादी पाठ,नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली पृष्ठ-68

[2] श्रीवास्तव,तृप्ति,भक्ति परंपरा का प्राच्यवादी पाठ,नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली पृष्ठ-136

[3] श्रीवास्तव,तृप्ति,भक्ति परंपरा का प्राच्यवादी पाठ,नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली पृष्ठ-140

[4] श्रीवास्तव,तृप्ति,भक्ति परंपरा का प्राच्यवादी पाठ,नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली पृष्ठ -32

दूसरा मुख्य प्रश्न यह कि क्या रामानंद कबीर के गुरु थे? थे तो उन पर कितना प्रभाव रामानंद का था? कबीर मूर्तिभंजक और हिंदू-मुस्लिम कट्टर मान्यताओं के खिलाफ एक मुखर क्रांतिकारी आवाज थे। लेकिन गुरु रामानंद में इस प्रकार का कोई भी लक्षण नहीं मिलता है जो कबीर से मिलता हो या जिस पर रामानंद का प्रभाव हो।

कबीर अपनी पूरी लेखनी में ब्राह्मण और शेख के गठजोड़ तथा उनके विशेषाधिकारों पर प्रश्न उठाते रहे। वहीं रामानंद के संबंध में एफ. ई. केई का मत है **"हालांकि रामानंद ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया लेकिन वे सामाजिक बंधनों को रामानुज के अनुयायियों की तुलना में कम मान्यता देते थे"[1]।** क्या रामानुजन से सामाजिक बंधनों में ज़्यादा उदार होने के कारण ही रामानंद, कबीर के गुरु हो जाएंगे? क्योंकि केई इस तर्क को इस संदर्भ में सामने रखते हैं।

केई कबीर के व्यक्तित्त्व के ऊपर बनारस के व्यापक प्रभाव का महत्त्व निर्धारित करते हुए- **"कबीर का बनारस में रहने और वहाँ अलग-अलग किस्म के लोगों के संपर्क में आने से उनके जीवन पर निश्चय ही निर्णायक प्रभाव पड़ा होगा"[2]।** केई आलोचना के क्रम में उस पद्धति को उपयोग में लाते हैं जिसमें कवि की कविता और व्यक्तित्त्व निर्माण में बनारस का महत्त्व निर्धारित करते हैं। बनारस शैवों, तांत्रिकों, वैष्णव धर्म के अनुयायी, गंगा और अन्य स्थलों के कारण वहाँ बहुतायत धार्मिक मान्यताओं को मानने वाले लोग निवास करते थे। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धार्मिक स्थल होने के कारण बनारस में तीर्थयात्रा करने देशभर से लोग आते-जाते थे। बनारस में सहिष्णु और तार्किक संस्कृति के पनपने की ज़्यादा संभावना थी। विचार-विनिमय के इन साधनों से कबीर ने अपने को बनाने का प्रयत्न किया होगा। हम देखते हैं कि बनारस संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का भी पूरे देश का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। वहाँ धार्मिक कट्टरता और अनुष्ठानों के अलावा पाखंड का बोलबाला रहा होगा। जिसे कबीर ने बहुत करीब से देखा होगा। इसी कारण इनके प्रति क्षोभ का मुखर भाव कबीर के व्यक्तित्त्व में आया।

कबीर के संबंध में जन्म विषयक, बचपन, पत्नी, बच्चे, रामानंद, शेख तकी, सिकंदर लोदी और मृत्यु विषयक जनसामान्य में व्याप्त किंवदंतियों को ही पुस्तक में स्थान दिया इसमें पुनर्जन्म व शाप आदि का वर्णन है, जिनकी ऐतिहासिक प्रमाणों से कोई पुष्टि नहीं होती है। अपितु यह वह किवदंतियाँ हैं जो बाद में अनुयायियों के द्वारा बनाई गई या प्रचलित की गयीं। केई किंवदंतियों को स्थान अवश्य देते हैं लेकिन 'ऐतिहासिक कबीर' की बात करते हुए उनकी ऐतिहासिकता का मूल्यांकन करते हैं। कुछ तथ्यों का वह स्वयं विश्लेषण करते हैं तथा कुछ तथ्यों के लिए 'बनारस गजटियर' या अन्य आधिकारिक साक्ष्यों के आधार पर कबीर के जीवन इतिहास पर अपनी राय व्यक्त करते हैं – **"उनकी मृत्यु की तारीख संभवतः सही है**

---

[1] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-34

[2] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-38

और उसका तथ्यों के साथ मेल भी सही बैठता है; परंतु उनके जन्म की तारीख बहुत पहले की प्रतीत होती है। इसके पीछे कवि का संबंध रामानंद से जोड़ने की इच्छा हो सकती है क्योंकि कहा जाता है कि रामानंद की मृत्यु लगभग 1410 में हुई थी तब कबीर की उम्र 12 वर्ष की रही होगी"[1]।

कबीर के जीवनवृत्त को बृहद करने के पीछे का तर्क केई यही प्रस्तुत करते हैं। जहाँ एक ही प्रयोजन है कि कैसे भी 'कबीर-रामानंद' का संबंध स्थापित हो जाए। बनारस गज़ेटियर कबीर को आजमगढ़ के 'बेलहार गाँव' का मानता है तथा साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए केई निष्कर्ष प्रतिपादित करते हैं कि कबीर विवाहित थे।

कबीर की ऐतिहासिकता और प्रामाणिक जीवनी की खोज में केई शोध की कई परतों को उजागर करते हैं और कमाल तथा कमाली के जन्म के पीछे या कबीर के पुत्र-पुत्री बनने के पीछे जो चामत्कारिक घटना बताई जाती है उसका खंडन करते हैं। **"हिंदू वैराग्य के ऐसे विचारों के चलते कमाल और कमाली के विषय में उनके अनुयायियों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि कबीर के घर में उनका आना असामान्य रूप में था। परंतु इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि वे उन्हीं के बच्चे थे"[2]।**

यानी पंथ द्वारा कबीर को पहले अविवाहित बताया गया। फिर इस अविवाहित जीवन को सिद्ध करने के लिए उनके पुत्र-पुत्री को चामत्कारिक रूप से उत्पन्न हुआ बताया गया। सभी आलोचक कबीर की लोकप्रियता पर बात करते हैं लेकिन केई उनकी अलोकप्रियता के कारणों की पड़ताल करते हैं।

1. विचारों के कारण परिवार में अलोकप्रिय।
2. ब्राह्मणों के प्रति कटूक्तियों के कारण ब्राह्मण वर्ग में अलोकप्रिय।
3. मौलवियों और गोरख पंथियों में भी कबीर अलोकप्रिय थे।

इसी अलोकप्रियता के कारण ही सुल्तान द्वारा फरमान देने के कारण कबीर को मगहर जाना पड़ा हो ऐसी संभावना भी एफ. ई. केई के द्वारा व्यक्त की गयी है। जिसका जिक्र अन्य किसी आलोचक की आलोचना में नहीं मिलता है।

कबीर के प्रभाव के रूप में केई उनके द्वारा लोकमत पर किए गए प्रहार को महत्त्व देते हैं। मान्य लोकमत जो तार्किक नहीं था, उस पर निर्भीक होकर प्रश्नचिन्ह लगाने का काम कबीर द्वारा किया गया और इसी के कारण कबीर की तुलना केई अपनी आलोचना में सुकरात से करते हैं- **"उन्होंने अपने समय के लोकमत पर प्रहार करने का अद्भुत साहस दिखाया था। पुरातन यूनानियों के बीच सुकरात की तरह उन्होंने यथार्थ को समझने के लिए परंपरागत वचनों और लोकप्रिय विचारों के पार देखने की कोशिश की। उन्होंने हिंदू धर्म और इस्लाम दोनों की कमजोरियों को निर्भयता के साथ उजागर किया। उनका**

[1] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-58-59

[2] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-67

प्रभाव न केवल उनके समय में बहुत गहरा था बल्कि आज भी बना हुआ है"[1]। केई, कबीर की कविता के विभिन्न पक्षों की पड़ताल करते हुए लोकप्रियता और अलोकप्रियता दोनों के कारणों का तार्किक विवेचन करते हैं तथा उन्हें 'कालजयी कवि' के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिनका प्रभाव आज भी जनमानस में व्याप्त है।

केई, कबीर के कृतित्त्व पक्ष पर विस्तार से तथा सुसंगत विचार करते हैं। जो बीजक आज हमारे पास है उसके बनने का क्रम, पंथ की स्थापना के बाद शुरू हुआ। केई का मत है- **"इसके बाद जब कबीर पंथ का गठन हुआ तो संभवतः एक प्रमाणिक ग्रंथ की आवश्यकता महसूस हुई और तभी कबीर के विभिन्न छंदों को एक जगह संगृहीत किया गया। संभवतः यही बीजक के उद्भव की कहानी है। इसके संकलनकर्ता शायद 'भगवानदास' हो सकते हैं और यह संकलन 1600ई. तक तैयार नहीं हुआ था"**[2]। केई बीजक में कई अन्य लोगों के द्वारा कबीर की छाप द्वारा रचे गए पदों को मिलान करने तथा पाठानुसंधान की आवश्यकता पर ज़्यादा जोर देते हुए प्रक्षिप्तता को पहचानने की एक संभावित विधि सुझाते हैं- पाखंड, धार्मिकता और आडंबर के कबीर मुखर विरोधी थे और उनका यह मत स्पष्ट था। केई अपनी आलोचना में कुछ टूल्स इस प्रकार सुझाते हैं-

1. हमें ऐसे पदों को स्वीकार नहीं करना चाहिए जिनमें इनकी प्रशंसा हो।
2. गुरु की आवश्यकता, लेकिन पवित्र एवं पूजनीय नहीं।
3. ब्राह्मण को विशेष दर्जा नहीं।
4. पुराण या कुरान आधिकारिक साहित्य नहीं।
5. ब्रह्मांड की उत्पत्ति के संबंध में।

इस प्रकार से वह कबीर की वाणी के मूलस्वर को पहचानकर उनके व्यक्तित्व के आधार पर पदों में प्रक्षिप्तता की पहचान करने का सुझाव देते हैं। पंथ अपने गठन के बाद 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया से जब गुजरा तब उसमें पहले से स्थापित हिंदू धर्म की बातों तथा प्रथाओं के सम्मिलन के कारण कबीर के उन पदों, जिसमें वह किसी भी प्रकार की कट्टरता को ना मानने की बात करते हैं, से पंथ के अनुयायियों को सामाजिक रूप से समस्या होने लगी होगी। इस कारण से भी कबीर की कविताओं में कुछ जोड़ दिया गया होगा,ऐसी संभावना केई के द्वारा व्यक्त की गई है।

"हालांकि उन्हें (पंथ बनाने वालों) कबीर की कविताओं का एक बड़ा हिस्सा अपनी जरूरतों के अनुकूल लगा होगा। किंतु जल्दी ही उन्हें पता चल गया होगा कि जिन कविताओं का उन्होंने संग्रह किया है, वे उस तरह के भजन, स्तुति, ध्यान और धार्मिक विचार प्रस्तुत नहीं करती हैं, जिनकी उन्हें जरूरत थी। इसलिए वे अन्य कवियों की कविताओं को कबीर के नाम से संकलन में जोड़ने के लिए बाध्य हुए

[1] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-81
[2] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-88

होंगे"[1]**।** कबीर की कविताओं के संदर्भ में यहाँ पर 'संस्कृतीकरण' के प्रभाव के कारण उनके अनुयायियों के द्वारा इस प्रकार का कार्य किया गया होगा। क्योंकि कबीर 'कट्टर मानवतावादी' व्यक्तित्त्व थे और उनके अनुयायी कबीर की तरह मान्यताओं पर अधिक तथा तार्किक रूप से नहीं टिक पाए होंगे। यही कारण रहा होगा कि कबीर की कविताओं में प्रचलित मान्यताओं को पुष्ट करने वाली कविताओं को कबीर के नाम से जोड़ दिया गया होगा। इन जोड़ी गई साखियों की संख्या 5000 से कम नहीं है। जबकि मूल साखियों की संख्या केवल 400 है।

भाषा के संबंध में कबीर केई को अस्पष्ट और कठिन लगते हैं। बोलियों तथा मुहावरों की गूढ़ संरचना से कबीर की कविता की कठिनता और बढ़ जाती है। इसका प्रमुख कारण केई मानते हैं कि कबीर के समय में प्रयुक्त शब्द-संपदा अब प्रचलन में नहीं है तथा अधिकतम विलुप्त हो चुकी है। उस समय के प्रचलित तुर्की मूल के शब्दों का प्रयोग भी बहुतायत में किया गया, जिनके शब्द-संदर्भ और अर्थ आदि समझना कठिन है। इसलिए कबीर की कविता और अधिक अस्पष्ट तथा कठिन हो गई है। जहाँ अन्य आलोचक कबीर की भाषा को 'बहता नीर' कहकर प्रशंसा करते हैं, तो केई इसे कबीर की भाषा की सीमा मानते हैं- **"कबीर ने अपने समय की लोकप्रिय बोली में रचना की थी। इसलिए उनकी भाषा खुरदरी और शैली अपरिष्कृत है"**[2]**।** इस भाषा के कारण उन्हें विरोध का भी सामना करना पड़ा था।

कबीर की कविताओं के आधार पर एफ.ई. केई कबीर का स्थान अपनी आलोचना में निर्धारित करते हैं- **"कबीर अक्सर गूढ़ हैं और उनका अर्थ कुछ पारंपरिक व्याख्याओं की सहायता से ही समझा जा सकता है। हिंदी की कठिनाई के बावजूद कबीर के पदों में अद्भुत लय मिलती है"**[3]**।** कबीर की यह गूढ़ता साधना और योग आदि की पारिभाषिक शब्दावली युक्त पदों में दिखाई भी पड़ती है। जहाँ एक शब्द किसी विशेष साधना पद्धति के अर्थ को संदर्भित करता है, जो आज प्रचलन में नहीं है। इसी कारण कबीर के पदों की भाषा गूढ़ और कठिन बन गई है।

उत्तर भारत में कबीर और तुलसी की लोकप्रियता को आलोचक केई की दृष्टि ने रेखांकित किया है- **"संभवतः कबीर के अलावा कोई ऐसा दूजा भारतीय कभी नहीं है, जिनके पद और दोहे उत्तर भारत के लोगों की जुबान पर इतने ज़्यादा हो, सिवाय तुलसीदास के"**[4]**।** इसी प्रकार की लोकप्रियता की बात ग्रियर्सन भी अपने इतिहास में करते हैं। हो सकता है कि यह ग्रियर्सन के इन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि हो जिन्हें केई अपनी पुस्तक में भी स्थान देते हैं- **"अतीत के दो लोगों के शब्द अभी भी हिंदुस्तान के प्रत्येक गांव में सुने जा सकते**

[1] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-93

[2] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-84

[3] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-97

[4] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-100

हैं। ये हैं भिखारी ब्राह्मण जाति का परित्यक्त बालक तुलसीदास और बनारस का बहिष्कृत जुलाहा कबीरदास"[1]।

केई इसके बाद कबीर के सिद्धांतों पर विचार करते हैं और कबीर के सिद्धांतों को संदिग्ध बताते हैं। कबीर, केई की दृष्टि में 'व्यवहारिक धर्मगुरु' थे और 'दोषपूर्ण व्यवस्था' के आलोचक थे। कबीर की साखियों में सृष्टि विषयक जो सिद्धांत मिलता है, उसे केई ने प्रक्षिप्त माना है।

हालांकि कबीर के दर्शन में तार्किक सुसंगतता नहीं है, लेकिन कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु जिनमें मूर्तिपूजा विरोध, जाति-धर्म का नकार, पुनर्जन्म की स्वीकार्यता आदि कबीर में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

कबीर ने गुरु की आवश्यकता पर जोर दिया है लेकिन भक्ति के लिए पाखंड रहित शुद्ध हृदय की आवश्यकता पर ज़्यादा जोर दिया है। इस प्रकार के संत-सत्संग का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सूफियों से कबीर की समानता नहीं बल्कि वैचारिक साम्यता को स्थापित करते हैं।

कबीर के व्यक्तित्त्व, कृतित्त्व के बाद केई पंथ की वर्तमान स्थिति पर अपनी आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं। आज के समय में पंथ में व्याप्त अलग चौका, जातिभेद, अपनी-अपनी जातियों में विवाह करना और विवाह संस्कार के समय ब्राह्मण परंपरा का पालन करना आदि को प्रमुख रूप से रेखांकित करते हैं। केई वर्तमान में पंथ को कबीर की मूल शिक्षाओं से भटका हुआ बताते हैं- **"निम्न जातियों के कबीरपंथी रोटी और विवाह का संबंध अपनी ही जातियों में करते हैं××××× कबीरपंथी विवाह समारोहों में हिन्दू दस्तूरों का ही पालन करते हैं। वे चोटी रखते हैं और इसके बावजूद कि कबीर ने इस प्रथा का विरोध किया है"[2]।** कबीरपंथी जातियां गंडा, पनका सक्ताह, बजनिया, डोम, कबीरा इन समूहों के बीच अंतर्विवाह नहीं होते हैं। विवाह के समय शिव-पार्वती की तस्वीर तथा ब्राह्मण द्वारा विवाह संपन्न कराया जाता है।

कबीर और ईसाइयत के प्रश्न पर एक संदर्भ यहाँ पं. बालजी भाई का प्राप्त होता है, जिन्होंने कहा था **'कबीर पंथ' जेसुइटस द्वारा स्थापित किया गया था**' इसका खंडन केई द्वारा किया गया है **"यह एक दूर की कौड़ी है। परंतु दूसरे लोगों ने उनके पंथ की शिक्षा और आचरण में कुछ ऐसे तत्त्व पाये हैं, जो उनके ईसाई प्रभाव में आने के संकेत हो सकते हैं"[3]।** इसका कारण केई स्पष्ट रूप से बताते हैं- यात्रा और संचार की मंथर गति के उस दौर में यह बहुत संभव नहीं लगता है कि कबीर का ईसाई शिक्षा के साथ सीधा संपर्क हुआ होगा। पर हम यह भी नहीं कह सकते कि यह पूरी तरह से असंभव था।

स्पष्ट मत के साथ खड़े ना हो पाने के बावजूद केई ने अनुवादकों का 'ईसाई अनुयायी' होने के कारण साम्यता (शिक्षा) को एक बहुत बड़ा कारण माना। जिसकी वजह से लग सकता है

[1] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-100

[2] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-148

[3] अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, कबीर एंड कबीर पंथ,फॉरवॉर्ड प्रेस, पृष्ठ-210

कि वह ईसाईयत की शिक्षाओं से परिचित थे। लेकिन 'कबीर' ने या उनके शिष्यों ने 'ईसा' का कहीं नामोल्लेख नहीं किया है।

'भक्ति के तीन स्वर'- जॉन स्ट्रैटन हौली-

'भक्ति के तीन स्वर' पुस्तक में जॉन स्ट्रेटन हौली - मीरां, सूर और कबीर की चर्चा करते हैं। इस अध्याय में कबीर के संदर्भ में उनकी आलोचना का विश्लेषण किया जाएगा। पुरुषोत्तम अग्रवाल आधुनिकता और प्रबोधन में अंतर्संबंध स्थापित करते हैं, उनका मानना है कि कबीर अपने काल में प्रबुद्ध भले ही रहे हों लेकिन उनका समाज आधुनिक नहीं था। जिसे हम आधुनिकता का पूर्वाभास कहते हैं क्या कबीर और तुकाराम के समय में हवा में टपक पड़ा था? अग्रवाल जी का भूमिका में उठाया गया यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि, किसी भी आधुनिकता को पनपने के लिए अनुकूल परिवेश चाहिए होता है। वह अनायास ही हवा में पैदा नहीं हो जाता है।

हौली, हिंदी की अकादमिक दुनिया की उस समस्या की ओर दृष्टि डालते हैं जिसमें नए अध्ययन कितने ही शोधपूर्ण और जरूरी सवालों के समाधान करने में सक्षम क्यों न हो लेकिन अकादमिक जगत अपनी घिसी-पिटी स्थापनाओं और पुराने संस्कारों के साथ ही काम करता है। **"1961 में 'कबीर ग्रंथावली'** ××××**का संपादन शार्तोल वोदिविल ने इसे भावी अध्ययनों के लिए प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वीकार किया। लेकिन भारत में इसका बहुत गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि नागरी प्रचारिणी सभा की कबीर ग्रंथावली को (1928) हिंदी के आलोचक अभी भी वही धुरी मानते हैं, जिसे केंद्र में रखकर कबीर के बारे में कुछ कहा जा सकता है"[1]।** हौली, कबीर के पदों की सबसे ज़्यादा उपस्थिति गुरुग्रंथ साहिब में पाते हैं। कबीर के संबंध में कबीर के कई पदों पर नाम और छाप संबंधी रविदास हस्ताक्षर विषयक वह स्थापना लागू होती है। वैसे हौली की वह स्थापना भक्ति कविता के प्रत्येक लोकप्रिय कवि पर लागू होती है, चाहे वह मीरां हो या सूर या कबीर। कवि के नाम का प्रचलित हस्ताक्षर अंत में जोड़ दिया जाता था और वह उस पद या गीत को उपयुक्त वजन और स्वर के साथ प्रसिद्धि भी प्रदान करा देता था।

एफ.ई. केई के समान हौली, कबीर का बनारस में जन्म लेने के कारण उनके व्यक्तित्त्व पर पड़े प्रभाव को रेखांकित करते हैं -**"वह इसे कबीर के अपने काल के जनजीवन पर ज़बरदस्त प्रभाव डाला। जैसा कि रविदास और तुलसीदास के मामले में है। कबीर का बनारस में रहना बहुत महत्त्व रखता है। चर्मकार कवि रविदास, कबीर से कुछ छोटे थे, तो उदारवादी ब्राह्मण कवि तुलसीदास की कृति 'उत्तर भारत' का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म ग्रंथ बन गई। कबीर बनारस के थे इसका अर्थ यह था कि उनकी अभिव्यक्ति**

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--25

इतनी तेजी और प्रामाणिकता से प्रसारित हो सकती थी, जिसकी कल्पना आज मुश्किल है"[1] हौली रविदास, तुलसी के साथ कबीर की रचना के प्रसार के लिए बनारस की महत्ता उन केंद्रों के कारण मानते हैं जहाँ शास्त्रार्थ होता था और देशभर के लोग तीर्थ यात्रा करने आते थे। वही विचारों को जन-जन तक अपनी सुविधा के अनुसार चयन कर पहुँचाने का काम करते थे। इन्हीं सब मौखिक स्रोतों से कबीर जन-जन तक पहुँचे और संकलनों के रूप में जब सामने आए तो इसी कारण उसमें विविधता व्याप्त हो गई- **"और वास्तव में कबीर की कविताओं के जिन संकलनों ने प्रारंभिक वर्षों से लेकर अब तक अपना अस्तित्त्व बनाए रखा है वे अपनी काफी स्पष्ट पहचान प्रदर्शित करती हैं जो इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें कैसे और कहाँ गाया गया था, और उनका संकलन कौन कर रहा था?"**[2]**।**

हौली इन मौखिक और गायन परंपराओं से संकलित किए गए संकलनों में पाया जाने वाला पाठांतर, इसी कारण से मानते हैं। **"पश्चिम ,मध्य भारत में तैयार किए गए संकलनों और दूर पूर्व में तैयार किए गए संगठनों में काफी बड़ा अंतर उभरता है। पश्चिम के कबीर, पूरब के कबीर के मुक़ाबले कहीं अधिक अंतरंगता और गहरी भक्ति से ओत-प्रोत दिखते हैं"**[3]**।** कबीर के संकलनों में कुछ अंतर अवश्य इन अलग-अलग संकलनकर्ताओं और अलग भूगोल के कारण आया लेकिन पूरब हो या पश्चिम कबीर में हौली एक निर्णायक धारा की पहचान करते हैं, जो उन्हें अपने काल से दूसरे संत कवियों से एकदम अलग खड़ा करती है।

सिखों के कबीर की बातों में हौली प्रायः 'व्यवहारकुशलता' और 'गृहस्थता' ज़्यादा देखते हैं तो वैष्णवों के कबीर में प्रेम की प्रगाढ़ता ज़्यादा देखने को मिलती है। कबीरपंथी जिस कबीर को पूजते हैं वह 'बनारसी कबीर' है और इसी बनारसी कबीर को लिंडा हेस ने **'कटु वाग्मिता वाला व्यक्ति'** कहा है। कबीर के इन कई रूपों और व्यक्तितत्त्वों को हौली ने पहचान कर पांडुलिपि संकलन के आधार पर अलगाने की कोशिश की है। हौली भी पुस्तक में कबीर को **क़ाग़जी परंपरा** को ख़ारिज करने वाला व्यक्ति साबित कर उन्हें स्वयं को महत्त्वपूर्ण मानने वाला व्यक्ति कहा **"धूल भरे दस्तावेज़ों के रखवाले के तौर पर प्रस्तुत करते हैं"**[4]**।**

हौली जब उस प्रश्न पर विचार करते हैं जिसमें कवि का संबंध रामानंद से स्थापित किया गया तथा एक किंवदंतीपरक आख्यान को बार-बार दोहराकर कबीर का गुरु साबित करने का प्रयास किया गया। वह इस सारे घटनाक्रम को **'हास्यास्पद कहानी'** के रूप में वर्णित करते

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -187

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-188

[3] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-188

[4] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-188

हैं और स्पष्टतया कहते हैं **"ठाकुर ने क्षितिमोहन सेन द्वारा उपलब्ध कराई गई कविताओं का अनुवाद करते हुए एक कविता में रामानंद को पाया और इसने उन्हें आश्वस्त कर दिया कि गुरु-शिष्य का संबंध एक ऐतिहासिक तथ्य है, लेकिन अफसोस यह है कि पुरानी पांडुलिपियों के अध्ययन से कहीं भी इस कविता का पता नहीं चलता जबकि यह अपेक्षा की जा सकती है कि कबीर के लिए वे इतने महत्त्वपूर्ण थे उनका उल्लेख किसी कविता में नहीं मिलता है"[1]।**

हौली, कबीर-रामानंद के संबंध को अप्रमाणिक साबित करने का प्रयास अपनी आलोचना में करते हैं **"मुझे तो निचली जाति के उन आलोचकों का साथ देना पड़ेगा जो यह मानते हैं कि रामानंद तथा कबीर के बीच संपर्क में एक पवित्रतावादी हस्तक्षेप था- जो कबीर को अपनी जड़ों से काटने का तरीक़ा था"[2]।** यानी कि कबीर-रामानंद संबंध को हास्यास्पद बताते हुए हौली उन आलोचकों के पक्ष में मज़बूती से खड़े हो जाते हैं जो इस संबंध को नकारते हैं और इसे कबीर को उनकी जड़ों से अलग रामानंद के साथ स्थापित करने की राजनीति के रूप में देखते हैं। नाभादास बेशक कबीर को रामानंद के शिष्यों के रूप में उद्धृत करते हैं लेकिन वहीं दूसरी ओर वे उन्हें पंथगत झुकाव से मुक्त भी घोषित करते हैं।

पहले ही पांडुलिपियों की पड़ताल करते हुए हौली स्पष्ट कर चुके हैं कि कबीर कई थे और इसके बावजूद वह प्रस्तुति और ग्रहण की विविध धाराओं में उतराते नज़र आते रहे हैं। हौली, रामानंद, कबीर, मीरां, रैदास आदि के गुरु संबंधी कथाओं के पीछे उस मनोविज्ञान को ज़िम्मेदार मानते हैं, जिसमें बिना गुरु के किसी की कल्पना नहीं की जा सकती है। इन कथाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं हो सकता क्योंकि **"ये कथायें आलोचनात्मक विश्लेषण से उल्लेखनीय तौर पर अछूती रही हैं। अलग करने का खतरा यह है कि उन्हें उनके विकल्प के रूप में कुछ भी नहीं हैं। हम कथाओं के बिना नहीं रह सकते इसलिए हजारी प्रसाद द्विवेदी सरीखे आधुनिक आलोचक रामानंद के साथ कबीर के संबंध का उपयोग 'वैष्णव कबीर' को उनके कबीरपंथी योगी प्रतिरूप में आरोपित करने के लिए करते हैं। द्विवेदी, रामानंद से पहले और बाद के कबीर की कल्पना रखते हैं, जब कबीर ने रामानंद से वैष्णव भक्ति का पाठ पढ़ा"[3]।**

विश्व हिंदू परिषद और उसकी राजनीति का उदाहरण देते हुए हौली भक्ति की आज के समय में उपयोगिता की चर्चा करते हैं और उसमें बहुलता विरोधी संभावनाओं की पहचान करते हैं। एक राम कबीर के राम हैं और एक विश्व हिंदू परिषद के। विश्व हिंदू परिषद ने राम को जो

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--191

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--191

[3] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--227

राजनैतिक स्वरूप प्रदान किया है वह कबीर के राम से बिल्कुल अलग है,राम के इस बदले हुए स्वरूप का इससे ज़्यादा सटीक उदाहरण और कुछ नहीं हो सकता है।

लेकिन हौली आज कबीर की प्रासंगिकता और महत्त्व को रेखांकित करते हैं तो उन्हें आंबेडकर का पूर्वज मानते हैं और अपने शब्दों में **"अगर कबीर हिंदू-मुस्लिम सीमा रेखा पर एक संकेत चिह्न की तरह खड़े हैं तो वे सामाजिक विषमता, जातिगत भेदभाव और भारतीय समाज की संपूर्ण एकता को लेकर जारी विमर्श के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भीमराव अंबेडकर, कबीर को अपना पूर्वज बताते थे"[1]।**

कबीर को हौली भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की *'राष्ट्रीय एकता'* को मज़बूत करने वाले एक अव्वल उदाहरण के रूप में सरकारों द्वारा पहचानने की सलाह देते हैं। कबीर इस एकता को काफी समय से मज़बूत कर रहे हैं। भारत में धर्मनिरपेक्ष बहसों के केंद्र में कबीर हमेशा से रहे है तथा मानवीय गरिमा, लोकतांत्रिकता और तार्किकता के पक्ष के वकील के रूप में मिलते हैं। वास्तव में यह चुनौतियाँ भारत के लिए काल निरपेक्ष हैं। इसलिए कबीर, हौली की नज़र में कालजयी और प्रासंगिक बन जाते हैं।

उनकी प्रभावशीलता, उनके संबोधन की गहराई और वक्तव्य शैली से है न कि भाषा के कारण। हौली, कबीर का महत्त्व निर्धारित करते हुए स्थापना देते हैं **"उत्तर भारतीय भक्तिधारा इस अपेक्षा को शायद हमेशा पूरा नहीं कर सकती कि वह लोकतांत्रिक मूल्यों को मज़बूत करने और विभिन्न धार्मिक परंपराओं की वैधता के प्रति सम्मान बढ़ाने के लिए ताक़त को जुटाए। इसमें शक नहीं कि लड़ाई के इस मैदान में कबीर को एक भरोसेमंद योद्धा के रूप में नहीं उतारा जा सकता है। सत्य को सम्मान देने का उनका तरीका यह था कि उसके इर्द-गिर्द झूठ को नीचा दिखाओ। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की प्रिय मान्यताओं और व्यवहारों का बराबर उपहास किया"[2]।** इस प्रकार हौली, कबीर की सत्य के प्रति जो दृढ़ आग्रह हैं, उन्हें समाज की रोज़मर्रा की मान्यताओं या कहें प्रिय मान्यताओं से उलट पाते हैं। जिस कारण वह कबीर को एकता का विश्वसनीय योद्धा के रूप में स्वीकार करने में हिचकते हैं।

'द बीजक ऑफ कबीर' - लिंडा हेस, सुकदेव सिंह-

लिंडा हेस, वर्तमान में कबीर के विविध पहलुओं पर शोध पूर्ण काम कर रही हैं। वह 'कबीर प्रोजेक्ट' के अंतर्गत बनारस तथा मालवा के साथ पूरे भारत की यात्रा पर रहीं हैं तथा कबीर-गायन परंपरा आदि पर गहन विश्लेषणपूर्ण अपनी स्थापनायें प्रस्तुत करती हैं। **'द बीजक ऑफ कबीर'** में स्वतंत्र रूप से कबीर के बीजक के पदों और कबीर के जीवन प्रसंगों पर उन्होंने

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-194

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--230

शोधपूर्ण दृष्टि डाली है। प्रस्तावना में ही वह कबीर के संबंध में कहती हैं कि कबीर अपने श्रोताओं को संबोधित करने के लिए जिन कई शब्दों का प्रयोग करते हैं उनमें सबसे आसान शब्द **'संत'** है, जिसका अर्थ तपस्वी, त्यागी, संत या केवल धार्मिक व्यक्ति हो सकता है। कबीर की कविता के संबंध में 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' अधिकतर सुना गया चर्चित पदांत है, लेकिन 'कहत कबीर सुनो भाई संतो' का ज़ोर लिंडा हेस ने अपनी आलोचना में दिया है। वह इसी का प्रयोग संबोधन के रूप में अधिकतर मानती हैं।

कबीर के जन्म के संबंध में हेस का मानना है कि – **"हाल ही में इस्लाम में परिवर्तित बुनकरों के एक वर्ग में हुआ था। शायद एक हिंदू गुरु के साथ ध्यान और भक्ति प्रथाओं का अध्ययन किया[1]।** लिंडा हेस न कबीर को मुसलमान मान रही हैं, बल्कि इस पक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत कर रही हैं कि वह 'बुनकर जाति' के थे, जो इस्लाम में परिवर्तित हुए थे। न ही हेस सीधे रामानंद प्रसंग में उन्हें गुरु- शिष्य संबंध स्वीकार करती हैं। बल्कि वह 'हिंदू गुरु के सानिध्य' में रहे यह स्पष्ट रूप से वर्णित कर किसी अन्य बात की तरफ इशारा नहीं करतीं हैं। कबीर को अनपढ़ मानते हुए उनके संकलन और संकलन करने के समयान्तरालों के आधार पर पाठांतर की बात को अपनी आलोचना में जगह देती हैं जो कि प्रायः कबीर के सभी आलोचकों द्वारा उठाई गई है।

प्रचलित किंवदंतियों के आधार पर कबीर के व्यक्तित्त्व का रेखांकन लिंडा हेस द्वारा किया गया है। वह मुस्लिम बुनकर के घर में जन्म और पालन-पोषण को एकमात्र डाटा मानती हैं। बाकी उनकी गुरु विषयक और अन्य मान्यताओं को किंवदंतियों के रूप में ही वर्णित करती हैं।

कबीर को अधिकतर आलोचक हिंदू-मुस्लिम एकता या राष्ट्रीय 'एकता का ब्रांड एम्बेसडर' बताने का काम करते हैं जिनमें से हौली प्रमुख हैं। शायद उन्हीं की स्थापना को देखते हुए हेस- **"कुछ आधुनिक टीकाकारों ने कबीर को हिंदू धर्म और इस्लाम के समन्वयक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है: लेकिन यह चित्र झूठा है विभिन्न परंपराओं का चित्रण करते हुए जैसा कि उन्हें ठीक लगा कबीर ने जोर देकर अपने देश के दोनों प्रमुख धर्मों से अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की दोनों की मूर्खता पर ज़ोरदार हमला किया"[2]।** इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में हेस का मानना है कि कबीर समन्वय या धर्म सुधार का आंदोलन नहीं चला रहे थे बल्कि दोनों से स्वतंत्र उनके पाखंड आडम्बरों से रहित एक अन्य मानवतापूर्ण जीवन की वकालत कर रहे थे। हेस, कबीर के बीजक के तीन पाठों में समानता के अलावा असमानताओं पर बात करती हैं। पश्चिमी पाठ आधारित गुरुग्रंथ साहिब और 'पंचवाणी' में एक नरम, अधिक भावुक कबीर हैं तो पूर्वी परंपरा में उनका 'मूर्तिभंजक रूप' ज़्यादा देखा जा सकता है। फिर भी हेस का मानना है कि **"कबीर की शिक्षा**

[1] लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर,पृष्ठ-20

[2] लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर-22

नितांत व्यक्तिगत है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वह हमसे अपने श्रोताओं, पाठकों से सीधे और आक्रामक तरीक़े से बात करते हैं"[1]। कबीर लिखते नहीं बल्कि कहते हैं। इस कहने के कारण कबीर के वक्ता-श्रोता में एक व्यक्तिगत संबंध कविता द्वारा बन जाता है।

हेस जब क्षेत्रकार्य के दौरान लोगों से मिलती हैं तो पाती हैं कि कुछ लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते कि कबीर कवि थे भी, बल्कि यह कहते हैं कि 'कबीर कवि थे ही नहीं' वह उनकी पहचान में एक समाज सुधारक थे हेस अपने शोध के दौरान **"कबीर एक कवि थे या एक कट्टरपंथी सुधारक थे हालाँकि समाज केवल उस चीज़ की सबसे बाहरी त्वचा था जिस वे सुधारना चाहते थे"[2]**। हेस, कबीर को कवि के रूप में स्थान देती हैं साथ ही 'कट्टर सुधारक' के रूप में भी पहचानती हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर को **'वाणी का डिक्टेटर'** कहते हैं तो हेस इसी प्रकार कुछ कबीर की भाषा के संबंध में अवधारणा प्रस्तुत करती हैं -**"वाणी की अपनी महारत में कबीर भक्ति कवियों में अद्वितीय हैं। सगुण भक्तों में ही नहीं, निर्गुण दादू या सुधारक नानक में ही नहीं, कट्टरपंथी बंगाली बौद्ध कवियों में ही नहीं, मूर्तिभंजक गोरख या असली बाउलों में भी"[3]।** पूरी परंपरा में कबीर की कहन की शैली हेस अद्वितीय मानती हैं। कबीर प्रश्नों से चकनाचूर कर देते हैं, पहेलियों से चकमा देते हैं, चुनौतियों से हिला देते हैं, अपमान से स्तब्ध कर देते हैं और शब्दाडम्बर से भटका देते हैं।

कबीर की भाषा में अद्वितीयता के साथ-साथ आक्रामकता भी थी। कबीर जिस शैली में उकसाते हैं उसमें वह बहुत चालाकी के साथ शब्दों का प्रयोग करते हैं और कबीर के उकसावे अक्सर सवालों का रूप ले लेते हैं। यह प्रश्न हमें कुशलता से परेशान करने या बाहर निकालने के लिए डाल जाते हैं। कबीर समाज की विद्रूपताओं पर उकसाने का काम करते हैं। वह उलटबासियों के माध्यम से प्रतीकों को भाषा में स्थान देते हैं और उन प्रतीकों का अर्थ तांत्रिक परंपरा से लिया गया है। हेस, कबीर को बार-बार **'कट्टरपंथी ईमानदार'** के रूप में प्रस्तुत करती हैं तथा कविता के जितने भी स्वरूप हैं वह इसी कट्टर ईमानदारी के पक्ष में हैं। इसी 'कट्टर ईमानदारी' के कारण कबीर दूसरों के साथ-साथ ख़ुद को भी अपनी वैचारिक ज़िम्मेदारी से इतर जाने की अनुमति नहीं देते हैं।

हेस उस प्रक्रिया, जिसमें कबीर की कविता के अनुकरण पर उनकी छाप का प्रयोग कर अन्य लोगों द्वारा कविताएँ लिखी गयीं उनका अप्रामाणिक होना बताती है। क्योंकि जिस शैली में कबीर कविता कहते हैं वह 'व्यंग्यात्मक शैली' है और इस शैली की नकल करना आसान है। शायद यही आसानी रही होगी जिसके कारण कबीर के नाम से कई लोग उस समय में कविताएँ लिख रहे थे। हेस इसी छाप द्वारा बनी कविताओं द्वारा उत्पन्न समस्या के कारण 'प्रक्षिप्तता की समस्या' का आलोचना में आ जाना बताती हैं। यहीं पर उस पक्ष को भी उजागर

---

[1] लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर-17

[2]लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर-11

[3] लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर-11

करतीं हैं जिसका अनुकरण या अनुसरण करना संभव नहीं था। क्योंकि वह तेवर केवल कबीर में ही था **"कबीर की आलंकारिक विधाओं की विविधता और उन्हें सूचित करने वाले व्यक्तित्त्व की अखंडता का अनुसरण करना आसान नहीं है"[1]।** क्योंकि यही अखंडता कबीर है।

कबीर का भाषायी दृष्टिकोण जिसमें लिंडा हेस यह पता लगाने का प्रयास करती हैं जिसमें शब्द तथ्यात्मक हैं? या तार्किक हैं? यह प्रश्न मुख्य है। हेस उस प्रक्रिया को समझने का प्रयास करती हैं **"लेकिन वे किस प्रकार के दिमाग़ से आते हैं और वे उस मन को क्या करते हैं जिसे वे स्पर्श करते हैं"[2]।** वह उन शब्दों की उत्पत्ति तथा उनका मस्तिष्क पर उन शब्दों के प्रभाव का विश्लेषण करती हैं।

लिंडा हेस, कबीर के चिंतन का मूल्यांकन करते हुए उस तत्त्व की खोज करने का प्रयत्न करती हैं जो कबीर की कविता का केंद्रीय तत्त्व है। वहाँ वह पाती हैं कि कबीर की कविता में नश्वरता या मृत्यु स्थायी साथी के रूप में व्याप्त है। इस मृत्यु को हम स्वीकार नहीं करते हैं लेकिन यही सत्य और कबीर इसी को स्थान देते हैं। कबीर अपनी शिक्षा में मनुष्य के **'कट्टर ईमानदारी'** के पक्ष में अपनी बात को बुलंद करते हैं हेस इसी कट्टर ईमानदारी को कबीर में देखती हैं। **"कबीर जुलाहा एक व्यवहारिक व्यक्ति है कट्टरपंथी ईमानदारी के लिए समर्पित वह अपनी कुछ लेकिन कुशल उंगलियों को हमारे दिमाग़ में ले जाता है और चीज़ों को बदल देता है। झूठ को उजागर करता है"[3]।** कबीर का संप्रेषण इतना तीव्र और मारक है कि उसके सामने झूठ टिक नहीं पाता वह निरे सिद्धांत गढ़ने वाले नहीं बल्कि व्यावहारिक के साथ-साथ 'कट्टर ईमानदार' भी हैं।

बॉडीज़ ऑफ़ सॉन्ग -लिंडा हेस

लिंडा हेस **'बॉडीज ऑफ़ सॉन्ग'** में कबीर की कविता का पाठ्यपुस्तक तथा आलोचना की दुनिया से इतर उस पक्ष पर चर्चा करती हैं जिसमें आज के समय में जो कबीर के गायन की मौखिक परंपरा चल रही है उनमें कबीर किस रूप में विद्यमान हैं अथवा वह परंपराएँ आज कबीर के किस रूप तथा किस तेवर को अपने में सँजोए हुए हैं? उन समुदायों ने कबीर की कविता के संगीत को किस रूप में संजोया हुआ है? हेस पुस्तक को प्रहलाद सिंह टिपनिया और उनकी टीम द्वारा मालवा से लेकर अंतरराष्ट्रीय मंचों तक किए जाने वाले कबीर-गायन की यात्रा को विश्लेषित करती हैं। हेस के अनुसार **"इस पुस्तक का तर्क यह है कि यदि कबीर को हम जानना चाहते हैं तो हमें मौखिक परंपराओं से भी गंभीरता से जुड़ना चाहिए। हमें शरीर से सीखने के साथ संलग्न होना चाहिए"[4]**। हेस ने अकादमिक दुनिया

[1] लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर,पृष्ठ-21
[2] लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर,पृष्ठ-27
[3] लिंडा हेस और सुकदेव सिंह,द बीजक ऑफ कबीर,मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर,पृष्ठ-30
[4] लिंडा हेस,बॉडीस ऑफ सॉन्ग,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015,पृष्ठ-4

में कबीर के मूल्यांकन, विश्लेषण के अलावा गायन की परंपराओं से जुड़ने तथा गायन परंपराओं के आधार पर कबीर को समझने की बात की है। कबीर की इस गायन परंपरा में उनके उस तेवर का रूप सुरक्षित है जो उनके समकाल में प्रचलित था। हेस इस परंपरा से ही यह अवधारणा प्रस्तुत करती हैं **"कबीर की वाणी सीधी और सत्ता विरोधी है। वह एक निम्न सामाजिक स्थिति के थे और उनके अधिकांश सांप्रदायिक अनुयायी उन समुदायों से संबंधित थे जिन्हें अब दलित (पूर्व अछूत) कहा जाता है। जातिगत पूर्वग्रह, धार्मिक संप्रदायवाद, पाखंड, अहंकार और हिंसा पर तीखी टिप्पणियाँ करते हुए उनकी कविता में सामाजिक आलोचना की एक ज्वलंत लकीर है"[1]।**

कबीर अपनी वाणी में हाशिए के होने तथा अनुयायियों के भी निम्न जातियों के होने के कारण सीधे सत्ता को चुनौती देते हैं। क्योंकि यह पंथ उन जातियों में प्रचलित था जिनका सत्ता या सत्ता प्रतिष्ठानों से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं था। इसलिए इस कविता में तथा उनकी गायन परंपरा में सामाजिक आलोचना का वही तेवर बना रहा। लेकिन यह हेस तय नहीं कर पायीं कि इस गायन परंपरा में जो कबीर के पदों को गाया जाता है, वह वास्तव में कबीर के कितने हैं? इसी प्रश्न के साथ वह प्रामाणिकता और प्रक्षिप्तता संबंधित संकेत भी दे देती हैं- **"हम निश्चित रूप से यह जान सकते हैं कि मूल कबीर ने वास्तव में क्या रचा था? लेकिन उनकी एक अलग प्रोफ़ाइल, एक स्वाद, एक आवाज है जो धार्मिक और सामाजिक इतिहास में उनकी पहचान और महत्त्व को आकार देती है"[2]।** यानी कि इस परंपरा में यह पहचान करना कि कौन पद कबीर का है? कौन नहीं? यह तय करना मुश्किल है। लेकिन कबीर का तेवर, उनकी प्रोफ़ाइल और उनका महत्त्व निर्धारित हो जाता है।

कबीर की वाणी की पांडुलिपि के स्थान के अनुसार हमें कबीर के कई संस्करण प्राप्त होते हैं। कबीर द्वारा पदों के कहे जाने के बाद आज तक जो परंपरा से गायन चला आ रहा है और कबीर को समझने में ज़्यादा मददगार हो सकते हैं। हेस इन्हीं जीवंत परंपराओं से जुड़ने और अध्ययन में सहायता लेने की बात को कहते हुए **"पुस्तक का तर्क है कि कबीर को जानने के लिए आपको लोगों, स्थानों और समय को जानना चाहिए"[3]।** प्रहलाद सिंह टिपनिया गायन में कबीर को गाते हैं तो उनके तेवर में वही आक्रोश इसलिए आता है क्योंकि उस ग्रंथ की पीड़ा उनके जीवन और सामाजिक जीवन में निहित है। लेखन, गायन की मौखिक परंपरा जब रिकॉर्ड रूप में आ जाती है तो वह मौखिक परंपरा बाधित हो जाती है। आज के समय में इस परंपरा के साथ यही हो रहा है **"जब एक लोकगायक एक रिकॉर्डिंग कलाकार बन जाता है तो मौखिक पाठ एक छोटी पोर्टेबल वस्तु में तय हो जाता है"[4]।**

[1] लिंडा हेस,बॉडीस ऑफ सॉन्ग,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015,पृष्ठ-5

[2] लिंडा हेस,बॉडीस ऑफ सॉन्ग,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, 2015,प्रेस,पृष्ठ-8

[3] लिंडा हेस,बॉडीस ऑफ सॉन्ग,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, 2015,प्रेस,पृष्ठ-16

[4] लिंडा हेस,बॉडीस ऑफ सॉन्ग,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, 2015,प्रेस,पृष्ठ-74

निर्गुण संतो के स्वप्न - डेविड लारेंजन-

डेविड लारेंजन ने एल.बाशम के शोध निर्देशन में 'विस्कोसिन यूनिवर्सिटी' में शोध किया था। वह भक्तिकविता की निर्गुण परंपरा पर लगातार लेख लिखते रहे और अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से संपन्न अवधारणाओं को प्रस्तुत करते रहे। कबीर की कविता, जीवन, दर्शन, किंवदंतियों, प्रामाणिकता आदि पहलुओं पर लारेंजन ने भी विचार किया है। प्रामाणिकता को लेकर जो एक प्रश्न आलोचकों और इतिहासकारों के समक्ष वह प्रस्तुत करते हैं, वह यह कि यदि कोई प्रमाण हमें फारसी में रचित कृति में जैसे जीवनी,आत्मकथा, रोज़नामचा आदि में मिलता है तो हम उसे प्रमाण के रूप में ग्रहण कर लेते हैं परंतु यदि वही परिचई, वार्त्ता आदि में कुछ मिलता है तो हम उसे जनसामान्य में प्रचलित या किंवदंती की श्रेणी में मान लेते हैं।

इस दोहरे मापदंड ख़ास करके भक्तिकविता के आलोचक और इतिहासकार जब कविवृत्त के संबंध में अपनाते हैं तो लारेंजन आलोचनात्मक रूप से **"फारसी में लिखने वाले दरबारी वृत्तान्तकार तो, प्रामाणिक स्रोतों का दर्जा पाते हैं लेकिन देशभाषा में परिचईयाँ और भक्तमाल लिखने वाले तार्किकता और प्रामाणिकता से किसलिए वंचित मान लिए जाते हैं। तार्किकता के नाम पर सपाटपन की प्रतिष्ठा और सामाजिक स्मृति संरक्षण के मुहावरों के प्रति असंवेदनशीलता का नतीजा यह है कि भक्तमाल और परिचई जैसे समकालीन स्रोत कबीर के साहस के नहीं, उन्हें मिली सफलता और मक़बूलियत के गुण गाते नहीं थकते और आधुनिक साहित्यतिहासकारों को कबीर हाशिए की असफल आवाज सुनाई पड़ते हैं। इस श्रवण दोष का संबंध औपनिवेशिक आधुनिकता और उसके ज्ञानकांड से है"[1]।** लारेंजन इस उपक्रम की पहचान करने का प्रयास बार-बार करते हैं जिसमें कबीर अपने समकालीनों के सामने एक मज़बूत आवाज़ थे। लेकिन आज जब इतिहास लेखन में कबीर का मूल्यांकन होता है तो प्रारंभिक लेखक उनकी कविता को हाशिए की मानते हैं।

इसमें कबीर तथा मीरां को हाशिए का बताया गया जो औपनिवेशिक तथा आधुनिक ज्ञानकांड का परिणाम है। इन कवियों की व्यापकता जनता में आज तक है, फिर यह कवि या इनकी कविता हाशिए की कैसे हो सकती है? **"निरक्षर हिंदी भाषी भी कवि कबीर के 4-6 दोहों और तुलसी की 2-4 चौपाइयों से तो वाक़िफ़ हैं ही। भक्त कवियों की विस्मयजनक व्याख्यायें करने वाले गाँव-गाँव मिल जाते हैं। अगर ये कवि जनता या स्थापित सत्ता को प्रभावित नहीं कर रहे थे तो क्या कारण है कि इन भक्तकवियों में तुकाराम, कबीर या मीरां सभी को सत्ता और समाज द्वारा लगातार प्रताड़ित किया गया था? और इस प्रताड़ना का कारण उनकी शिक्षाएँ और उपदेश ही थे। अगर यह व्यापक समुदाय को प्रभावित न कर रही होतीं तो शायद इस तरह इन्हें लोक व सत्ता**

[1] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -7

के द्वारा प्रताड़ित न किया जाता। यह व्यवहार तभी संभव है जब उनके प्रभाव से समाज तथा सत्ता को डर लगता हो"[1]।

अनंत दास कबीर के संबंध में लिखते हैं-

'तातै हमें माने ना कोई
जब लग जुलाहा कासी होई'।

पुरुषोत्तम अग्रवाल मध्यकालीन समाज में वाद-विवाद-संवाद को रेखांकित करते हैं और स्पष्ट करते हैं कि आज वर्तमान में किसी भी विरोधी विचार को विदेशी, देशद्रोही कहकर उसकी विश्वसनीयता घटाने का काम किया जाता है। उस काल में ऐसा नहीं था वहाँ विचारों का एक स्वस्थ संवाद था। **"लेकिन कहीं भी उन्होंने गोरख को या निर्गुण पंथियों को विदेशी पद्धति कहने की ज़रूरत नहीं समझी विपक्ष को विदेशी मूल का कहकर विश्वसनीयता घटाने की जनता के बीच उसके नंबर कटवाने की रणनीति और राष्ट्रवादी मानस में ही आ सकती थी, भक्ति का लोकवृत्त रच रहे मानस में नहीं"[2]।** इस प्रकार पुरुषोत्तम अग्रवाल आज की तथाकथित आधुनिकता में संकुचित मानस को प्रश्नों के घेरे में लाते हैं जिसमें विरोधी को कमतर बताने के लिए किसी भी सीमा तक रणनीति बनाई जा सकती है।

एक ओर इस काल की कविता में परस्पर संवाद भाषा की दृष्टि से देशभाषा में अपनी बात को रखने का उद्यम किया गया। हिंदी आलोचना में आज तक शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाए हैं कि वास्तव में गोरख और कबीर का **'उपासना धर्म'** क्या था? यह अकारण नहीं है क्योंकि निम्न तबक़ों में धार्मिक सीमाएँ आमतौर पर स्पष्ट नहीं होती है। वहाँ किसी भी एक धर्म का बोध या उसकी कट्टरता नहीं थी, बल्कि उनके व्यक्तित्त्व में कई परंपराओं का सम्मिश्रण था **"गोरख और कबीर उन्होंने इस प्रकार की धार्मिक अस्मिता को निर्मित करने की कोशिश की जिससे वे एक साथ हिंदू और मुसलमान रह भी सकें ऐसा करने के लिए उन्हें हिंदू और मुसलमानों की धार्मिक श्रेणियों को मानना पड़ा साथ ही इन श्रेणियों से परे जाने की कोशिश करनी पड़ी"[3]**। गोरखनाथ लिखते भी हैं-

'उत्पत्ति हिंदू जारणां जोगी उप कली परि मुसलमानीं
ते राह चीन्हो हो काजी, मुलां, ब्रह्म, विस्नू महादेव मानी'

अर्थात् उत्पत्ति से हम हिंदू हैं, प्रौढ़ावस्था में जोगी हैं और अक्ल से मुसलमान हैं। मुल्लाओं और क़ाज़ियों के उस मार्ग को पहचानो जिसे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ने भी माना है

---

[1] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन -भूमिका में पुरुषोत्तम अग्रवाल

[2] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-16

[3] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -28

निर्गुणभक्ति का मूल स्वर गोरख के इस पद में छिपा है जहाँ धर्म, जाति, संप्रदाय, उपासना पद्धति सबके बंधन शिथिल पड़ जाते हैं।

इस प्रकार यह संत एक स्वतंत्र धार्मिक परंपरा बनाने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन संगठित पंथ केवल नानक के द्वारा ही बनाया जाता है **"इनमें हिंदू और इस्लाम से बिल्कुल भिन्न एक अलग धर्म बनाने की हिचकिचाहट दिखाई देती है। यह हिचकिचाहट कुछ हद तक इस मामले में इनके संस्थापक गुरुओं- गोरख और कबीर की विचार में व्याप्त अनिश्चितता के कारण ही है"[1]।** लारेंजन एक प्रकार से इनमें पंथगत नियमबद्धता नहीं पाते जो कि किसी पंथ को शुरू करने के लिए आवश्यक है। वह इसी कारण पंथनिर्माण को बाद की प्रक्रिया मानते हैं।

गोरख, कबीर, नानक, गुरु अर्जुन सबके स्वर में हिंदू-मुस्लिम में से किसी एक का स्वीकार नहीं है। सब एक दूसरे को उद्धृत करते हैं अर्जुनदेव तो कुछ कहलवाना होता है तो कबीर के मुख से कहलवाते हैं। यह व्यक्तिगत, धार्मिक अस्मिता को नकार कर एक अलग स्वतंत्र 'धार्मिक अस्मिता' की ओर बढ़ रहे थे।

आज हिंदू शब्द की परिभाषा **'हिंद के निवासी'** या '**जातीयता**' अथवा '**एक भूगोल की संरचना**' के लिए किया जाता है। लेकिन कबीर ने इस शब्द का प्रयोग **'हिंदू मान्यता का अनुसरण करने वाले'** के अर्थ में प्रयुक्त किया है। शारतोल, कबीर को एक ऐसा मुसलमान मानती हैं जिसे इस्लाम की परंपराओं का सतही ज्ञान था। लेकिन वह नाथपंथ की मूल प्रवृत्तियों को ठीक से जानता था। इस प्रकार अगर लारेंजन उन्हें स्वतंत्र परंपरा में रखते हैं तो वोदिविल उन्हें इस्लाम अनुयायी और नाथपंथ से संबंधित मानती हैं।

कबीर अपने बीजक में बहुलवादी हैं। यौगिक शब्दावली आदि से वह लगते हैं जैसे नाथपंथी परंपरा से गहराई से परिचित हों। लेकिन जिस गूढ़ शब्दावली का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं इस कारण लारेंजन का मानना है कि वह देह विज्ञान की तकनीकी जानकारियों के बारे में ज़्यादा स्पष्ट नहीं थे।

"आरंभिक संग्रहों में पाए जाने वाले कबीर के पदों में चार प्रमुख धार्मिक परंपराओं की पहचान मिलती है जिसमें हिंदू मुसलमान योगी और कुछ कम महत्त्वपूर्ण शाक्त परंपरा है। कई बार कबीर वैष्णवों, शैवों और जैनों का भी उल्लेख करते हैं। इन सभी परंपराओं से अपनी स्वतंत्रता भी कबीर बार-बार जताते हैं"[2]। कबीर बहुलतावादी हैं वह समन्वयवादी या विरोधी नहीं है।

लारेंजन बार-बार अपनी स्थापनाओं में उस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित कराते हैं कि आख़िर कबीर सिखों या किसी अन्य की तरह कोई संगठित पंथ की स्थापना नहीं कर पाए थे। वे मानते हैं कि **"अपनी आंतरिक तर्क योजना में कबीर की दृष्टि इतनी रेडिकल और**

[1] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-31

[2] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-42

व्यक्तिसत्ता परक है कि वह किसी संस्थाबद्ध धार्मिक समुदाय के निर्माण का आधार नहीं बन सकी"[1]। एक प्रकार से देखा जाए तो लारेंजन कबीर वाणी में मौजूद उस स्वर को जो पाखंड, आडंबर और अतार्किकता को रत्ती भर भी स्थान नहीं देता है, को मानते हैं। वहाँ सब स्वीकार है लेकिन इन सबका पूर्ण नकार मिलता है और धार्मिक समाज में कबीर अपने समय की या कहें 21वीं सदी के मनुष्य से भी आगे सोच रहे थे। इसीलिए उस समय में अक्षरशः कबीर का पालन करना संभव नहीं था।

लारेंजन मानते हैं कि पंथ निर्माण हुआ लेकिन वह हिंदू धर्म के अंग के रूप में ही अस्तित्त्व में रहा आज के संदर्भ में **"आज अधिकतर कबीरपंथी स्वयं के हिंदू होने का दावा करते हैं×××××अधिकांश हिंदू उनके दावे को स्वीकार भी करते हैं"[2]।** कबीर के संबंध में वर्णन करते हुए लारेंजन बार-बार गोरख से उनके स्वर तथा राम व अन्य शब्दावली से समानता स्थापित करते हैं कबीर राम से मिलने की राह की बाधा बनने वाले तमाम उपक्रमों को त्याग देने की बात करते हैं। जो अपने पूर्व की साधना पद्धतियों को भी इंगित करते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लारेंजन जिस तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हैं वह यह है कि- **"कबीर व गोरख दोनों धर्मांतरित व्यक्ति थे"** इस कारण उनमें अस्मिता का संकट भी रहा होगा। अगर कबीर हिंदू बुनकर से जुलाहा बने होंगे तो दोनों जगह की स्वीकार्यता खो चुके होंगे। वह इस स्थिति में न तो खुलकर हिंदू हो सकते थे न मुसलमान। देखा जाए तो यही अस्मिता की छटपटाहट ही गोरख व कबीर को एक स्वतंत्र रूप से चिंतन करने की पृष्ठभूमि प्रदान करता है।

गोरख से संबंधित एक पद अभी पूर्व में वर्णित किया गया जिसमें एक ही व्यक्ति के रूप में वह कई धर्मों या मतों का अनुयायी अपने-आपको बता रहे हैं। शायद यही कारण है कि **"गोरख ने अर्द्ध निर्गुण रूप में ही सही शिव की उपासना की तथा कर्मकाण्डों को पूर्णतः नकार नहीं दिया"[3]** और गोरख अपनी वाणी में 'समन्वयात्मक धार्मिक अस्मिता' का दावा करते हैं।

मध्यकालीन कवियों के संबंध में एक प्रश्न आलोचकों को हमेशा परेशान करता है, वह यह है कि किस संदर्भ को ऐतिहासिक प्रमाण मानें तथा किस संदर्भ को जनश्रुति या किंवदंती मानकर वर्णित मात्र कर दें? लारेंजन जब इस पर विचार करते हैं तो इसके रचनाक्रम की ओर ध्यान दिलाते हैं जिसमें- **"लेकिन प्रत्येक संत और नायक के लिए यह रचनात्मक प्रक्रिया बहुत चुनिंदा है। कुछ ख़ास विषय और अभिप्राय सुरक्षित रखे जाते हैं तो कई अन्य छोड़ दिए जाते हैं"[4]।** किंवदंतियों का लेखक आख़िर अपने विवेक तथा उसकी रूचि, आशा, इच्छा के कारण ही इनका निर्माण करता है और इसका मूल विधान रचने वाला लेखक आख़िर किन कारणों से? किस अभिप्राय से इनकी रचना कर रहा है? यह समझना ज़्यादा

---

[1] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-43

[2] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-44

[3] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -58

[4] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -

महत्त्वपूर्ण है क्योंकि किसी किंवदंती का निर्माण होना अनायास नहीं बल्कि सायास है। वह गढ़ने वाले का पसंदीदा राग है, जिसमें इतिहास हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है। इसके बनने के पीछे का कारण लारेंजन ने- **"बहुत सी सामाजिक मनोवैज्ञानिक जरूरतें, रुचियाँ, आशाएँ और इच्छाएँ हैं जो किंवदंतियों के उद्भव और उनकी प्रसिद्धि में सहायक हुयीं, लोगों के मन में वे कैसी प्रेरणायें थीं - जो पैदा हुईं और बाद की ऐतिहासिक वातावरण में कभी-कभी बदलीं भी"[1]।** पंथ के मानने वालों में श्रेष्ठताबोध पैदा करने, चमत्कार से स्वीकार्यता बढ़ाने आदि कारणों से इनकी उत्पत्ति हुई होगी, लेकिन लारेंजन मानते हैं कि चमत्कार केंद्रित, दैवीय या अन्य प्राकृतिक हस्तक्षेप को महत्त्व नहीं देना चाहिए। वह अतिशयोक्ति को वर्णित करने वाली संतचरितों में व्याप्त किंवदंतियों को इसका उलझाने वाला तथा महत्त्वहीन भाग मानते हैं।

यानी की किंवदंती की स्वीकार्यता लारेंजन में उतनी ही है, जितनी कि ज़्यादा चामत्कारिक या अतिशय वर्णन न लगे। यहाँ वह जान. वी.थॉमसन् के हवाले से कहते हैं कि **'किंवदंती विचारधारा वर्चस्व के संबंधों को बचाए रखने का साधन है'** यानी कि कबीर के जीवन चरित में यदि किंवदंतीमूलक चामत्कारिक घटनाओं को जोड़ा जाए तो उनके पंथ के अनुयायी सामान्य कृषक, मज़दूर, कारीगर और निम्न जातियों से संबद्ध हैं। वह उसी प्रकार की भक्ति का अनुभव नहीं करेंगे। उन्होंने इन किंवदंतियों को सचेत रूप में स्वीकार नहीं किया अचेतन ही सही संतों के अनुयायियों के लिए यह एक प्रकार का 'मनोवैज्ञानिक संबल' है जिससे वह अपनी विचारधारा का प्रसार कर सकते हैं।

वोदिविल, जिसे "**भारतीय संतचरित विन्यास कहती हैं**" कबीर का जीवन भी उसी विन्यास को अनुसरित करता है। लेकिन विद्वानों ने किंवदंतियों को इस सामाजिक-धार्मिक विचारधारा की अभिव्यक्ति के रूप में देखने की बहुत कम या कम ही कोशिश की है। कबीर के गुरु रामानंद के संबंध में लारेंजन उस परंपरा द्वारा चली आ रही किंवदंती के संबंध में लिखते हैं- **"यह किंवदंती जिनमें कबीर बहुत चतुराई से रामानंद से राम का मंत्र ग्रहण करते हैं पहली बार 'कबीर परिचई' के पहले भाग या अध्याय में कही गयी है। यह निश्चित रूप से एक भक्तिपरक कल्पना ही है"[2]।** कबीर-वाणी के तीन आदि स्रोतों में (सिख आदिग्रंथ, राजस्थानी कबीर ग्रंथावली, कबीरपंथी कबीर बीजक) इन तीनों में ही कबीर-रामानंद के शिष्य-गुरु संबंध का उल्लेख नहीं है।

लारेंजन स्थापित करते हैं कि इसके कई कारण हैं जिनकी वजह से इस पर आपत्ति है। उसका विश्लेषण करते हैं- **"कबीर के रामानंद के शिष्य होने पर वह भी गंभीर आपत्ति है कि उनके पदों में उस ब्राह्मणवादी रूढ़िवादिता की तीखी आलोचना मिलती है जिसका कि रामानंद (अनुमानतः) प्रतिनिधित्त्व करते हैं××××× लेकिन यह आपत्ति**

[1] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -62

[2] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-70

बहुत दमदार नहीं है क्योंकि इसके बारे में कुछ भी जानकारी नहीं है कि ऐतिहासिक रामानंद किस सामाजिक सिद्धांत को मानते थे”[1]। यह स्पष्ट न हो पाने के कारण ही वह ‘समय’ के आधार पर इस संबंध की पड़ताल करने की बात करते हैं और निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- **“20 वर्ष का लंबा जीवन काल भक्ति परंपरा का ईजाद है और किसी भी तरह से इसकी पुष्टि नहीं हो पाती”[2]।** लारेंजन गुरु के अलावा अन्य कई किंवदंतियों की जो कबीर के जीवन से संबद्ध है, की पड़ताल ऐतिहासिकता के पैमानों पर करते हैं। वह उनके जन्म से लेकर मृत्यु तक फैले इस किंवदंतीपरक जीवन में व्याप्त किंवदंतियों की पुनर्समीक्षा करने की माँग भी करते हैं। स्पष्ट करते हैं कि किंवदंतियाँ बेशक ऐतिहासिक हों या न हों लेकिन उनकी कालक्रमिक समकालीनता तो होना आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति में उसे किस आधार पर किसी संतचरित से संबंधित माना जा सकता है।

लारेंजन, कबीर के संबंध में ऐतिहासिक प्रमाणों की पड़ताल करने पर यह मानते हैं कि उनके बच्चे और पत्नी थी। लेकिन अगर कबीरपंथियों की माने तो वह इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते बल्कि एक चमत्कारपूर्ण किंवदंती का सहारा लेकर कमाल और कमाली को कबीर का पुत्र और पुत्री स्वीकार करते हैं।

शारतोल को उद्धृत करते हुए लारेंजन लिखते हैं– **“कबीर की रचनाओं में पाए गए आत्मपरिचयात्मक सामग्री की बहुत गहराई से छानबीन की इन रचनाओं में कबीर की माँ उनके पिता, धनिया (शायद) नामक पत्नी और एक पुत्र का उल्लेख मिलता है”**[3]।

सिख किंवदंतियों, दाबिस्तान-ए-मज़ाहिब आदि में भी कबीर की उपस्थिति को स्वीकार किया है। इसी कारण यह कबीर को विवाहित मानते हैं। कबीर के जीवन की प्रमुख घटनायें जिनको किंवदंती का रूप दे दिया गया है। वह लारेंजन के शब्दों में **“कबीर से संबंधित किंवदंतियाँ निर्गुण भक्ति की निम्न जाति और ग़ैर ब्राह्मण धार्मिक परंपरा के उत्पाद हैं। इनका मुख्य विचारधारात्मक संदेश धनी और सबल के द्वारा निर्बल के शोषण का पुरज़ोर विरोध करना है”[4]।** शारतोल भक्तकवियों के जीवन संबंधी बातों को लेकर एक अवधारणा प्रस्तुत करती हैं जिसे ‘**संतचरितों का टिपिकल जीवन विन्यास**’ के नाम से वह प्रस्तुत करती हैं। वह सगुण और निर्गुण संतो से परे उनके जीवन में कुछ ऐसे सूत्रों की खोज करती हैं जिनके द्वारा यह देखा जा सकता है कि कुछ बने-बनाये साँचे में प्रत्येक संतकवि के जीवन से संबंधित कुछ घटनाओं का आरोपण सभी में कर दिया गया है।

लारेंजन ने रैंकलार्ड, रेगलन, डुडन्स तथा अन्य विद्वानों का उदाहरण देकर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि इन संतों का मूल विन्यास एकदम सरल और एक जैसा है। सभी हिस्से,

---

[1] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -70

[2] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -12

[3] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -78

[4] लारेंजन,डेविड,निर्गुण संतों के स्वप्न,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ -97

सभी विन्यासों में नहीं मिलते लेकिन आद्य सरल रूप में से कुछ हिस्से अवश्य मिलते हैं। इनमें निम्न जाति समूहों में जन्में संतों के जीवन को मुख्यधारा के धर्म से जोड़ देने की प्रक्रिया को भी समाजविज्ञानियों तथा समाजशास्त्रियों के द्वारा चिह्नित किया गया है। इसके कारणों की पड़ताल पहले ही की जा चुकी थी, जिसे मैक्स बेबर द्वारा 'करिश्में का संस्थानीकरण' नाम दिया गया। इसमें किसी नए धार्मिक आंदोलन में आये सामाजिक प्रतिरोध के तत्त्व एक प्रक्रिया द्वारा शीघ्रता से हटा दिए जाते हैं। भारतीय संतकाव्य के जीवन तथा वाणी में भी इस प्रक्रिया को चिह्नित किया जा सकता है।

3.5-अन्य निर्गुण संत और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास-

गार्सा-दा-तासी-

गार्सा-दा-तासी अपने इतिहास ग्रंथ में अन्य निर्गुण संतों को स्थान देते हैं। लेकिन उनके वर्णन का क्रम अकारादि क्रम में ही होता है। यहाँ शोध में विश्लेषण के लिए अध्ययन की दृष्टि से कवियों का वर्णन संभावित कालक्रमानुसार लगाकर आलोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

नामदेव-

नामदेउ- नामदेव को तासी, 'नामदेउ' के नाम से अपने इतिहास में अभिहित करते हैं रेवरेंड जे स्टीवेंसन् के संदर्भ का सहारा लेकर इन्हें प्राकृत के रचनाकारों से भी ज़्यादा प्राचीन तासी द्वारा माना गया है। तासी के इतिहासबोध में हमें पूरे ग्रंथ में ख़ामियाँ हमें देखने को मिलती है। इसका एक प्रमुख उदाहरण नामदेव के संबंध में कहा गया।

इतिहास में नामदेव ग्वालियर में पाए गए बालक थे। जिन्हें एक दर्जी ने उठा लिया था। जन्म से लेकर मृत्यु तक तासी उन किंवदंतियों का उपयोग नामदेव के संबंध में करते हैं, जिनका वर्णन भक्तमाल या मौखिक परंपरा में किसी रूप में था। जिनमें एक प्रमुख घटना भी शामिल है। **"राजा द्वारा हठ किए जाने पर मरी गाय को नामदेव द्वारा जीवित कर दिया जाता है"** इस प्रकार तासी किंवदंतीपरक वर्णन ही इनके संबंध में करते हैं।

पीपा-

पीपा के संबंध में जो वर्णन तासी करते हैं उसका संदर्भ आदिग्रंथ और भक्तमाल से लेते हैं। पीपा को रामानंद का शिष्य बनने के लिए देवी ने प्रेरित किया था इस संदर्भ में तासी लिखते हैं **"एक फ़क़ीर अथवा हिंदू संत समझे जाने वाले एक जोगी थे। जिनकी हिंदी कविताएँ आदिग्रंथ में शामिल हैं। भक्तमाल में उनका उल्लेख है। देवी ने स्वप्न में कहा रामानंद को गुरु बना कर हरिभजन करो"**[1] इन्हीं सब किंवदंतियों के सहारे तासी ने पीपा के व्यक्तित्त्व को उभारा है।

नानक-

नानक के संबंध में तासी अपने इतिहास ग्रंथ में 'ईस्ट इंडिया हाउस' में प्राप्त 'पोथी नानकशाही' के रचयिता के रूप में पहचानते हैं। नानक की शिक्षाओं में सहिष्णुता को ज़्यादा महत्त्व दिया गया है तथा चोरी और दुष्कर्म आदि का निषेध किया है। जिस दौर में धर्म तथा संप्रदाय के नाम पर मार-काट मची हुई थी उसमें नानक ने किसी दूसरे धर्मावलंबी से विवाद करने की आज्ञा नहीं दी।

नानक के सिद्धांतों की व्याख्या वाले ग्रंथ तासी को पेरिस के पुस्तकालय से प्राप्त हुए थे। वे ग्रंथों की एक सूची अपने इतिहास में प्रस्तुत करते हैं, जिसमें नानक पंथ के धार्मिक पद और भजन मिलते हैं।

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तानी अकेडमी इलाहाबाद,पृष्ठ-257

1. सिख दर्शन।
2. पोथी नानक शाही।
3. दर-नज़्में।
4. नानक की पोथी सिखा-ई-बाबा-नानक।
5. असार-बा-ज़बान-ई-भाखा-बर-दिन-ई-नानक-शाही।
6. दीवान-दर-जबान-ई-भाखा।

इन ग्रंथों में अब अधिकांश नानक की रचनाएँ नहीं मानी जाती हैं। लेकिन तासी ने उस समय में प्राप्त नानक की समस्त (किसी भी रूप में) रचनाओं को नानक का माना है। जो बाद में पंथ की रचनाएँ साबित हुई।

दरियादास-

दरियादास का वर्णन तासी एक मुसलमान दर्जी के रूप में करते हैं। जिन्होंने 'आकाश पंथ' की स्थापना की थी। इनको कबीर की प्रणाली का सुधारक मानकर तासी इन्हें कबीर की श्रेणी में परिगणित करते हैं। दरियादास अपने द्वारा रचित 18 ग्रंथों को ही सब कुछ मानते थे, अन्य किसी को नहीं। तासी के शब्दों में **"वे संस्कृत, विज्ञान से घृणा करते हैं। वेद-पुराण और क़ुरान को भी नहीं मानते और उनका कहना है कि जो कुछ जानने की आवश्यकता है दरिया दास द्वारा रचित हिंदी के 18 ग्रंथों में मिल जाता है"[1]।**

वीरभान-

वीरभान 'साधु संप्रदाय' के संस्थापक के रूप में जाने जाते हैं। इनके द्वारा दिए गए उपदेशों को कबीर की साखी के समान माना गया है। जो मुक्तक में दिए गए थे और इन्हीं को संग्रहीत कर संप्रदाय के धार्मिक सम्मेलनों में पढ़ा जाता था। इस संप्रदाय में संप्रदायगत पहचान ही सब कुछ है, इसके इतर कोई और पहचान एकदम गौण या बिल्कुल नहीं है। तासी, विल्सन की एक पुस्तक 'हिंदू संप्रदायों का विवरण' से संदर्भ प्राप्त कर इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं **"जब कोई पूछे तुम कौन हो? कह दो हम साधु हैं: जाति मत बताओ विवादों में मत पड़ों, अपने धर्म में दृढ़ रहो: और मनुष्य में अपनी आशा मत रखो"[2]।** यह एकेश्वरवादी होते हैं और आभूषण निषिद्ध, गंगा की भक्ति नहीं, और न ही नमस्कार करते हैं, न शपथ खाते हैं। इनमें 'सतनाम' संबोधन प्रयोग में लाया जाता है। लेकिन एक अन्य संप्रदाय भी 'सतनामी' नाम से मौजूद है।

तासी ने इनके संबंध में व्याख्या करते हुए ईसाइयत का प्रभाव बताया है **"साधुओं के सिद्धांत कुछ ईसाई मत के सिद्धांतों के अतिरिक्त स्पष्टतः कबीर, नानक और भारत के अन्य धार्मिक दार्शनिकों के सिद्धांतों से निकले हैं"[3]।** यहाँ पर तासी प्राच्यवादी के रूप

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तानी अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-226
[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तानी अकेडमी इलाहाबाद,पृष्ठ-295
[3] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तानी अकेडमी इलाहाबाद,पृष्ठ-297

में सोचते हैं। साधु पंथ के विभिन्न रूपों के संबंध में एक लेख 'एशियाटिक जनरल जिल्द-7,पृष्ठ-72 पर रेवरेंड एच फिशर' ने लिखा है।

दादू –

दादू पंथ का वर्णन तासी रामानंदियों की एक शाखा के रूप में करते हैं। संप्रदायगत रचनाओं में कबीर की रचनाएँ बहुत ही ज़्यादा मिल गईं और उनमें आपस में समानता भी है। तासी, दादू के संबंध में अध्ययन के लिए एक लेख को माध्यम बनाते हैं **"कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के मुखपत्र के जून 1835 के अंक में इस महत्त्वपूर्ण रचना दादू की वाणी का जो श्री जेम्स प्रिंसेप के अनुसार केंद्रीय भारत की खड़ी बोली शुद्ध हिंदुस्तानी का एक सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करती है पाठ और धार्मिक विश्वास संबंधी अध्याय का अनुवाद किया है"[1]।** दादू की रचनाएँ जयपुर की बोली में लिखी गई हैं लेकिन तासी जिस संदर्भ को ग्रहण करते हैं, उसमें उसकी भाषा को 'शुद्ध हिंदुस्तानी' बताया गया है।

कबीर के शिष्यों में 'धर्मदास' तथा 'भागोदास' का वर्णन तासी ने किया है।जिसमें भागोदास प्रामाणिक बीजक के संग्रहकर्ता के रूप में इतिहास में वर्णित हैं।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन-

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन अन्य निर्गुण संतों के संबंध में जब विचार करते हैं तो इतिहास में अलग अध्याय जिसके अंतर्गत इनका विश्लेषण किया है वह **'तुलसीदास के अन्य परवर्ती'** नाम से विभाजित करते हैं। इसके भाग '**धार्मिक कवि**' नाम से उपविभाजन कर यह निश्चित करते हैं कि है यथासंभव कालक्रम से किया गया है तासी से उलट ग्रियर्सन के पास यही सुविधा है कि वह कालक्रम और अध्याय विभाजन के द्वारा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने में मदद करते हैं।

दादू-

नरेना, अजमेर के धुनिया 'दादूपंथ' के प्रवर्तक ग्रियर्सन के पास इन के संबंध में या पंथ के अन्य अनुयायियों द्वारा लिखे गए साहित्य में प्रक्षिप्तता नाम का कोई प्रश्न नहीं है। वह राजपूताना में दादूपंथ का प्रचार कर रहे 52 शिष्यों के वर्णन के बाद इनकी रचनाओं में पदों की संख्या **"वाणी में 20000 चरण है। जनगोपाल लिखित दादू के जीवन चरित्र में 3000 पंक्तियाँ हैं। सारे राजपूताना में और अजमेर में 52 शिक्षकों ने इनकी शिक्षा का प्रसार किया। इस प्रकार गरीबदास की कविताएँ और भजन 32000 पंक्तियों में है कहा जाता है कि जैसा 124000 चरण प्रयाग दास ने, 48000 चरण रजक जी ने, 72000 चरण शंकर दास ने ,4400 चरण बाबा बनवारी दास ने लिखे"[2]।** इन पदों की संख्या का संदर्भ ग्रियर्सन 'मेमोरेंडम ऑन भाषा लिटरेचर' जॉन ट्रेल के आधार पर करते हैं। यह पुस्तक 1884 ईसवी में प्रकाशित हुई थी। वर्णन करते हुए जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन किसी भी प्रकार की

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तानी अकेडमी इलाहाबाद -228

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय,पृष्ठ-165

प्रक्षिप्तता की आशंका तक व्यक्त नहीं करते हैं। इन संख्याओं को वर्णित कर इसके बाद किसी अन्य का वर्णन नहीं करते। बल्कि सुंदरदास और वीरभान का उल्लेख मात्र कर, प्राप्त जानकारी बिना विश्लेषण के प्रस्तुत करते हैं।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज-

ग्रीब्ज ने अपने इतिहास में निर्गुण कवियों को संत कवियों के अंतर्गत रखा हैं। इन्हें सामान्य रूप से धार्मिक कवि की श्रेणी में रखने के बाद सामान्य जन पर इनका प्रभाव लक्षित करते हैं। संत कवियों की रचनात्मकता में मौलिकता के अभाव की बात ग्रीब्ज अपनी आलोचना में करते हैं । वह अपने इतिहास में प्रमुखता से विश्लेषण करते हुए लिखते हैं **"उनमें मौलिकता और प्रतिभा का अभाव है और उनकी बहुत सी रचनाएँ सामान्य श्रेणी से अधिक उच्च श्रेणी में परिगणित नहीं की जा सकतीं इस कथन के अपवाद भी आसानी से मिलते हैं"[1]।** ग्रीब्ज ने संतों की रचनाओं में मौलिकता का अभाव वर्णित किया है।

नानक

कबीर से नानक का वैचारिक नाता जोड़ने का काम ग्रीब्ज अपने इतिहास में करते हैं। वह नानक को कबीर से प्रभावित तथा उन्हीं की तरह सभी धर्मों की उत्तम बातों को समन्वित कर संकलित करने वाला व्यक्तित्त्व बताते हैं। उनके द्वारा संकलित आदिग्रंथ को ग्रीब्ज **"ग्रंथ का सामान्य अर्थ बाइबिल की भाँति पुस्तक है"[2]।** गुरुग्रंथ साहिब को हिंदी साहित्य में ग्रीब्ज सीमित अर्थों में स्थान देने के हिमायती हैं। लेकिन वह इसकी भाषाई विविधता और कबीर की उपलब्ध सामग्री के कारण उपेक्षा न कर इस पर विचार करना ज़रूरी समझते हैं। ग्रीब्ज के सामने 'सरोज सर्वेक्षण' ग्रंथ उपलब्ध था और उसमें नानक की रचनाओं को हिंदी की रचनाएँ माना गया लेकिन ग्रीब्ज ने नानक की रचनाओं को सीमित अर्थों में हिंदी की रचना माना है।

दादू या दादू दयाल-

प्राप्त किंवदंतियों के माध्यम से ग्रीब्ज, दादू पर विचार करना शुरू करते हैं। जिसमें प्रथम प्रश्न होता है दादू कौन थे? उनकी जाति क्या थी? मोची? धुनिया या ब्राह्मण? क्या वह कमाल के शिष्य थे? इन प्रश्नों की किसी भी प्रकार से पुष्टि ग्रीब्ज नहीं कर पाते, लेकिन वह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अपनी कविताओं में यह कबीर की चर्चा बहुत अदब के साथ करते हैं।

रेवरेंड डॉक्टर ट्रेल का उदाहरण ग्रीब्ज भी देते हैं और राजपूताना में दादू पंथ के विस्तार की बात करते हैं। ग्रीब्ज, दादू की रचनाओं को 'औसत श्रेष्ठ' की श्रेणी में रखते हैं और रचनाओं की भाषा हिंदी के अलावा अन्य भाषाओं को भी स्वीकार करते हैं। **"उनकी रचनाएँ हिंदी में लिखित हैं किंतु उनमें प्राप्त गुजराती शब्द बहुत असाधारण नहीं हैं। दूसरी भाषाओं का भी प्रभाव यथा मराठी, पंजाबी और सिंधी का पाया जाता है"[3]।** इस प्रकार की

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-95

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-65

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-91

भाषाई विविधता पंथ प्रसार के समय घुमक्कड़ी से आई होगी और वह संभावना व्यक्त करते हैं कि, जो प्राप्त पद हैं उनमें से कुछ अनुयायियों द्वारा रचित भी माने जा सकते हैं। इस प्रकार संत साहित्य का कोई भी आलोचक प्रक्षिप्तता का वर्णन अवश्य करता चलता है। ग्रीब्ज, सुंदरदास को दादू का पुनरावतार मानते हैं तथा इसे बहुभाषा ज्ञाता के रूप में वर्णित करते हुए मलूकदास का सामान्य परिचय मात्र देते हैं।

एफ. ई. केई –

केई सन् 1604 ईसवी में संकलित सिखों के आदिग्रंथ के द्वारा निर्गुण संत कविता पर विचार करना शुरू करते हैं और इस ग्रंथ को वह भक्ति आंदोलन की हिंदी कविता के प्राचीनतम रूपों को सुरक्षित करने वाला ग्रंथ भी मानते हैं। सदना तथा नामदेव को रामानंद के पूर्व का बताते हुए अपनी आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं।

पीपा, धन्ना, सेना-

इन्हें केई रामानंद का शिष्य बताते हैं और रामानंद के शिष्य के रूप में रविदास के नाम का ज़िक्र करके केई और कोई आलोचनात्मक टिप्पणी या तथ्य की पुष्टि-प्रतिपुष्टि प्रस्तुत नहीं करते हैं। रविदास को भक्त और मलूकदास को जो स्वयं एक मस्तमौला संत थे उनकी तुलना पश्चिम के 'संत माट' से करते हैं।

कबीर के उत्तराधिकारी-

कबीर के उत्तरधिकारी के अंतर्गत केई वर्तमान में कबीर पंथ में आए बदलावों को लक्षित करते हैं। **"यद्यपि कबीरपंथियों ने अपने को मूर्तिपूजा से अलग रखा है। फिर भी हिंदू प्रभाव अनेक रूपों में प्रविष्ट हो गया है। कबीर में अवतारवाद के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया था पर अब बहुधा उनको परब्रह्म का अवतार माना जाने लगा है"[1]।** कबीर की शिक्षाएँ और पंथ के वर्तमान रूप पर वह यह टिप्पणी करते हुए पंथ पर 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया को लक्षित करते हैं। जहाँ वर्चस्वशाली विचारसरिणी अपने प्रभाव में अन्य को ले लेती है।

दादू पंथ-

दादू पंथ में जाति विषयक विवाद जिसमें केई धुनिया या ब्राह्मण दोनों जनश्रुतियों के अनुसार ही और उनके उपदेशों को कबीर से मिलता-जुलता बताया है। दादू की शिक्षाएँ तथा वर्तमान में दादूपंथियों के व्यवहार में विरोधाभास की ओर भी दृष्टि डाली है।

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-69

निष्कर्ष-

आलोचना की पृष्ठभूमि अगर हम इतिहास ग्रंथों के आधार पर देखें तो केई के इतिहास में अवतार तथा मूर्त्ति के आधार पर निर्गुण-सगुण का विभाजन प्राप्त होता है। एक भावभूमि की बात पहले ही पूर्व के अध्याय में विस्तार से की जा चुकी है। निर्गुण संत 'जनभाषा' में रचना कर रहे थे तथा सगुण कवियों को इसमें हिचकिचाहट क्यों हुई? इसके पीछे एक तर्क जो गीता से लिया गया, वह परशुराम चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सगुण कविता परंपरा (व्याकरण, धर्म, नीति) के रूप में सामने आती है। जबकि निर्गुण कविता कई मायनों में इन सीमाओं का अतिक्रमण करती है। ग्रियर्सन इसी भाषाई बदलाव को 'धार्मिक क्रांति' कहते हैं।

निर्गुण कवियों में कबीर पर पश्चिम की नज़र सबसे पहले गई। लेकिन इनका संकलन करते हुए जिस 'मनचीती राजनीति' का उपयोग किया गया है, उस पर प्रश्न खड़ा करने का काम प्रोफ़ेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल द्वारा किया गया है।

ग्रीब्ज अपने वर्गीकरण में कबीर, नानक तथा दादू को संतकवि की उपमा देते हुए अलग वर्गीकृत करते हैं। भक्ति के उदय के विषय में जो अवधारणा शुक्ल जी द्वारा बाद में प्रस्तुत की गई, ग्रीब्ज उसके प्रथम प्रस्तोता हैं। केई द्वारा तो कबीर को 'हिंदी साहित्य का जन्मदाता' मान लिया जाता है। इस पृष्ठभूमि के उपरांत स्वतंत्र रूप से रविदास विषयक आलोचना पर अगर हम नज़र डालें तो तासी द्वारा भक्तमाल या प्रचलित किंवदंतियों के आधार पर रविदास का मूल्यांकन किया गया है। जीवन, गुरु, नाम, दीक्षा और अन्य प्रसंगों से संबंधित किंवदंतियों को ग्रीब्ज द्वारा आलोचना में स्थान देकर उनके कवि पक्ष का वर्णन नहीं किया गया। केई सिर्फ़ इतना लिखकर इतिश्री भी कर देते हैं कि वह रामानंद के शिष्य थे।

विस्तृत फलक पर रविदास की आलोचना का काम जॉन स्ट्रेटन हौली द्वारा किया जाता है। उनकी आलोचना में प्रामाणिकता पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है। इसलिए वह पाठानुसंधान तथा कविता के प्रसार पर बात करते हुए उसकी प्रक्षिप्तता के पक्ष पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। कबीर की कविता के लिखित तथा मौखिक स्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन कर हौली द्वारा मूल रविदास के पदों के आधार पर एक वृत्त निर्माण करने का काम किया जाता है। हौली, रविदास में लोकतांत्रीकरण, समाज सुधार आदि को रेखांकित करते हैं। गेल ऑमवेट उस राजनीति को सामने लाती हैं, जिसके द्वारा रविदास के गुरु के रूप में रामानंद को इस पंथ पर थोपा जा रहा है। विस्तृत रूप से जीवन तथा कविता पर जो काम हमारे सामने आता है, वह विनांद एम कैलवर्त का है। वहाँ विभिन्न ग्रंथों में जहाँ रविदास विषयक तथ्य प्राप्त होते हैं, उनका तुलनात्मक रूप से अध्ययन प्रस्तुत कर निष्कर्ष दिया जाता है। रविदास की जीवनी तथा कविता, प्रसार के भूगोल को प्रमुख रूप से विवेचित करने का काम कैलवर्त द्वारा किया गया और किंवदंतियों के निर्माण की प्रक्रिया का मूल्यांकन किया गया।

अन्य संप्रदायों में प्रचलित संत रविदास के पदों को संशोधित कर मूलवाणी के रूप में संपादित करने का काम किया। इसमें लिपिकों और गाए जाने वाले लोगों द्वारा जो बदलाव आए उसमें मौखिक संचरण एक प्रभावी कारक के रूप में सामने आता है। रैदास ने सगुण ईश्वर को करुणा करने वाले एक चुनिंदा स्वरूप में ही अपनाया और इसके अलावा अन्य रूपों को नज़रंदाज़ करने का कार्य किया।

कबीर-अध्ययन पाश्चात्य में बहुत ज़्यादा लोकप्रिय है तथा कबीर की शिक्षाओं ने पश्चिम को आकर्षित किया है। मार्को डोला टोम्बा ने सर्वप्रथम कबीर का पश्चिम से परिचय कराया था। उसके बाद कबीर के संबंध में विभिन्न लेख अख़बारों में वहाँ लगातार छपते रहे।

गार्सा-दा-तासी अपने इतिहास में 'आईने-अकबरी और भक्तमाल' के वर्णनों के आधार पर कबीर का विश्लेषण करते हैं। वह ‘ऑन सूफ़िज़्म' पुस्तक के आधार पर कबीर को ‘मुसलमान’ घोषित करते हैं तथा भाषा और शैली की अकृत्रिमता की प्रशंसा करते हैं।

कबीर के संबंध में ग्रियर्सन, रामानंद के प्रभाव को रेखांकित करते हैं। वह जीवन के संबंध में प्रचलित किंवदंतियों का सहारा लेते हुए, कबीर पंथ की 12 शाखाओं का वर्णन करते हैं। कबीर के संबंध में दक्षिण भारतीय ईसाईयत का प्रभाव भी वह मानते हैं।

ग्रीब्ज कवि सूची के लिए तासी के इतिहास का सहारा लेते हैं और रामानंद को कबीर का गुरु मानते हैं। वह कबीर के स्वकथनों की आलोचना करते हुए आधार के रूप में ग्रहण करते हैं तथा कबीर को पाखंड विरोधी, स्वस्पष्टतावादी और ईमानदार विचारक मानते हैं। कबीर की लोकप्रियता के कारण उनकी कविता में प्रक्षिप्तता भी ज़्यादा पाई गई और इसी प्रक्षिप्तता के कारण आलोचकों को एक आम राय बनाने में परेशानी का सामना करना पड़ता है। लेकिन ग्रीब्ज मध्यकाल के कवियों के मध्य कबीर के विशिष्ट स्थान की माँग करते हैं।

केई ने कबीर के जीवन विषयक किंवदंतियों का उपयोग कर उन्हें आलोचना में स्थान दिया है तथा धर्म के बाह्याचारों के विरोधी के रूप में कबीर की कविता को प्रस्तुत किया है। वह कबीर की भाषा में मौजूद शब्दक्रीड़ा तथा अस्पष्टता और उपमाओं के कारण उसे कठिन मानते हैं और ‘हिंदी साहित्य के अग्रदूत’ और ‘पिता’ के रूप में मूल्यांकित करते हैं।

स्वतंत्र पश्चिमी आलोचकों के द्वारा कबीर का मूल्यांकन विभिन्न पुस्तकों के माध्यम से किया गया है। ‘विल्सन’ द्वारा कबीर को 'रहस्यवादी' और रोचक व्यक्ति के रूप में सर्वप्रथम स्थान दिया गया था। उसके बाद कबीर के अनुवादों के माध्यम से पश्चिम में लगातार कबीर पर चर्चा होती रही और इन्हीं अनुवादों में की गई व्याख्याओं के द्वारा आलोचना भी प्रभावित होती रही। ‘विल्सन’ ने कबीर की तुलना ‘लूथर’ से की, लेकिन प्रस्तावना में ‘लूथर’ की किसानों को मारने के लिए जो घोषणा की गई थी, उसके आधार पर कहीं भी लूथर और कबीर की तुलना नहीं की जा सकती है। कबीर किसी भी संगठित धर्म के बचाव के पक्ष में नहीं हैं। ‘माल्कन’ द्वारा कबीर को सूफी बताना भी इन्हीं व्याख्याओं का एक हिस्सा है।

केई ने कबीर तथा उनके पंथ को केंद्रित कर अपनी पुस्तक की रचना की। भक्ति कविता के उदय के समय की तात्कालिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का विस्तार से वर्णन करते हुए एक मुखर मूर्तिभंजक के रूप में कबीर को स्थान दिया। कबीर पर रामानंद तथा बनारस का प्रभाव किस तरह लक्षित होता है तथा कबीर के ‘कबीरत्व’ निर्माण में इनका क्या योगदान है? इस पक्ष का मूल्यांकन किया गया। लोकप्रियता-अलोकप्रियता के पहलू से भी कबीर के व्यक्तित्त्व तथा कविता के स्वर का मूल्यांकन करने का काम केई द्वारा किया गया। कबीर की कविता के भाखापन को विशेष रूप से केई ने सराहा। वह तुलसीदास के बाद कबीर की लोकप्रियता को स्वीकार करते हुए इनके दर्शन में सुसंगतता का अभाव पाते हैं और किसी भी तरह की वैचारिक एकरूपता का न होना मानते हैं।

जॉन स्ट्रेटन हौली 'भक्ति के तीन स्वर' पुस्तक में कबीर विषयक अध्ययन करते हैं और हिंदी के अकादमिक जगत की उस प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हैं जहाँ पुरानी मान्यताओं को बचाना ही आलोचना का धर्म बन जाता है। हौली भी बनारस को कबीर के व्यक्तित्त्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण मानते हैं और बनारस से पांडुलिपि प्राप्ति के स्थान तक कबीरपंथ का एक भूगोल निर्मित करते हैं। वह रामानंद संबंधित किंवदंती को ‘एक हास्यास्पद प्रसंग’ से ज़्यादा नहीं मानते हैं। हौली उन आलोचकों के साथ खड़े होते हैं जो कबीर-रामानंद संबंध को अस्वीकार करते हैं। हौली, कबीर के आधुनिक महत्त्व को स्थापित करते हुए सामाजिक विषमता, जातिगत भेदभाव और समाज की संपूर्ण एकता को लेकर जारी विमर्श में कबीर की महत्त्वपूर्ण भूमिका को कल्पित करते हुए डॉक्टर भीमराव आंबेडकर के निर्माण में कबीर के महत्त्व को निर्धारित करते हैं।

'द बीजक ऑफ कबीर' के माध्यम से प्रोफ़ेसर लिंडा हेस गायन परंपरा का गहन विश्लेषण तथा मूल्यांकन करने का काम करती हैं। वह कबीर के जीवन पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करते हुए उन्हें ‘धर्मांतरित मुस्लिम’ मानने की पक्षधर हैं। हेस की दृष्टि में वह धर्मों की समन्वयक नहीं, बल्कि स्वतंत्रता की घोषणा करने वाले कवि थे। वह जिस आक्रामकता से अपने श्रोताओं को संबोधित करते हैं और उनसे अपना व्यक्तिगत रिश्ता स्थापित कर लेते हैं, इसी विशेषता के कारण लिंडा हेस, कबीर की वाणी को 'अद्वितीय' बताती हैं।

कबीर की आलोचना करते हुए हेस, कबीर को 'कट्टर ईमानदार' की संज्ञा देती हैं। उनकी कविता में स्वयं के प्रति तथा संसार के प्रति किसी तरह की बेईमानी नहीं दिखाई देती। जिस शब्द पर कबीर ज़ोर देते हैं उन्हें हेस द्वारा समझने का प्रयास किया जाता है। वह इन शब्दों की प्रभाव प्रवणता, जिससे कबीर श्रवण से लेकर मनन तक की प्रक्रिया संपन्न कराते हैं, को महत्त्व देकर विश्लेषित करने का प्रयास करती हैं। हेस उन्हें 'व्यवहारिक और कट्टरपंथी ईमानदार' के रूप में प्रस्तुत कर मात्र सिद्धांतों को दोहराने वाले कवियों से अलग कोटि में खड़ा कर देती हैं।

हेस की दूसरी पुस्तक 'बॉडीस ऑफ सोंग' में कबीर, कविता की मौखिक परंपरा में किस रूप में विद्यमान हैं और उसमें क्या तेवर या आक्रामकता मौजूद है? इन पक्षों का मूल्यांकन

करती हैं। वह पाती हैं कि निम्न सामाजिक स्थिति के लोगों के मध्य कबीर की वाणी ज़्यादा आक्रामकता के साथ मौज़ूद है। इस प्रविधि के माध्यम से हेस,कबीर के मूल स्वर के क़रीब पहुँचने का प्रयास करती हैं।

'निर्गुण संतों के स्वप्न' पुस्तक में डेविड लॉरेंजन औपनिवेशक मानसिकता के श्रवणदोष की बात करते हुए 'देशज स्रोतों' की अवहेलना का प्रश्न प्रमुखता से सामने लाते हैं। बाद के इतिहासकारों द्वारा कबीर का जो मूल्यांकन किया गया उसे यह इसी ज्ञानकांड की उपज के रूप में देखते हैं। जिस तरह कबीर लोकप्रिय थे उस के संदर्भ में अगर देखें तो यह अवहेलना अखरती है। प्रोफ़ेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल मध्यकालीन समाज में वाद-विवाद संवाद के स्वर को रेखांकित करते हुए आज की आलोचना की आलोचना करते हैं, जो अपने विरोधी को विदेशी कहने तक से परहेज़ नहीं करती है।

लारेंजन गोरखनाथ-कबीर की अस्मिता को अद्भुत कहते हुए उन्हें आज तक किसी धार्मिक खाँचे में न फिट बैठ पाने की आलोचकों की असफलता पर ख़ुश होते हैं और कबीर को बहुलतावादी घोषित करते हैं। बजाय समन्वयवादी के। वह मध्यकाल की धार्मिक आवाजाही से पैदा हुए काव्य को 'ज़्यादा स्वतंत्र पक्षधरता' का मानते हुए उसे उस समय के स्वतंत्र चिंतन की उपज मानते हैं।

वोदिविल जिस संतचरित विन्यास को अपनी आलोचना में उद्धृत करती हैं लारेंजन उसे एक परिपाटी के रूप में स्वीकार करते हुए 'पैटर्न मात्र' मानते हैं और रामानंद-कबीर संबंध को ब्राह्मणवादी चाल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वह कबीर की किंवदंतियों विशेषत: जीवन विषयक की पुनर्समीक्षा की माँग अपनी आलोचना में दोहराते हुए प्रामाणिकता पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं।

इनके अलावा नामदेव, पीपा, नानक, दरियादास, वीरभान आदि का वर्णन भी अतिसंक्षिप्त में इतिहास ग्रंथों में प्राप्त होता है। लेकिन विशेष टिप्पणी प्राप्त न होने के कारण उसको अध्ययन में सम्मिलित कर परिचय मात्र दे दिया गया है।

अध्याय-4

कृष्णभक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना

अध्याय विवरण-

4.1. कृष्ण भक्ति काव्य के संबंध में पश्चिमी आलोचकों के विचार

4.2. विद्यापति और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास

4.3. सूरदास और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास

4.4. सूरदास के स्वतंत्र पाश्चात्य आलोचक

4.5. मीरांबाई का काव्य और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास

4.6. मीरांबाई के स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक

4.1 - कृष्णभक्ति काव्य के संबंध में पश्चिमी आलोचकों के विचार-

हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक गार्सा-दा-तासी अपनी पुस्तक में राम या कृष्णभक्ति के संबंध में कोई विभाजक रेखा इसीलिए नही खींच पाए क्योंकि वह वर्णानुक्रम पद्धति से कवियों और उनके कवित्त्व का संक्षिप्त में परिचय मात्र देते हैं। इसलिए वह रामभक्त, कृष्णभक्त या अन्य कोई विभाजन अपनी पुस्तक में न कर स्वतंत्र रूप से प्रत्येक कवि को स्थान देते हैं।

इस संदर्भ में व्यवस्थित रूप से कवि प्रवृत्ति या अन्य आधार पर अलग-अलग करके अध्ययन करने की शुरुआत जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन से मानी जा सकती है। ग्रियर्सन ने निम्न दो अध्यायों में इस काव्य का विवेचन किया है-

1. पंद्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण
2. ब्रज का कृष्ण संप्रदाय

ग्रियर्सन ने कृष्णभक्ति से संबंधित काव्य के लिए 'कृष्ण काव्य' की संज्ञा का प्रयोग किया। इस काल की महत्त्वपूर्ण विशेषता को रेखांकित करते हुए **"ग्रियर्सन ने भक्तिकाल को पुनरुत्थान युग की संज्ञा दी है। इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना कवियित्रियों का भक्ति के क्षेत्र में आगमन था। वे साहित्य क्षेत्र में प्रथम बार अवतरित हुईं थीं"[1]।** स्पष्ट रूप से भक्तिकविता में ग्रियर्सन जो क्रांतिकारी बदलाव रेखांकित कर रहे हैं उसका उदाहरण कृष्णभक्ति काव्य की कवियित्री 'मीरांबाई' हैं। जिस घटना को ग्रियर्सन महत्त्वपूर्ण मान रहे हैं वह कृष्णभक्ति काव्य के अंतर्गत घटित हुई थी। मीरां की स्वच्छंद और मधुर उपासना पद्धति को वह जब मध्यदेश के आभिजात्य एवं कुलीन उपसिकाओं में मीरां का कृष्ण प्रेम के प्रति पूर्ण समर्पण भाव में मधुर प्रेम का इतिवृत्त देखते हैं तो यूरोप की संत नारियों से इस आंदोलन की तुलना करते हैं।

ग्रियर्सन अपनी आलोचना में कृष्णभक्ति काव्य का विवेचन विश्लेषण करते हैं तो वह इस काव्य के बरक्स रामभक्ति काव्य को भी तुलनात्मक रूप से सामने रखते हैं। रामभक्ति काव्य को ज़्यादा 'नैतिकता सम्पन्न तथा उसके समन्वय और भाईचारे के भाव के कारण 'यूरोपीय मानस' के ज़्यादा क़रीब पाते हैं।

जार्ज अब्राह्यम ग्रियर्सन ने कृष्णभक्ति में आये व्यक्ति (पुरुष और नारी) के बीच प्रेम पर आधारित कृष्णभक्ति को सच्ची ईसाई भक्ति को भ्रष्ट करने वाली माना है। ग्रियर्सन के व्यक्तिगत जीवनमूल्य, ईसाइयत के मूल्य तथा यूरोपीय समाज के नैतिक मूल्यों के कारण वह कृष्णभक्ति काव्य को राम भक्तिकाव्य के बरक्स ज़्यादा तरहीज देने के पक्ष में नहीं थे। इसका प्रमुख कारण वह अपने एक लेख में दर्ज करते हैं- **"कृष्णभक्ति की दूसरी जातीयता अभी भी आस्तित्त्ववान है। लेकिन तुलसी की आस्था के सहारे नियंत्रित है, वह पर्दे के पीछे ठेल दी गई है। अशिक्षित जनता के बीच कृष्ण संप्रदाय क्या से क्या हो जाता है। इसे**

[1] गुप्ता, आशा (1948),डॉ ग्रियर्सन के साहित्येतिहास, आत्माराम एंड संस पृष्ठ-117

हमें बंगाल के धार्मिक मतों ने दिखा दिया है यौनपूजा हो जाना उनकी अनिवार्य प्रकृति है और इसकी पाठ्य पुस्तकें अपने गोपियों के बीच कृष्ण की सबसे भावावेगपूर्ण, सबसे व्यभिचारपूर्ण लीलाओं का वर्णन हो जाती है। बाकी हर चीज खो जाती है और धीरे-धीरे शाक्तों की अनाम वीभत्सनाओं में विकसित हो जाती हैं। इन सबसे ऊपरी भारत को तुलसीदास ने बचा लिया। मैं मानता हूँ कि यह दोनों जातीयताओं के स्पष्ट अंतर को प्रभावित करता है। हिंदुस्तान की जनता अपने हर पूजक को जानने और प्रेम करने वाले ईश्वर के नियम को स्वीकार करती है। किसी निष्ठुर भाग्य को नहीं"[1]। इस प्रकार ग्रियर्सन के पास कृष्णभक्ति कविता की आलोचना करते हुए जो शब्दावली थी वह अशिक्षित जनता में पहुँचकर विकृत हो जाना, व्यभिचारपूर्ण लीलाएं, अनाम वीभत्सनाओं का विकास आदि का होना प्रमुख रूप से रेखांकित किया है। लेकिन प्रश्न यह है कि आखिर ग्रियर्सन के समक्ष उदाहरण के रूप में उस समय प्रचलित वह कौन सा कृष्णभक्ति साहित्य था जिसका इतना पतित रूप से विश्लेषण करने को वह बाध्य हुए? क्योंकि हिंदी के भक्तिसाहित्य में सूर, मीरां, अष्टछाप के कवि आदि की कविताएँ प्रचलित थीं जिनमें ग्रियर्सन के द्वारा बताए गए एक भी लक्षण से साम्यता नहीं मिलती है। तो जिस साहित्य के आधार पर कृष्णभक्ति काव्य की निर्मम आलोचना वह कर रहे थे वह क्या हिंदी से बाहर का कृष्णभक्ति काव्य था, जो संभवतः बंगाल में प्रचलित था जिस पर नाथ साहित्य का प्रभाव परिलक्षित किया गया हो और इसी अधिकता के कारण ग्रियर्सन ने इसे हेय दृष्टि से देखा हो और तुलनात्मक रूप से रामभक्ति काव्य विशेषकर तुलसीदास के मानस से जब इस काव्य का मूल्यांकन किया हो? तो मानस की कविता को नैतिक और उदारता के आधार पर श्रेष्ठ माना हो।

ग्रियर्सन कृष्णकाव्य के इस रूप (जो संभवतः उत्तर भारत का नहीं था) से उत्तर भारत को बचाने के लिए तुलसीदास के मानस को मुख्य कारक मानते हुए कृष्णकाव्य की इस परंपरा को वैष्णव धर्म की दूसरी बड़ी शाखा मानते हैं। लेकिन इसकी व्याख्या को रहस्यमयी और साधारण शिष्यजनों के लिए सांकेतिक घोषित करते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि वह इसका भविष्य बताते हुए **"इसका भविष्य रामकाव्य से अत्यंत भिन्न है। स्वतः सुंदर अनेक ईसाई धर्माचार्यों के उपदेशों के ही समान पश्चिम में मीरांबाई और पूर्व में विद्यापति ठाकुर के इंद्रजाल मधुर काव्य से और भी रमणीय बन गई"[2]।** ग्रियर्सन इतिहास में बार-बार कृष्णभक्ति कविता पर पतितता का आरोप लगाते हैं। वह भक्ति की इस शाखा में अधम कोटि के साधकों की तांत्रिक साधना का समावेशन भी इसका प्रमुख कारण मानते हैं। यह कहा जा सकता है कि, ग्रियर्सन भले ही कृष्ण काव्य के व्यापक क्षेत्र की बात करते हैं, लेकिन जब वह अंतिम रूप से अपनी किसी मान्यता को स्थापित करते हुए अंतिम

---

[1] Tulseedas,poets and religious reformer (read at the meeting of the royal Asiatic society on march 10th 1903 JRAS-1903 p.p. 459) हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास-पृष्ठ-67

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-50

रूप से प्रस्तुत करते हैं तो वह सिर्फ़ बंगाल में प्रचलित कृष्णभक्ति काव्य और उसकी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हैं। ये स्थापनाएँ देते समय अष्टछाप तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों की प्रसंगवश संक्षिप्त तथा विस्तार से चर्चा तो अवश्य करते हैं लेकिन उनकी काव्यगत विशेषताओं को अपनी व्याख्या के सार के रूप में कम उपयोग में लेते हैं। इसके लिए वह उत्तर भारत से बाहर के कृष्णभक्ति काव्य को उदाहरण के रूप में ज़्यादा ग्रहण करते हैं।

इन कृष्णभक्त कवियों को यदि भाषाई दृष्टि से देखें तो अधिकतर ने ब्रजभाषा में कविता लेखन का कार्य किया है। रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज इसमें इनका योगदान निर्धारित करते हुए सूरदास के संबंध में लिखते हैं **"जहाँ तक साहित्य का संबंध है ब्रजभाषा अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है और सूरदास ने (अपनी वाणी द्वारा) इसे अमर बना दिया"[1]।** एडविन ग्रीब्ज, कृष्णकाव्य के लिए ब्रजक्षेत्र को मूल्यांकन का आधार बना कविता द्वारा भाषा के विकास की प्रक्रिया को रेखांकित करने का काम करते हैं तो वहीं जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन काव्य के मूल्यांकन का आधार बंगाल की तांत्रिक साधनाएँ मिश्रित कृष्णकाव्य को आधार के रूप में उपयोग में लेते हैं। इसी कारण वह उसकी कथ्यगत विसंगतियों की चर्चा ज़्यादा करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पक्ष को देखें तो वह सूरसागर के पदों के संबंध में जो मान्यता प्रस्तुत करते हैं उसका पूर्व रूप हमें ग्रीब्ज की आलोचना में मिलता है। रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं **"इन पदों के संबंध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परंपरा का -चाहे वह मौखिक ही रही हो – पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है"[2]।** अपने सामने वर्तमान रूप में सूरसागर का आना इतिहासकारों की दृष्टि में किसी ओझल गीतकाव्य परंपरा का पूर्ण विकास है, जिसकी खोज करना अभी बाक़ी है। एडविन ग्रीब्ज, रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व इसी बात को इन शब्दों में सामने लाते हैं **"कोई भी विभाजन स्पष्ट रूप से विस्तृत होना चाहिए। वास्तव में किसी काल की कुछ विशेषताओं की जड़ें और असमय पकने वाली उसकी उपज उसके पूर्व युग में पाई जाती है"[3]।** एडविन ग्रीब्ज की इतिहास दृष्टि या कहें इतिहास बोध को शुक्ल जी की अवधारणा से तुलनात्मक रूप से देखने पर हम पाते हैं कि ग्रीब्ज साहित्य में किसी धारा के लोप या उदय को एक सीधी लाइन में नहीं देखते बल्कि अन्य धाराओं के समानांतर ही विकास करते हुए लोप और विकसित होने की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, जो कि वैज्ञानिक रूप से तार्किक भी है। शुक्ल जी इसी को सूरसागर के संबंध में आरोपित कर व्याख्या करने का काम करते हैं।

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-5

[2] शुक्ल, रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ -101

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-7

एफ. ई. केई अन्य भक्ति शाखाओं से कृष्णभक्ति शाखा के अलगाव के प्रमुख पक्षों का विश्लेषण करते हुए अपने इतिहास में कृष्णभक्ति कविता की शुरुआत करते हैं **"तथापि वैष्णवों की एक दूसरी शाखा थी, जिसने ईश्वर की आराधना दूसरे अवतार कृष्ण के रूप में की रामावत संप्रदाय की भाँति कृष्णभक्ति की शुरुआत इस काल से शताब्दियों पहले हो चुकी थी परंतु इस समय उसमें एक नया आवेग उत्पन्न हुआ जो धार्मिक साहित्य के लिए लोकभाषा को अपनाने से और अभिवृद्ध हो गया। कभी-कभी बालकृष्ण को विशेष रूप से आराधना का अवलंबन बनाया गया पर अधिकांशतः कृष्ण के जीवन के उस भाग में जो राधा और गोपियों के साथ संबंधित था, उसने सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया"[1]।** इसमें महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरकर सामने आ रहा है कि एडविन ग्रीब्ज तथा एफ. ई. केई, जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की अवधारणाओं से सहमत या असहमत न होकर एक अलग ही पृष्ठभूमि पर कृष्णभक्ति का मूल्यांकन करते हैं। ग्रियर्सन के पास नायक के रूप में राम थे तथा पाठक के रूप में यूरोपीय जनता। वह एक धारणा जिसकी पुष्टि करना चाहते थे कि रामभक्ति काव्य कृष्णभक्ति काव्य से श्रेष्ठ है और यूरोपीय मानस में उसकी स्वीकार्यता ज़्यादा है। इन स्थापनाओं को स्थापित करने की ज़ल्दबाजी में ग्रियर्सन ने इस काव्यधारा के कई महत्त्वपूर्ण पक्षों को अनदेखा कर दिया। जिस ब्रजभाषा के विकास, नए आवेग, लोकभाषा के अवदान को अन्य आलोचक महत्त्व देते हैं ग्रियर्सन उसकी चर्चा नहीं करते हैं।

एफ. ई. केई भक्ति आंदोलन की कृष्णभक्ति शाखा का योगदान भक्ति में 'जीव के समर्पण' से जोड़कर देखते हैं इस साहित्य के रचनाकारों ने प्रायः प्रियतम के प्रति राधा के आत्मसमर्पण के माध्यम से जीव के समर्पण से जोड़कर देखने का प्रयास प्रमुख रूप से किया है- **"भक्ति आंदोलन के इस शाखा के साहित्य में रचनाकारों ने प्रायः प्रियतम के प्रति राधा के आत्मसमर्पण के माध्यम से जीव के समर्पण के चित्रण में अत्यधिक शृंगार भाषा तथा ऐंद्रिक बिंबों का प्रयोग किया है"[2]।** इस भक्तिकाव्य की शाखा में राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम, जीव का भगवान के प्रति प्रेम का पर्याय बन गया था।

एफ. ई. केई इस भक्तिकाव्य की शाखा द्वारा ब्रजभाषा को काव्यभाषा के रूप में साहित्य पटल पर स्थापित हो जाने की उस प्रक्रिया की चर्चा करते हैं, जिसमें ब्रज के इन कवियों द्वारा कविता में कलात्मक प्रभाव लाने का काम किया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि **"ब्रज के इन कवियों में काव्यकला की परिपक्वता की प्रबल प्रवृत्ति मौजूद थी और इनकी**

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ- 38

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ- 86

कविता की उत्कृष्टता और प्रसिद्धि ऐसी थी कि इनके बाद ब्रजभाषा हिंदी की मुख्य काव्यभाषा बन गई"[1]।

इतिहासकारों के बाद स्वतंत्र आलोचकों विशेषतः आधुनिक काल में अगर हम इस भक्ति काव्यधारा की प्रष्ठभूमि के संदर्भ में विचार करें तो जॉन स्ट्रेटन हौली का नाम प्रमुख रूप से हमारे सामने आता है। हौली, कृष्णभक्ति कविता के उत्स ग्रंथ श्रीमद भागवतगीता को पश्चिमी लोगों में सबसे ज़्यादा सुपरिचित ग्रंथ मानते हैं। शायद यह धारणा हौली की 'इस्कॉन इंटरनेशनल' के पश्चिम में व्यापक प्रसार के बाद बनी हुई प्रतीत लगती है। हो सकता है पूर्व में भी ऐसा हो इस बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन हौली मानते हैं- **"पश्चिम में रहने वाले किसी व्यक्ति से भारतीय क्लासिक का नाम लेने के लिए कहें उत्तर पूर्व निर्धारित है: भगवत गीता"[2]।**

हौली पश्चिमी दुनिया में भारतीय क्लासिक के रूप में भगवतगीता का परिचय प्रमुख रूप से तथा सर्वज्ञात बताते हैं। इसी क्लासिक की अगली कड़ी विभिन्न स्रोतों की तथा अन्य स्रोतों से आने के बाद कृष्णभक्ति कविता के रूप मध्यकाल में सामने आती है। इस परंपरा में सबसे महान वह सूरदास को बताते हैं।

विलियम जोन्स भारतीय साहित्य के बारे में जिस पहलू पर अपनी राय व्यक्त करते हैं उसमें कालजयी साहित्य के अभाव की बात प्रमुख है। हौली जब इस स्थापना के आलोक में अन्य मिलती-जुलती स्थापनाएँ जो उस समय से लेकर अब तक यूरोपीय जगत में प्रचलित थीं, को ध्यान में रखकर हिंदी भाषा के प्रचलन और कालजयी कृतियों के संबंध में यूरोपीय मन की पड़ताल करते हुए वह कहते हैं **"वास्तव में हिंदी को दुनिया में पाँचवी सबसे व्यापक रूप से बोली जाने वाली भाषा के रूप में जाना जाता है फिर भी यूरोपीय विद्वानों को इस तथ्य की सराहना करने में थोड़ा समय लगा कि हिंदी के भी अपने कालजयी ग्रंथ हैं"[3]।** हौली इसमें प्राच्यविदों की उस मानसिकता को सामने लाने का काम करते हैं जो प्राच्य देशों की भाषा, साहित्य और संस्कृति को अपने से सदैव हीन मानने का उपक्रम करती रहती है। हौली ने पश्चिम में क्लासिक काव्य के रूप में कृष्णभक्ति काव्य के मूलग्रंथ भगवतगीता को परिचित बताया है। यहाँ यह बात इसीलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यूरोपीय देशों में कृष्ण का काव्य पहले पहुँचा होगा बजाय इसके अन्य समकालीन साहित्य के। लेकिन ग्रियर्सन जिन मापदंडों पर इस साहित्य को कसकर यूरोपीय मस्तिष्क के लिए इसे विकर्षक घोषित करने का काम करते हैं। हौली उसके उलट इस भक्तिकाव्य को यूरोप में परिचित मानते हैं।

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ- 86

[2] हौली, जॉन स्ट्रैटन, द मेमोरी ऑफ लव,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,2009, पृष्ठ-3

[3] हौली, जॉन स्ट्रैटन, द मेमोरी ऑफ लव,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,2009, पृष्ठ- 4

इस प्रकार देखा जाए तो एक साथ आलोचना की दो धराएँ हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से सामने आ जाती हैं। एक इस काव्यधारा को कथ्य के कारण हेय दृष्टि से देखने का काम करती है तो दूसरी धारा जिसका विकास इसके बाद में हुआ वह इसके कथ्य के उत्स ग्रंथ को यूरोप में लोकप्रिय होने की बात को अपनी आलोचना में स्वीकार करते हैं।

अब हौली की स्थापना से सवाल उठते हैं कि कृष्ण ने आखिर पश्चिम को क्यों प्रभावित किया? उनमें आकर्षक क्या था? आखिर वह कौन सी वजहें रहीं कृष्ण के व्यक्तित्त्व में जिसके कारण कृष्ण की जीवन लीलाओं से संबंधित ग्रंथ को पश्चिम में क्लासिक के रूप में विख्यात मानते हैं? इसका उत्तर हौली के ही एक अन्य कथन द्वारा पुष्ट किया जा सकता है - **"कृष्ण ब्रजभाषा के लिए वही थे जो राम अवधी के लिए थे, वास्तव में इससे भी अधिक। उनके आकर्षक जीवन, चतुर कारनामें, प्रेम और युद्ध की कलाओं में विशेषज्ञता ने उन्हें पहली शताब्दी में उन्हें पूरे भारत में सुसंस्कृत, भाषण, गीत और कला का प्रमुख केंद्र बना दिया था। ब्रज क्षेत्र ने हमेशा उन पर एक विशेष दावा किया। इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में जब ब्रजभाषा साहित्यिक प्रमुखता के लिए उठी तो कृष्ण की कविता बहुत आगे थी"[1]।**

यहाँ अगर ग्रियर्सन के सापेक्ष इस अवधारणा को देखें तो हौली एकदम विपरीत अपनी स्थापना दे रहे हैं। वह कृष्णभक्ति काव्य को यूरोप से लेकर भारत के ख़ासकर उत्तर भारत में बहुपरिचित और सुग्राही (आकर्षक, कलानिपुण, राजनीतिज्ञ, सुसंस्कृत) बताने का काम कर रहे हैं। पहली शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक एक स्वीकार्य प्रवाह के रूप में इस भक्तिधारा के महत्त्व को रेखांकित करने का काम करते हैं। जबकि इसके कथ्य में तांत्रिक और वासनात्मक सामग्री की प्रचुरता के कारण ग्रियर्सन इसे नैतिक रूप से निम्न स्तर का मानते हुए बहुत ही हेय दृष्टि से देखते हैं।

नैतिकता के इस निम्नतर स्तर के लिए उस समय की तत्कालीन परिस्थितियों को हौली द्वारा महत्त्वपूर्ण माना गया है। कृष्णभक्ति के प्रसार तथा कविता के रचना के समय मुग़लकाल अपने स्वर्णिम दौर में था। पूरा बृजक्षेत्र सत्ता के केंद्र 'आगरा' और 'दिल्ली' से बहुत ज़्यादा नजदीक था। वह इन परिस्थितियों का प्रभाव इस काल के साहित्य पर लक्षित करते हैं। उस समय बहुतायत में प्रचलित फारसी मूल के मॉडलों में सुंदर स्त्री तथा किशोरवय को स्थान दिया जाता था। शायद यही प्रभाव कृष्णभक्ति काव्य में उस समय पर परिलक्षित होता है। **"भक्ति साहित्य के फलने-फूलने के प्रारम्भिक आधुनिक दौर में जिस क्षेत्र में कृष्ण को पूजा जाता था उस क्षेत्र में इस्लामी मुग़ल दरबार का दबदबा था। वहाँ एकदम अलग तरह के मॉडल मिलते हैं, जिनमें बहुलता फारसी मूल के मॉडलों की थी। वहाँ दैवीय रूप या तो सुंदर स्त्री का है या किशोरवय बालक का और दोनों उदाहरण पुरुष**

[1]हौली, जॉन स्ट्रैटन, द मेमोरी ऑफ लव,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,2009, पृष्ठ- 6

के है"[1]**।** यानी फारसी के मॉडल में जिन स्वरूपों की प्रमुखता थी उन मॉडलों के निर्माण में (किशोरवय बालक और सुंदर स्त्री) पुरुष आकांक्षाओं की निर्मिति थी और जिस आदर्श प्रेमी और भगवान की छवि इस भक्तिशाखा द्वारा कल्पित की गई है उसके मूल में भी पुरुष मनोवृत्ति है। जिस पर हौली ने प्रश्नचिन्ह लगाया है। इस छवि पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव और पुरुष आकांक्षाओं के अनुरूपता के कारण मांसलता और श्रृंगार की अधिकता आई होगी जो तत्कालीन देश-काल और वातावरण की निर्मिति है, ऐसा हौली का अनुमान है। लेकिन इस भक्तिशाखा के इस तरह के स्वरूप के लिए ग्रियर्सन बृज या उसके आस-पास के शासन तथा इस्लामी-फारसी प्रभाव के इतर अन्य प्रभावों को ज़्यादा महत्त्व देते हैं।

हौली की स्थापना के संदर्भ में अगर पूर्वपरंपरा को देखें तो यह बिल्कुल भी प्रामाणिक बात नहीं है। क्योंकि भारतीय वांगमय के संस्कृत साहित्य में शिव-पार्वती, राम-सीता, राधा-कृष्ण सहित समस्त मिथकीय जोड़ियों में विवाह पूर्व व्रत, उपवास तथा कठोर तपस्या की कई कथाएं मिलतीं हैं। तो यह उस फारसी कथा शैली का प्रभाव कैसे माना जा सकता है? हाँ यह जरूर कहा जा सकता है कि, चूँकि समस्त वैदिक साहित्य से लेकर भक्ति साहित्य के अधिकतर रचनाकार पुरुष रहे हैं और पुरुष अपनी आकांक्षा में अपने लिये रोती हुई स्त्री की छवि देखकर अपनी भावनाओं को तुष्ट करता रहा और लगातार ऐसी छवि गढे जाने के कारण यह छवि एक रूढ़ छवि के रूप में स्थापित हो गई।

प्रेम में रोती हुई स्त्री छवि की प्रसंशा की जा रही है (राधा के विरह के संदर्भ में) उसको महिमामण्डित किया जा रहा है। इसी पर हौली ने प्रश्न उठाया कि साहित्य में प्रेम करने पर स्त्री ही क्यों रोये ? **"यह अतिशयोक्ति होगी कि भारतीय लोग उस कविता को पसंद करते हैं चाहे वह धर्मी हो या धर्मनिरपेक्ष जो पुरुष के लिए स्त्री की लालसा पर जोर देती है"**[2]**।** हौली प्रमुख रूप से भारतीय साहित्य की उस पुरुष दृष्टि को जिसे उन्होंने सूरदास का अध्ययन करते हुए भारतीय साहित्य की पूरी परंपरा में पाया, को उजागर करने का काम करते हैं। इस माध्यम से वह विरह में रोती हुई स्त्री की छवि के पीछे पुरुष आकांक्षाओं को प्रमुख कारण मानते हैं। हमारे समाज की नीति को निर्धारित करने वाली धार्मिक स्मृतियाँ इस छवि के निर्माण में बराबर भागीदार हैं।

हौली विरह के इस एकतरफा गढ़ें जा रहे पक्ष पर और और पितृसत्ता द्वारा आकांक्षापूर्ति के लिए लिखे गए साहित्य पर बार-बार प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। जिसमें प्रमुख रूप से यह देखा जा सकता है **"क्या आस्था के इस रोमानी आदर्श की कल्पना कर रही कोई स्त्री वैसे ही आनंद की अनुभूति कर सकती है, जिसकी अनुभूति कोई पुरुष करता है? क्या किसी स्त्री को इस विचार से वैसा ही रोमांच होता है जैसा किसी पुरुष को इस विचार से होता है कि कृष्ण असंख्य और अनाम स्त्रियों के केंद्र थे? इस प्रश्न की गहरी जाँच की**

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 130

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 133

जानी चाहिए जो अभी तक किसी ने नहीं की है। वैसे राधा के बारे में स्त्रियों की धारणाओं को लेकर डोना वुल्फ़ की कृति इस तरह की कोशिश करती है"[1]। हौली इसलिए कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यक्त विरह को एक खेल के रूप में सामने लाते हैं और इसके पीछे पुरुष की एक साजिश जो साहित्य की परंपरा में चली आ रही है उसको उजागर करने का काम करते अपने अध्ययन में करते हैं। पुरुष द्वारा स्त्री की भावनाओं से खेलने के इस खेल में पुरुष उसके वस्त्रों के साथ खेलता है, भावनाओं के साथ खेलता है और स्वयं को केंद्र में रखकर देवत्व के करीब ले जाने का प्रयास करता है। यह खेल कविता में लालसा का एक रिंग निर्धारित करता है, जिसमें प्रधानता पुरुष आकांक्षाओं की रहती है।

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 135

4.2 -विद्यापति और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास-

विद्यापति हिंदी साहित्य में किसी एक विशिष्ट काव्यधारा में स्थान पाए हुए कवि नहीं, बल्कि साहित्य के इतिहास में 'फुटकल कवियों की श्रेणी' में रखते हुए इनके संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा **"आध्यात्मिक रंग के चशमें आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविंद को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी"[1]।** यहाँ यह बात इसलिए उल्लिखित करना महत्त्वपूर्ण है कि हिंदी के मान्य आलोचक अपने इतिहास में विद्यापति से संबंधित कैनन निर्माण में जब कवियों की खासकर भक्त कवियों की श्रेणी का निर्माण कर रहे थे। तब जो मुख्य प्रश्न उनके सामने थे- जिन कवियों की कविता में भक्ति के किसी स्पष्ट स्वरूप को लक्षित नहीं किया जा सकता उन्हें किस श्रेणी में स्थान दिया जाए? वह कवि भक्तकवि है या श्रृंगारी कवि हैं? उनकी कविता में भक्ति विषयक पदों में शिव, दुर्गा, कृष्ण किस आराध्य को ज़्यादा स्थान दिया गया है। विभाजन की किस श्रेणी में कविता के आधार पर कवि का स्थान सुनिश्चित किया जा सकता है।

यह हम सभी जानते हैं कि विद्यापति बहुभाषिक कवि थे संस्कृत, मैथिली, अवहट्ठ, भोजपुरी आदि में उनकी रचनाएँ मिलती हैं। यह तो स्पष्ट है कि विद्यापति का समय भाषायी दृष्टि से संक्रमण का समय था। उनके समय में प्राकृत, देर से व्युत्पन्न अवहट्ठ, मैथली-भोजपुरी भाषाओं के पूर्वी के संस्करण में परिवर्तित होना शुरू हो गया था। बंगाली साहित्य के इतिहासकार भी विद्यापति को **'बंगाली साहित्य के जनक'** के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं।

शुक्ल जी के समय में शायद इन्हीं विवादों के कारण विद्यापति को साहित्येतिहास में एक स्थान सुनिश्चित करने में असुविधा हुई होगी। इतिहास लेखन के क्रम में शुक्ल जी से पूर्व चार महत्त्वपूर्ण इतिहास लेखकों ने हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन का काम किया और वह चारों इतिहासकार थे इस उप अध्याय में विशेष रूप से यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि सन् 1929 ईसवी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन के समय में विद्यापति को लेकर तथा उनकी कविता को लेकर जो धारणा स्थापित कर दी गई थी । क्या वह पूर्व के पाश्चात्य इतिहासकारों में भी प्राप्त होती है? या वहाँ विद्यापति के संदर्भ में कोई एक निश्चित निष्कर्ष प्राप्त होता है?

प्रथम इतिहासकार गार्सा-दा-तासी अपने इतिहास ग्रंथ में विद्यापति की कविता और जीवन के संबंध में कुछ भी उल्लेख नहीं करते हैं। इसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि तासी के पास विद्यापति के कविता से संबंधित कुछ विशेष जानकारी उपलब्ध ना रही हो।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन जब विद्यापति के पद संकलन तथा जीवन प्रसंगों पर अध्ययन की शुरुआत की उस समय 'बीम्स जॉन' के दो लेख प्रकाशित हो चुके थे।

1. द अर्ली पोएट्स ऑफ बंगाल:विद्यापति।
2. ऑन द एज एंड कन्ट्री ऑफ विद्यापति ।

[1] शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास,लोकभारती प्रकाशन,पृष्ठ-37

जॉन बीम्स 'पदकल्पतरु' के आधार पर विद्यापति का मूल नाम 'बसन्तराय' भी निश्चित करते हैं। इसमें मुख्य बात यह है कि बीम्स, विद्यापति को 'बंगाल के वैष्णव कवि' के रूप में चिह्नित करते है। ग्रियर्सन के अध्ययन में बीम्स के द्वारा पूर्व में किए गए अध्ययन का प्रभाव लक्षित होता है।

ग्रियर्सन, विद्यापति के संबंध में कतिपय मान्यताएँ स्थापित कर चुके थे –

विद्यापति के जन्म के संबंध में- विद्यापति का जन्म दरभंगा के मधुबनी महकमे के बिपसी गाँव में हुआ था। जो दमोदरपुरम के पास है। यहीं प्रसिद्ध कवि कालिदास का भी जन्मस्थान है। विद्यापति की वंशतालिका पूर्वजों तथा उत्तराधिकारियों सहित जो बिपसी के विष्णुशर्मा ठाकुर से शुरू होती है। यह विद्यापति के पिता थे और ग्रियर्सन के समकालीन 'नानू ठाकुर' तक आती है। इसकी तालिका इन्होनें इनके वंशजों से प्राप्त की थी। विद्यापति के पदों और आश्रयदाताओं के संबंध में **"विद्यापति के पदसंग्रह के साथ आरंभ में कवि के आश्रयदाताओं में राजा शिवसिंह, लखिमा ठकुरानी, रूपनारायण, मोदमती दई, प्राणवती तथा राघव सिंह यह छह नाम दिए गए थे"[1]।** विद्यापति दरबारी कवि थे तथा इस संदर्भ के आधार पर देखा जाए तो उनके कई आश्रयदाता राजा थे।

ग्रियर्सन, विद्यापति से संबंधित अपने अध्ययन में मुख्य रूप से विद्यापति के जीवन, कविता की प्रामाणिकता और विविध ऐतिहासिक पहलुओं पर ज़्यादा जोर दे रहे थे। जिसमें वंश परंपरा, जन्मस्थान, आश्रयदाता राजा और दान दिए गये गाँव के प्रमाण के रूप में दिए गए ताम्रपत्र की प्रामाणिकता का अध्ययन महत्त्वपूर्ण रूप से विद्यापति के संबंध में शोधपूर्ण है।

ग्रियर्सन ने वैज्ञानिक आधार पर यह भी निश्चित किया कि विद्यापति की भाषा तथाकथित 'बांग्ला' नहीं अपितु 'मैथिली' है और इस 'मैथिली' की स्वीकृत लिपि देवनागरी है। ग्रियर्सन ने बांग्ला में 'शारदाचरण मित्र' द्वारा किए गए संकलन के 6 साल बाद मिथिला में यह पहला कदम उठाया था। 'बाबू शारदाचरण मित्र' और 'अक्षयचंद्र सरकार' के पदों को सावधानीपूर्वक ग्रियर्सन ने परखा और अध्ययन किया था। अध्ययन के बाद उन्होनें निश्चित किया कि पाँच-छह पदों को छोड़कर शेष सब में किंचित भी विद्यापति के गीतों से समानता नहीं है।

इन दोनों संकलनकर्ताओं ने विद्यापति के बांग्ला स्वरूप का निर्माण किया और इनके द्वारा संकलित अधिकतर पदों को ग्रियर्सन प्रक्षिप्त मानते हैं। इसलिए विद्यापति के जीवन के साथ-साथ पाठानुसंधान का काम भी विद्यापति की पदावली संपादित करते हुए कर रहे थे। 'शरदाचरण मित्र' के संदर्भ में ग्रियर्सन ने लिखा- **"विद्यापति को 'बंगाली कवि' समझने की भ्रांति को प्रश्रय देकर भी बंगाल निवासी कवि की कठिन और विचित्र भाषा से घबराता रहा। उसने बंगाली भाषा और छंद में फिट बैठाने के लिए विद्यापति के पदों को इतना विकृत कर दिया कि भाषा का सम्मिश्रित रूप न तो 'बंगाली' कहा जा**

[1] डॉ आशा गुप्त,जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन और बिहारी भाषा साहित्य, आत्माराम एंड संस पृष्ठ-77

सकता है न मैथिली। 'बसंतराय' जैसे कवियों ने 'विद्यापति' के नाम से अनेकानेक पदों की रचना की जो अभिव्यंजना और विच्छिति में वैसे सुष्ठु ना बन सके"[1]। 'विद्यापति' को 'बंगाली कवि' समझे जाने की मान्यता को ग्रियर्सन एक भ्रांति से ज़्यादा कुछ नहीं मानते, वह बसंतराय जैसे नाम जो कुछ आलोचकों द्वारा विद्यापति का नाम ही मान लिया गया। इस संदर्भ में विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि बसंतराय जैसे कवि विद्यापति के बाद के थे जो विद्यापति के अनुकरण पर कविता की रचना कर रहे थे।

ऐसे कवियों की एक पूरी परंपरा थी जो विद्यापति के जैसे पदों की रचना कर रहे थे। लेकिन उनकी कविता अभिव्यंजना के स्तर पर विद्यापति के जैसी नहीं बन पाई। ग्रियर्सन ने उस भाषा को हथियाने की साज़िश को सामने लाने का काम किया, जिसके द्वारा कवि का एक 'बंगाली वर्जन' निर्मित किया जा रहा था। सन् 1881 ईसवी में ग्रियर्सन द्वारा प्रकाशित विद्यापति के पदों को 'वैष्णव भजन' कहा है जो उन्हें भजन मंडलियों द्वारा लिखित और मौखिक दोनों रूपों में प्राप्त हुए थे। इन प्राप्त पदों की कुल संख्या 82 है। जिनमें रहस्यमयी चेतना का संकेत इनके द्वारा दिया गया है। इसी रहस्यमयता की ओर इशारा करते हुए, इन पदों को ग्रियर्सन इनकी तुलना ईसाई धर्म में प्रचलित उन पवित्र 'सोलोमन के गीतों' से करते हैं। **"यों तो पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों जगत में परमात्मा को प्रेम का पर्यायवाची माना गया है। किन्तु शीत प्रधान देशों में परमात्मा-आत्मा का संबंध पिता-पुत्र का और गरम देशों में दाम्पत्य भाव से संयुक्त माना जाता है। राधा और कृष्ण इसके प्रतीक है और इंद्रियजनित कलुषित भाव से रहित होकर सब हिन्दू पद्यों का वैसे ही पाठ करते हैं जैसे सोलोमन के गीतों का पाठ अंग्रेज़ पादरी करते हैं"[2]।** ग्रियर्सन 'रॉयल एशिआटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' में विद्यापति से संबंधित लेखों में उनके विविध पक्षों पर विचार कर रहे थे। इसमें प्रमुख पक्ष जिसको विद्यापति के संबंध में वह स्थापित करते हैं उनमें –

1. विद्यापति का मैथिली कवि होना बजाय बाँग्ला के।
2. जीवनवृत्त के प्रामाणिक स्रोतों की खोज।
3. 'बसंतराय' या अन्य बाद के कवियों ने विद्यापति का अनुसरण करते हुए कविता की रचना की।
4. विद्यापति का 'वैष्णव कवि' के रूप में स्थान निर्धारित किया।
5. 'सोलोमन के धार्मिक गीतों' के समकक्ष हिन्दू धर्म में विद्यापति के गीतों की मान्यता।

यहाँ ग्रियर्सन के द्वारा इन पक्षों की विस्तृत विवेचना इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब विद्यापति से संबंधित विवेचन प्रस्तुत

[1] Maithili chrestomathy's JASOB ,1881 page 2

[2] JRASOB extra no.-1881-2 page 36-38

करते हैं तो इन्हें 'धार्मिक कवि' या कहें 'भक्तकवि' मानने के पक्ष में नहीं होते है। बल्कि वह इन्हें फुटकल खाते में स्थान देते हैं।

शुरुआती लेखों के अलावा जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन अपने इतिहास ग्रंथ में विद्यापति को प्रमुखता से स्थान देते हैं। उन्होंने विद्यापति को 'विद्यापति ठाकुर' नाम से इतिहास में स्थान दिया है और उनके व्यक्तित्त्व तथा कृतित्त्व का वर्णन विश्लेषण करते हुए **'पूर्वी भारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि'** बताया है - **रमानंद और कबीर द्वारा प्रसिद्ध बना दिए गए मध्य हिंदुस्तान को थोड़ी देर के लिए छोड़कर यदि हम अपने पगों को पूरब की ओर मोड़ें तो हमें पूर्वी भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध वैष्णव कवियों में से एक को सन् 1400 ईस्वी में उपस्थित पाएंगे"[1]।**

परवर्ती इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विद्यापति को भक्त कहे जाने पर अपने इतिहास ग्रंथ में तंज की भाषा में अपनी वह सुप्रसिद्ध उक्ति कहते हैं, जिसके बाद यह विवाद जोर पकड़ लेता है कि विद्यापति भक्तकवि है या श्रृंगारी कवि। दूसरी ओर पूर्ववर्ती इतिहास लेखक ग्रियर्सन अपने इतिहास में विद्यापति को मध्यभारत के रमानंद और कबीर के समकक्ष का वैष्णव कवि बताते हुए पूर्वी हिंदुस्तान में उनका महत्त्व घोषित करते हैं। इस विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट है कि ग्रियर्सन की दृष्टि विद्यापति को एक 'वैष्णव भक्तकवि' मानती थी। जिसका प्रसार व्यापक था। इन स्थापनाओं पर बीम्स के लेखों का भी प्रभाव माना जा सकता है क्योंकि सबसे पहले पाश्चात्य देशों में विद्यापति का परिचय कराने वाले वही थे और उन्होंने उसमें विद्यापति को 'वैष्णव कवि' के रूप में स्थापित किया था।

ग्रियर्सन पूर्वी हिंदुस्तान के मानस पर विद्यापति का प्रभाव और उनकी व्यापकता तथा गीतों की परंपरा पर अपनी दृष्टि डालते हुए स्पष्ट करते हैं कि **"पूर्वी हिंदुस्तान के साहित्य पर विद्यापति का प्रभाव अत्यधिक है। यह उन धार्मिक प्रेमगीतों की रचना की कला में पूर्ण प्रवीण थे, जो बाद में विकृत रूप में वैष्णव पोथियों के सार बने। परवर्ती कवियों ने अनुसरण करने के सिवा कुछ नहीं किया"[2]।** लेखों में ग्रियर्सन, विद्यापति के गीतों को 'वैष्णव भजन' तथा इतिहास में 'धार्मिक प्रेमगीत' के नाम से अभिहित करते हैं।

इन्हीं प्रेमगीतों का प्रसार जब उत्तर भारत में होता है और वह शुक्ल जी की आलोचनात्मक दृष्टि तक पहुंचते हैं तो वह 'आध्यात्मिक रंग के चशमें से देखे हुए श्रृंगारी पद होते हैं' इसका कारण ग्रियर्सन की उक्तलिखित स्थापना में देखा जा सकता है। उन्होंने परवर्ती कवियों की उस परंपरा की तरफ इशारा किया है, जो आगे विकृत रूप में वैष्णव पोथियों में आगे के कवियों द्वारा अनुसरित किए जाने के उपक्रम को रेखांकित किया है। जो पद विद्यापति के आज हमारे सामने हैं या जिन आधारों पर हिंदी साहित्य की आलोचना तथा इतिहास लेखन परंपरा में यह विवाद उभर कर सामने आया कि विद्यापति को भक्तकवियों की श्रेणी में स्थान दिया जाए या

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-72

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-75

श्रृंगारी कवियों की इसका निराकरण ग्रियर्सन पहले ही कर देते हैं। ग्रियर्सन ने अनुकरणकर्त्ता परवर्त्ती कवियों को ध्यान में रखते हुए **“जबकि इस गीत परंपरा के प्रवर्तक ने कोई भी विषय ऐसा नहीं लिया है जिसे उसने वस्तुतः सच्ची काव्यकला से मंडित न कर दिया हो। उसके अनुकरणकारियों ने उनकी विचित्र मनोरम स्पष्टता को प्रायः अस्पष्टता में बदल दिया है और उनके भावोच्छवासपूर्ण प्रेमगीतों को वासना साहित्य में”[1]।** यानी ग्रियर्सन के आधारों को ग्रहण करें तो विद्यापति के संबंध में जो आलोचकों के पास अस्पष्टता है या जो विवाद है वह इस बाद की परंपरा के द्वारा किए गए लेखन के कारण है। जिसमें ‘बसंतराय’ जैसे लेखक भी थे जो विद्यापति जैसा ही लेखन करने का प्रयास उन्हीं के समय में कर रहे थे।

विद्यापति के धार्मिक प्रेम गीतों की विषयवस्तु राधा और कृष्ण का जीवन है। समग्रता में देखा जाए तो विद्यापति की भक्तकवि की छवि को ही ग्रियर्सन प्रमुखता से सामने लाने का काम करते है और मूल पदों में इसी स्वर को प्रमुख मानते हैं।

लोकप्रियता के संबंध में मूल्यांकन करते हुए ग्रियर्सन, विद्यापति के पदों की पहुँच को घर-घर तक मानते हुए जन-जन के कंठहार के रूप में देख रहे है। इन गीतों का ‘चैतन्य महाप्रभु’ द्वारा गायन किया जाना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि विद्यापति के मूलगीतों का मुख्य स्वर भक्ति का ही रहा होगा।

विद्यापति के पदों की लोकप्रियता के संबंध में अगर देखें तो हम पाते हैं कि,विद्यापति कई सरोकारों से एक साथ जुड़े थे जिनमें से –

1. राज्याश्रित दरबारी कवि।
2. भक्त कवि।
3. जन-जन तक पहुँच (लोक में स्वीकृत कवि)।

इन तीनों आधारों को यदि सम्पूर्ण हिंदी साहित्य पर लागू कर दिया जाए तो कोई दूसरा कवि ऐसा नहीं मिलता जो राज्याश्रित, भक्त और जनता में लोकप्रियता एक साथ इन तीनों कसौटियों पर खरा उतरता हो। सिर्फ़ विद्यापति इकलौते कवि हैं जिनका विश्लेषण इन तीनों कसौटियों पर किया जा सकता है।

जनता में लोकप्रियता ने विद्यापति को **‘मैथिल कोकिल’** के रूप में स्थापित किया। क्या यह इस दिशा में संभव था यदि विद्यापति के पदों में सिर्फ़ वासनाजनित श्रृंगार अधिक होता? ग्रियर्सन इस प्रभाव और प्रसार के संबंध में लिखते हैं- **“उनके द्वारा ये गीत निचले प्रांतों में घरेलू काव्य बन गए। फलतः अनेक अनुकरण करने वाले हो गए जिनमें से अनेक ने विद्यापति के नाम से ही लिखा अतः असल से नकल को अलग करना कठिन हो गया है। विशेषकर इस दशा में और भी जबकि असल भी समय के फेर से बंगाली**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-75

मुहावरों और छंदों के अनुकूल बदल गए"[1]**।** इस आधार पर अगर विद्यापति के गीतों के संबंध में राज्याश्रित पक्ष को देखा जाए तो उनके काव्य की पहुँच इन तबकों विशेषकर निचले तबकों तक गीतों की इतनी स्वीकार्यता संभव नहीं थी।

जिस गीतपरंपरा का प्रवर्तन विद्यापति ने किया जो बंगाल सहित पूरे पूर्वी भारत में घर-घर में आदर के साथ गाए जाते हैं उसकी स्वीकार्यता के पीछे का कारण क्या हो सकता है? ग्रियर्सन इसे **'कर्मनाशा से कलकत्ता तक प्रत्येक घर में सुपरचित'** मानते हैं।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज-

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के बाद रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज अपने इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का रेखांकन' में विद्यापति का समय (रचनाकाल) 15 वीं शती को ठहराते हैं। वह निश्चित करते हैं कि उनकी सर्वोत्तम रचना संभवतः 15 वीं शती में पूरी हुयी थी। ग्रीब्ज के विश्लेषण में ग्रियर्सन के अनुवाद की भूमिका तथा इतिहास का प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रीब्ज, विद्यापति को सबसे बड़ा ***'वैष्णव गीतकार'*** मानने की बात करते हैं। वह भी ग्रियर्सन की तरह उनकी जनव्यापकता को दूसरे शब्दों में जिसे वह **'जनता का धर्म'** को प्रभावित करने वाला विद्यापति को मानते हैं। यहाँ एक बिन्दु मुख्य रूप से स्मरण कर लेना आवश्यक है, ग्रियर्सन जब विद्यापति के प्रभाव को विश्लेषित करते हैं तो **वैष्णव भजन'** के रचनाकारों में कबीर और रामानंद के साथ समकक्षता की बात करते हैं।

ग्रीब्ज के पूर्व विद्यापति के गीतों के कथ्य के संबंध में किसी एक भक्तिधारा का नाम नहीं लिया जाता था बल्कि एक शब्द **'वैष्णव भजन'** के रूप में पहचान कर आलोचकों ने एक श्रेणी निर्धारित कर दी थी। लेकिन ग्रीब्ज ने विद्यापति की कविता को वैष्णव भजन के पद से बाहर निकाल आलोचना में गीतों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय राधा और कृष्ण को स्थापित किया। वह श्रृंगार गीत और वैष्णव भजन नहीं बल्कि कविता के मुख्य पात्रों या कहें परंपरा प्राप्त कथा के आधार पर रचे गए गीत थे। उनकी तुलना रामानन्द और कबीर से नहीं बल्कि कविता और भक्तिधारा में समकक्ष सूरदास के साथ करते हैं- **"राधा और कृष्ण ही उनका विषय था तथा उनका बड़ा प्रभाव संभवतः बिहार और पश्चिमी बंगाल में था। जितना बड़ा प्रभाव उनके एक शताब्दी बाद पश्चिमी प्रांतों में सूरदास का था"**[2]**।** ग्रीब्ज पश्चिमी ही नहीं, सम्पूर्ण आलोचना में प्रथम ऐसे व्यक्ति थे, जो विद्यापति का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि 'विद्यापति कृष्ण भक्तकवि सूरदास के समकक्ष हैं'।

ग्रीब्ज अपनी आलोचना में दो महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं-

1. विद्यापति के गीतों का मुख्य कथ्य राधा-कृष्ण का जीवन।
2. विद्यापति की परंपरा में ही आगे सूरदास को स्थान।

---

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-73

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-48

यहाँ अगर हम इस चलती हुई परंपरा की पुनः बात करें, तो अकेले विद्यापति ही नहीं मध्यकाल के हर रचनाकार के काव्य संसार के साथ मौखिकता के द्वारा प्रसार का प्रसंग जरूर जुड़ा हुआ है। इस काल के काव्य का प्रसार का माध्यम यही मौखिकता थी। कविता मौखिक रूप से प्रसारित होते हुए विभिन्न स्वरूपों में परिवर्तित हुई और जन-जन तक कविता की पहुँच इसी माध्यम से ज़्यादा संभव हो पाई।

ग्रियर्सन ने पूर्व में उन दो पद संकलंकर्त्ताओं की उस युक्ति को उजागर किया था जिसके द्वारा वह विद्यापति को 'बांग्ला का प्रथम कवि' तथा उनकी 'पदावली की भाषा को बांग्ला' बताने की चेष्टा कर रहे थे। ग्रीब्ज पदावली के बांग्ला संस्करण के लिए प्रचार तथा अनुवाद को मुख्य कारक मानते हैं, न कि यह कि यह पद या गीत रचनाकार ने बांग्ला में लिखे हैं- **"लगता है दूर-दूर प्रचारित होने के कारण उनकी रचनाएँ अत्यंत परिवर्तित हो गईं। ये बाँग्ला में भी अनूदित हो गईं और चारों ओर प्रचारित हो गईं। कहा जाता है चैतन्य, विद्यापति की रचनाओं से अत्यंत प्रभावित हैं"[1]।** विद्यापति की बहुभाषिकता जिसमें संस्कृत, मैथिली और बाँग्ला की शब्दावली का संयोजन दिखता है, इनमें कई स्थानों पर सादृश्यता का भी संबंध है। इनकी रचनाओं और गीतों के कथ्य को **राधा-कृष्ण** का जिस मुखरता के साथ वह घोषित करते हैं हिंदी अकादमिया/साहित्य इतिहासकार/आलोचक उतना ही विद्यापति के इस पक्ष पर मौन या विवाद छेड़े हुए हैं। इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थापना जिसका वर्णन पूर्व में किया गया है का प्रमुख स्थान है।

ग्रीब्ज भी ग्रियर्सन की तरह आलोचना में विभिन्न छापों/ छवियों और प्रसार के साथ कविता में आयी प्रक्षिप्तता जो मौखिक परंपराओं के साथ कवि के विकास क्रम में उसके नाम के साथ जुड़ती गई। को रेखांकित करते हैं - **"विद्यापति के बहुत से अनुकरण और अनुसरणकर्त्ता थे उनमें से कुछ तो ऐसे थे जिन्होनें न केवल उनकी शैली की अनुकृति की अपितु उनके नाम का भी प्रयोग किया"[2]।** विद्यापति की कविता में प्रक्षिप्तता और पाठानुसंधान के प्रश्न पर ग्रीब्ज, ग्रियर्सन के शब्दों में उन्हीं की अवधारणाओं को दोहराने का काम करते हैं। वह अपनी कोई नई स्थापना नहीं प्रस्तुत करते हैं। मूल्यांकन में आयी समस्याओं को देखते हुए ग्रीब्ज एक संभावना व्यक्त करते हैं- **"इसकी बहुत बड़ी संभावना है कि उनके नाम से मिलने वाली सभी रचनाएँ वस्तुतः उनकी नहीं है। कुछ लोगों का कथन तो यह है कि वे 'हिंदी के प्रथम नाटककार हैं' जो भी यह सर्वथा विवादास्पद नहीं है"[3]।**

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ- 48

[2] हिंदी साहित्य का रेखांकन,रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज,पृष्ठ-48

[3] हिंदी साहित्य का रेखांकन,रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज,पृष्ठ-49

प्रक्षिप्तता का प्रश्न और विद्यापति के काव्य में पाठानुसंधान की समस्या इसी कारण उत्पन्न हुई। विद्यापति के पदों में यह तय कर पाना और भी ज़्यादा मुश्किल था क्योंकि वहाँ रचनाकार की छाप तथा स्वर का अनुकरण अनुकरणकर्त्ताओं के द्वारा करने का प्रयास किया गया।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज बिना किसी विवाद के अपने इतिहास में विद्यापति को 'हिंदी का प्रथम नाटककार' मानते हैं। उनके 'गोरक्षविजय नाटक' में संस्कृत और मैथिली दोनों भाषाओं के संवाद मिलते हैं। इस एक अंक के नाटक को यदि भाषाई दृष्टि से देखा जाए तो हिंदी के शुरुआती नाटक किसी बोली से ही लिखने शुरू हुए हैं। ग्रीब्ज हिंदी का पहला नाटककार *'विद्यापति'* को तथा पहला नाटक *'गोरक्षविजय'*को मानते हैं। ग्रियर्सन, विद्यापति के नाटककार वाले पक्ष पर कोई चर्चा अपने इतिहास ग्रंथ में नहीं करते, इसलिए कहा जा सकता है कि एडविन ग्रीब्ज पर ग्रियर्सन की विद्यापति विषयक टिप्पणियों का प्रभाव अवश्य था लेकिन वह आलोचना करते हुए कवि को समग्रता में देख रहे थे।

एफ. ई. केई -

एफ. ई. केई ने विद्यापति के संबंध में ज़्यादा विवेचन या विश्लेषण नहीं किया, न ही वह पाठ और प्रक्षिप्तता पर बात करते हैं और न ही उसकी भाषा पर। वह संक्षिप्त में एक टिप्पणी विद्यापति पर करते हुए लिखते हैं **"15 वीं शती में पूर्वी भारत के अति प्रसिद्ध वैष्णव कवि विद्यापति हुए जो बिहार के दरभंगा जिले के बिपसी के रहने वाले थे। विद्यापति निपुण गायकों की एक पद्धति के प्रवर्त्तक थे जो आगे चलकर समूचे बंगाल में फैल गई . . . आगे चलकर इनके पदों को बांग्ला में अपना लिया गया जिन्हें चैतन्य महाप्रभु ने लोकप्रिय बनाया"[1]।** केई विद्यापति के संबंध में कोई नई स्थापना प्रस्तुत न कर पूर्व में विश्लेषित की गई उन्हीं अवधारणाओं को दोहराते हैं, जिन्हें बीम्स, ग्रियर्सन और ग्रीब्ज ने स्थापित किया था।

इस प्रकार समग्रता में देखा जाए तो पश्चिमी आलोचकों का विद्यापति के संबंध में एक रैखिक ग्राफ इस प्रकार बनता है जिसमें पहला नाम बीम्स का आता है। इसके उपरांत बीम्स की अवधारणाओं से प्रभावित जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन का फिर रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज। बीम्स ने विद्यापति को *'वैष्णवगीतों का प्रवर्त्तक'* एक बार कहा तो वह एडविन ग्रीब्ज तक आते-आते आलोचना में 'कृष्णकाव्य' के रूप में स्थापित हो गया। इस काव्य के वासनाजन्य पक्ष के लिए अनुकरणकर्त्ताओं तथा मौखिक परंपरा में पाए जाने वाले लचीलेपन को जिम्मेदार माना गया। इन आलोचकों ने विद्यापति की मूल रचना की यात्रा को वैष्णव गीत, लोकप्रिय धर्मगीत, कृष्णकाव्य आदि रचना करने वाला माना इनके पास कोई विवाद इस संदर्भ में नहीं

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-39

था जो बाद में उभरकर सामने आया, जिसका मुख्य प्रश्न यह था कि विद्यापति भक्त हैं या श्रृंगारी कवि?

हिंदी आलोचना में श्यामसुंदरदास ने यह सर्वप्रथम प्रतिपादित किया **'विद्यापति हिंदी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि थे'** और बच्चन सिंह पदावली में प्रयुक्त की गई देशभाषा के कारण विद्यापति को हिंदी का प्रथम कवि मानते हैं। यह दोनों मान्यताएं उपरोक्त विवेचित पाश्चात्य आलोचकों की आलोचना से मेल खाती हैं। हिंदी के अग्रिम पंक्ति के आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी विद्यापति विषयक अपनी साहित्यलोचना में श्रृंगारिक कवि की कोटि में स्थान देते हुए कवित्त्व का मूल्य निर्धारित करते हैं। शायद इसीलिए आलोचना की इन दो धाराओं के कारण यह विवाद बना कि 'विद्यापति भक्त हैं या श्रृंगारी?' लेकिन पश्चिमी आलोचक अपनी आलोचना में वैष्णव भजन, लोकप्रिय धार्मिक गीत, राधाकृष्ण काव्य जैसे शब्दों का ही प्रयोग करते हैं और विद्यापति को 'धार्मिक वैष्णव कवि' मानते हैं।

4.3- सूरदास और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास –

गार्सा-दा-तासी

गार्सा-दा-तासी अपने इतिहास ग्रंथ में वर्णानुक्रम के आधार पर सूरदास का वर्णन प्रारंभ करते हैं। वह 'सूर' या 'सूर-दास' नाम से स्थान देते हुए उनके नाम का अर्थ 'सूर्य का दास' निश्चित करते हैं। उनके जीवन, जाति, पिता, पुनर्जन्म आदि का वर्णन करते हुए **"मथुरा के प्रसिद्ध ब्राह्मण कवि और संगीतज्ञ, बाबा रामदास जो स्वयं संगीतज्ञ थे के पुत्र किन्तु जो अक्रूर के अवतार समझे जाते थे"[1]।** गार्सा-दा-तासी द्वारा कृष्णभक्ति शाखा में कृष्ण कथा से संबंधित पात्रों के पुनरावतार के रूप में विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तकों तथा अनुयायियों को बताया गया है। जो परंपरा प्रचलित किंवदंतियों और जनश्रुतियों के आधार पर वर्णित किया गया है। इस प्रकार की बातों का ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होता लेकिन वार्त्ता साहित्य तथा सांप्रदायिक साहित्य में इन बातों को चमत्कारिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। यहीं से प्रेरणा लेकर तासी इन्हें अपने इतिहास में प्रमुखता से स्थान देते हैं। इन की गई कल्पनाओं को जीवन के महत्त्वपूर्ण चरों के साथ स्थान दिया गया है। जिसे अगर सूर के संबंध में देखें तो - जाति, पिता और निवास स्थान के साथ इस चर को भी स्थान दिया गया है, जो कि पूर्ण रूप से कल्पना आधारित है।

तासी, सूरदास के जीवन के उस प्रसंग जिससे उनकी कविता का बहुत बड़ा पक्ष सामने आता है या यों कहे कि कथ्य की बहुत सी आलोचनात्मक गुत्थियाँ सुलझ जातीं है के आलोक में अपनी राय देते है- वह प्रसंग है सूर की अंधता से संबंधित - **"सूरदास अंधे थे उन्होनें वैष्णव फकीरों के एक पंथ की स्थापना की जो उनके नाम पर सूरदासी या सूरदास पंथ कहे जाते हैं, वे अनेक लोकप्रिय गीतों विशेषतः हिंदुई में विभिन्न लंबाई के सामान्यतः छोटे धार्मिक भजनों के रचयिता हैं"[2]।** बाद की आलोचना में चाहे वह पश्चातय हो या हिंदी की दोनों ने सूरदास के अंधेपन को लेकर प्रश्न किए हैं। लेकिन तासी के पास इस संदर्भ में कोई प्रश्नवाचक चिन्ह नहीं है। बल्कि तासी स्पष्ट शब्दों में सूरदास को नेत्रहीन कहकर 'वैष्णव साधुओं के पंथ का संस्थापक' घोषित कर देते हैं। आज अगर पूरी भक्ति साहित्य को एक निगाह से देखें तो इस प्रकार का कोई पंथ दूर-दूर तक नजर नहीं आता है। जिसमें सारे अनुयायी नेत्रहीन हों और उसे 'सूरदासी पंथ'के नाम से जाना जाता हो। यह पंथ

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953) ,तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ- 410

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ- 411

कभी अस्तित्त्व में रहा या नहीं रहा इस पर संदेह है। क्योंकि सूरदास की संबद्धता 'अष्टछाप' से मानी जाती है, जिसके पर्याप्त प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।

'सूर' शब्द कब 'अंधेपन (नेत्रहीनता)' का पर्याय बन गया या 'नेत्रहीनता' कब 'सूरदास' की पर्याय बनी। इन दोनों में से कुछ भी निश्चित करना मुश्किल है। लेकिन जिस 'सूरदासी पंथ' की बात गार्सा-दा -तासी कर रहे हैं अगर वह किसी समय में विद्यमान मान लिया जाए तो सूर की कविता की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। सूरदास अपने जैसे तमाम गायकों की एक परंपरा के प्रवर्त्तक बने और उनकी स्वीकार्यता की व्यापकता कितनी ज़्यादा विराट थी।

सूरदास के पदों को गार्सा-दा-तासी **'विशन पद"** अर्थात विष्णु के लिए गाए गए पदों का आविष्कारकर्त्ता कहा है। **"विकृत रूप में 'विशन पद' केवल इस बात को छोड़कर कि इसका विषय सदैव विष्णु से संबंधित रहता है, यह 'डोमरा' की तरह एक कविता है। कहा जाता है इसके जन्मदाता 'सूरदास' थे। मथुरा में इसका खास तौर से व्यवहार होता था"[1]।** लेकिन यह बात पूर्व में भी विद्यापति के संदर्भ में 'वैष्णव भजन' के रूप में तासी द्वारा कही जा चुकी है। कालक्रमिकता के अभाव के कारण इसका कोई ऐतिहासिक क्रम नहीं बन पाया लेकिन 'वैष्णव भजन' और 'विशन पद' में कोई अंतर नजर नहीं आता। न ही किसी अंतर की ओर तासी ने इशारा किया है।

'विष्णु पद' या 'विशन पद' जिसका वर्णन सूरदास की कविता के संदर्भ में किया गया है इसे किसी अन्य भारतीय या पाश्चात्य आलोचक/इतिहासकार द्वारा प्रयोग में नहीं लाया गया है। इसका क्या कारण हो सकता है कि मथुरा में प्रचलित जिस कविता के स्वरूप के लिए 'विशन पद' या 'विष्णु पद' उपमा का प्रयोग किया गया गार्सा-दा-तासी के अलावा किसी अन्य के द्वारा परवर्त्ती काल में नहीं किया गया। इसका कारण क्या यह नहीं हो सकता कि विष्णु के अवतार कृष्ण से संबंधित कथ्य होने के कारण इस अवधारणा की संकल्पना कर ली गई हो।

गार्सा-दा-तासी की नज़र में सूरदास 'विष्णुपद' के जन्मदाता थे। उनकी कविता में आये 'राग' शब्द के संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए **"हिंदुओं के प्रधान संगीत रूपों और मुसलमानों की ग़जल से मिलती-जुलती एक कविता का नाम जिसे 'राग-पद' राग संबंधी कविता भी कहते हैं। अन्य के अतिरिक्त सूरदास में भी उसके उदाहरण मिलते**

[1]अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-54

हैं"[1]। मध्यकालीन कविता की प्रमुख विशेषता यह थी कि उस कविता को कवि पढ़ने के लिए नहीं बल्कि गायन या कहें 'संगीत के साथ समूह में गायन' के लिए रचता था। इसमें संगीतात्मकता के तत्त्व का विशेष ध्यान रखा जाता था। तासी ने सूर के पदों में पद रचना से पूर्व संकेत रूप से लिखे गए उसी 'राग' शब्द के आधार पर इसे संगीत रूप में रेखांकित किया है। जबकि वहाँ सूर या अन्य मध्यकालीन कवि द्वारा यह संकेत दिया जाता था कि इस पद को किस 'राग' में रचा गया है या यह किस राग में गाए जाने से ज़्यादा संगीतात्मक तथा प्रभावी होगा।

यह प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट कर दिया गया था कि तासी का उर्दू भाषा के प्रति विशेष लगाव था। सूर संबंधी स्थापनाओं में उनका उर्दू साहित्य से प्रभावित मापदंडों से तुलना विशेष रूप से दिखाई देती है। तासी उर्दू साहित्य के शब्दों ग़ज़ल, दीवान आदि शब्दों के साथ 'राग' को भी ग़जल से सम्बद्ध बता देते हैं। आलोचना में उर्दू साहित्य के पदों के संबंध में दृष्टव्य- **"उनकी कविताओं के संग्रह की जो विचित्र बात है फारसी अक्षरों में हुआ है। शीर्षक 'सूरसागर' या 'बाललीला' है यह ग़जल की तरह की और 'राग' शब्द का शीर्षक लिए हुए 'राग या रागिनी' के किसी एक विशेष नाम सहित छोटी-छोटी कविताओं द्वारा निर्मित एक प्रकार का दीवान है"[2]।** तासी को 'सूरसागर' का संभवतः फारसी अनुवाद प्राप्त हुआ होगा और अनुवादक ने उस अनुवाद में कई फारसी शैली के प्रतिमान समायोजित कर दिए होंगे। इसी प्रभाव के कारण तासी भी सूर की कविता की आलोचना करते हुए उर्दू आलोचना की शब्दावली का बहुतायत में प्रयोग करते हैं और हिंदी पदों तथा भारतीय संगीत के रागों की तर्ज पर लिखे गए संगीतपूर्ण पदों की तुलना ग़ज़ल विधा से करते हैं। जबकि दोनों का इस स्तर पर कोई विशेष साम्य नहीं है।

सूर की कविता जो अविरल चली आ रही कृष्णभक्ति धारा का देशीभाषा में परिमार्जित प्रतिरूप है। मौखिक परंपरा में जिसका प्रयोग (छाप या हस्ताक्षर) सभी मध्यकालीन कवियों ने किया है, उसी तरह सूरदास की कविताओं में भी मिलता है। लेकिन कविता में पाए जाने वाले इस छाप/ नाम/ हस्ताक्षर को गार्सा-दा-तासी उर्दू कविता का अनुकरण मानते हैं **"उर्दू कवियों के अनुकरण पर कवि का नाम अंतिम पंक्ति में आता है"[3]।** इस प्रकार गार्सा-दा-तासी की आलोचना दृष्टि पर उर्दू आलोचना का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है।

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-

[2]अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ- 412

[3] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -412

विशेषकर सूर के संदर्भ में उर्दू कविता के प्रतिमानों पर सूर की कविता का मूल्यांकन देखने को मिलता है।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन-

अध्याय की शुरुआत में कृष्णकाव्य की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की आलोचना के उस पक्ष पर विशेष ज़ोर दिया गया था, जिसमें वह कृष्णकाव्य और रामकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कृष्णकाव्य के प्रसार में आ रहीं बाधाओं को रेखांकित करते हैं। इससे इस काव्य की लोकप्रियता रामभक्ति काव्य के बरक्स कम रही। इन सभी बाधाओं का वर्णन करने के क्रम में ग्रियर्सन, कृष्णभक्ति काव्य के कथ्य की पतितता के संदर्भ में विचार करते हैं और कृष्णकाव्य के क्षेत्र और उसकी विशेषता का वर्णन करते हुए अष्टछाप के संबंध में लिखते हैं- **"गायों के गोष्ठ वाले देश ब्रज में, जहाँ कृष्ण ने अपना शैशव बिताया था, जहाँ उन्होंने गोकुल की गोपियों के साथ प्रेम लीलाएँ की थीं। कृष्ण संप्रदाय की जड़ स्वभावतः जड़ता के साथ सोलहवीं शती में यह उस कृष्णोपासक संप्रदाय के कवियों का गढ़ था जो वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ द्वारा प्रतिष्ठित हुआ"[1]।** जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन कृष्णभक्ति कविता के विकास में कृष्ण की लीलाभूमि मथुरा के आस-पास के ब्रजक्षेत्र, जहाँ से कृष्ण का सीधा संबंध था, में उपजना और वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ का इस काव्यधारा के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित करते हैं। विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित 'अष्टछाप' में ग्रियर्सन सर्वाधिक कुशल कवि सूरदास को मानते हैं। तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में सूर की कविता को देखें तो सूरदास के समय में अकबर का दरबार कविता और संगीत का प्रमुख केंद्र था। इसी कारण ग्रियर्सन जब इस समय की कविता का वर्णन करते हुए आलोचना करते हुए तानसेन और सूर को एक वर्ग में रखते हैं और तानसेन की संगीत दक्षता तथा प्रसिद्धि के कारण बताते हैं- **"इस वर्ग के एक और कवि का उल्लेख उनकी संगीत दक्षता और प्रसिद्धि के कारण किया जा सकता है। मैं तानसेन की ओर संकेत कर रहा हूँ, जो कवि होने के साथ-साथ अकबर का प्रधान दरबारी गायक भी था"[2]।** जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, तुलसीदास, सूरदास की तुलना करते हुए तानसेन को भी इसी श्रेणी में वर्णित करते हैं और प्रसिद्धि का कारण 'संगीत' और 'गायन' की कला को मानते हैं। स्पष्ट विभाजन के अभाव में

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-53
[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-53

ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में भक्तकवि और दरबारी कवि तानसेन (जो भक्त नहीं थे) को एक ही श्रेणी में स्थान देने का काम किया है।

कृष्णभक्ति काव्य ख़ासकर अष्टछाप के कवि जब कविता में संगीत का समायोजन कर रहे थे उसी समय अकबर के दरबार में भी कई असाधारण संगीतज्ञ थे। ग्रियर्सन, अकबर के दरबार और ब्रज की कविता को समसामयिक होने के कारण तुलनात्मक रूप से एक साथ आलोचना करते हैं। यहाँ प्रमुख आपत्ति यह हो सकती है कि एक तो तानसेन दरबारी कवि थे और किसी भी स्तर पर तानसेन की पहुँच या कहें तानसेन की कविता की पहुँच उस तरह जन सामान्य में नहीं थी जैसे भक्तकवियों की थी।

ग्रियर्सन के पूर्व एच.एच.विल्सन ने अपने ग्रंथ 'द रिलीजस सेक्टस ऑफ हिंदूज़' में इन कवियों का विवरण उपलब्ध कराया था। जिसे ग्रियर्सन अपने अध्ययन का आधार बनाते हैं विल्सन ने इस पुस्तक में अष्टछाप नाम के ग्रंथ की चर्चा की है। जिसे ग्रियर्सन उद्धृत करते हुए – **"अष्टछाप अर्थात् ब्रजभाषा साहित्य के सर्वमान्य आठ सर्वश्रेष्ठ कवि नाम से अभिहित थे। विल्सन तथा अन्य लोगों ने अष्टछाप नामक एक ग्रंथ की भी चर्चा की है जिनमें इन आठों कवियों का जीवन चरित है और एक समय में स्वयं मैं ऐसे किसी ग्रंथ में विश्वास करता था। लेकिन अब मैं समझ गया हूँ कि अष्टछाप का अभिप्राय इसी कवि सूची से है"[1]।** विल्सन जिस जीवनचरित की बात अपनी पुस्तक में करते हैं ग्रियर्सन ने अपनी आलोचना द्वारा ऐसी किसी पुस्तक के अस्तित्त्व को खारिज कर दिया और अष्टछाप को कवियों के नाम की सूची मात्र माना। सूरदास और अन्य कवियों के संबंध में प्रचलित ऐसी कई किंवदंतीपरक भ्रांतियों को ग्रियर्सन द्वारा ऐतिहासिकता की कसौटी पर परखने का कार्य किया गया इसमें प्रमुख रूप से सूरदास की ऐतिहासिकता,सूरदास के पिता, गुरु और दरबार का विश्लेषण करते हुए आलोचना में ग्रियर्सन ऐसा तथ्य प्रस्तुत करते हैं जो आज आलोचकों में स्वीकार्य नहीं हैं- **"सूरदास पर कुछ विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है। यह अपने पिता बाबा रामदास के साथ बादशाह अकबर के दरबारी गवैये थे"[2]।** सूरदास को ग्रियर्सन ने बादशाह अकबर का दरबारी गवैये के रूप में पहचान की जो आज निराधार कल्पना के रूप में घोषित हो चुका है।

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ- 88

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ- 91

तासी भारत से दूर बैठकर एक 'सूरदासी पंथ' और इनके अंधेपन की व्याख्या करते हैं और ग्रियर्सन सूर को अकबर का दरबारी कवि बता रहे हैं। इसके पीछे वह कोई ठोस प्रमाण या तर्क प्रस्तुत नहीं करते।

इस संदर्भ में वह आलोचकों तथा इतिहासकारों का परम्परानुसरण करने की उस प्रवृत्ति को ज़िम्मेदार मानते हैं जो परंपरा से हटकर नहीं सोच पाती हैं। अगर नए शोध द्वारा परंपरा से हटकर निष्कर्ष प्राप्त होते हैं तो वह परंपरा से चली आ रही बात के प्रतिकूल कोई स्थापना आ जाने पर उसकी स्वीकार्यता संदेह के घेरे में रखते है। ग्रियर्सन, अध्येताओं की इसी परम्पराजीविता को ध्यान में रख **"समकालीन भारतीय लेखक स्वतंत्र शोध की अपेक्षा परंपरा पर अधिक विश्वास करते हैं यह तथ्य इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। बाद के अंग्रेज़ एवं अन्य विदेशी लेखकों ने भक्तमाल का अनुसरण किया है और ग़लतफ़हमी कर गए हैं। क्योंकि हमारे पास सबसे बड़ी साक्षी स्वयं सूरदास की है, कि वह सारस्वत ब्राह्मण नहीं थे और इनके पिता न तो भिखारी थे और न गउघाट पर ही थे। यह ब्राह्मण नहीं बल्कि राजवंश के थे"[1]।** ग्रियर्सन, सूर की जीवन संबंधी सभी मान्यताओं को उलट उन्हें 'दरबारी कवि' तथा 'राजवंश' का स्थापित करते हैं। देशज स्रोतों के प्रति अविश्वास की चली आ रही मान्यताओं को एक झटके से ख़ारिज कर देने की राजनीति जिसमें ग्रियर्सन ने सूरदास के जीवनवृत्त को एक झटके में उलट दिया।

यह वृत्त जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के बाद किसी अध्येता द्वारा अनुसरित नहीं किया गया क्योंकि इसके पीछे वह न तो कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत करते हैं और न ही कोई तार्किक व्याख्या या विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण या इनके द्वारा स्थापित मान्यताओं की स्वीकार्यता न हो पाने के कारण ग्रियर्सन ने अध्येताओं को परम्पराजीवी कह दिया है। यह सर्वविदित है कि सूर की कविता में आधार कृष्णकाव्य है लेकिन जैसा आमतौर पर प्रचलित है कि सूरसागर, श्रीमद्भागवत का अनुवाद है। ग्रियर्सन इस संदर्भ में अपनी राय व्यक्त करते हैं- **"सूरदास ने सूरसागर में अनुवाद नहीं किया, उन्होंने श्रीमदभागवत का अनुवाद किया। वस्तुतः अनुवाद नहीं किया,सहारा लिया"[2]।** ग्रियर्सन उस कथातत्त्व पर अपनी आलोचना प्रस्तुत करते हैं जो भागवत और सूरसागर में समान रूप से मिलता है लेकिन इसे अनुवाद नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनुवाद अक्षरशः होता है, लेकिन यहाँ सूर ने केवल कथातत्त्व का सहारा लिया है। ग्रियर्सन द्वारा सूरदास की कविता की मौलिकता को स्थापित किया गया है।

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-91-93

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-96

ग्रियर्सन कविता में सूर का स्थान जब निर्धारित करने का प्रयास करते हैं तो उन्होनें अपने समक्ष तुलसीदास की कविता कसौटी के रूप में सामने रखी **"अपने देशवासियों द्वारा यह बाद वाले (सूरदास) तुलसी के साथ-साथ काव्यकला के परमपूर्णता के सिंहासन के अधिकारी समझे जाते हैं। लेकिन यूरोपीय आलोचक इस बाद वाले कवि तुलसी को ही सर्वश्रेष्ठता का मुकुट पहनाना चाहेंगे और आगरा के इस अंधे कवि को इससे नीचा, यद्यपि फिर भी बहुत ऊँचा स्थान देंगे"**[1]**।** भक्तिकविता में तुलसीदास और सूरदास का स्थान निर्धारित करते हुए ग्रियर्सन बहुत स्पष्ट है कि भारतीय पाठक इन्हें जरूर समान मान लें लेकिन यूरोपीय पाठक श्रेणीक्रम निर्धारित करते हुए तुलसीदास के बाद ही सूरदास को रखेगा।

इसका प्रमुख कारण रामभक्तिकाव्य और पाश्चात्य आलोचना अध्याय में ग्रियर्सन द्वारा तुलसीदास की लोकप्रियता विषयक टिप्पणियों में विस्तार से स्पष्ट किया जाएगा। तुलसीदास के काव्य में निहित नैतिक तथा पारिवारिक मूल्यों के साथ प्रेम और मित्रता का भाव ईसाइयत की नैतिकताओं और शिक्षाओं के ज़्यादा क़रीब है। फिर भी वह सूर का स्थान भारतीय लोगों की इस उक्ति के कारण जिसमें कहा गया **'सूर-सूर तुलसी ससी, उड़गन केशवदास'** के संदर्भ ग्रहण करते हुए कहते हैं **"भारतीय लोग इनको कीर्ति के सर्वोच्च गवाक्ष में स्थान देते हैं पर मेरा विश्वास है कि यूरोपीय पाठक आगरा के अंधे कवि की अत्यधिक माधुरी की अपेक्षा तुलसीदास के उदार चरित्रों को अधिक पसंद करेगा"**[2]**।** ग्रियर्सन भक्तिकविता की परंपरा में सूरदास के स्थान को कम नहीं आँकते लेकिन स्थान निर्धारण करते समय भारतीय मानस को नहीं बल्कि यूरोपीय मानस को ध्यान में रखते हैं और स्थापना के रूप में यह कहते हैं कि तुलसीदास काव्य की उदारता के कारण वह यूरोप के लोगों को ज़्यादा पसंद आएँगे।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज-

कृष्णभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि में इस बात को ग्रीब्ज के संबंध में उद्धृत किया जा चुका है, कि वह अपने अध्ययन में पूर्वी भारत के कवि विद्यापति के समकक्ष एक शताब्दी बाद के भक्तकवि सूरदास (पश्चिमी भारत) को स्थापित करते हैं। कृष्णभक्ति काव्य उपासना की स्थापना का श्रेय वल्लभाचार्य को देते हुए ग्रीब्ज उन्हें एक धार्मिक नेता के रूप में ज़्यादा महत्त्व देते हैं बजाय लेखक के। क्योंकि वल्लभाचार्य का लेखन क्या था? वह अभी प्रकाश में नहीं है। इतना

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-53

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-95

स्पष्ट है कि यह कृष्णोपासना के समर्थक थे और एक भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध थे। ग्रीब्ज ने इनके संबंध में लिखा **"हिन्दू धर्म का एक योग्य अध्येता और लेखक वल्लभाचार्य को हिन्दुत्त्व पर बहुत शताब्दियों से अत्यधिक घातक प्रभाव डालने वाले व्यक्ति के रूप में अभिहित करता रहा है। हिंदी में उनका प्रमुख ग्रंथ भागवत पुराण का भाष्य है"[1]।** वल्लभ द्वारा भागवत पुराण का भाष्य तथा उनके पुत्र द्वारा अष्टछाप की स्थापना, ब्रजभाषा में भगवतलीला की प्रेरणा सूरदास को देना जैसा कि एक किंवदंती में वर्णित है, के कारण इनका स्थान कृष्ण भक्तिकाव्य की धारा में महत्त्वपूर्ण है।

वल्लभाचार्य के समान विट्ठलनाथ का भी ब्रजभाषा में प्रसार प्राप्त कृष्णभक्ति काव्य के पल्लवन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। भले ही यह रचनाकार के रूप में विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं किए हैं, लेकिन इनके संरक्षण में कृष्ण की कविता करती हुई आठ वीणाएँ झंकृत हो उठीं। इसी को रेखांकित करते हुए विट्ठलनाथ को भी उतना ही महत्त्व प्रदान किया जितना वल्लभ को **"अपने पिता की भाँति ये ब्रजभाषा के लेखक थे किन्तु साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने स्वयं लिखने की अपेक्षा अन्य लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित करके बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त की"[2]।** ग्रीब्ज कृष्णभक्ति कविता ख़ासकर ब्रजभाषा के प्रसार के संबंध में कवियों से ज़्यादा इनका महत्त्व स्वीकार करते हैं। ग्रियर्सन ने इसी विषय में वल्लभाचार्य के संबंध में टिप्पणी करते हुए कहा वल्लभाचार्य का महत्त्व कविता लेखन के कारण नहीं बल्कि एक 'धार्मिक सुधारक' के रूप में ज़्यादा स्थापित है। जीवन से संबंधित कुछ किंवदंतियों को उद्घाटित करते हैं जिसके संबंध में उनका मानना है कि यूरोपीय विद्वानों को इन किंवदंतियों का विवरण सहज तथा सुलभ नहीं होगा।

ग्रीब्ज की आलोचना पर ग्रियर्सन का प्रभाव यहाँ पर देखा जा सकता है। वह ग्रियर्सन द्वारा कहे गए शब्दों को कुछ बदलकर प्रस्तुत करने का काम करते हैं।

सूरदास की एक पुस्तक 'सूरसारावाली' का वर्णन ग्रीब्ज करते हैं। ग्रीब्ज इस पुस्तक को सूरदास की पहली पुस्तक मानते हैं। इसे ग्रीब्ज विश्लेषित करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से एक विशाल ग्रंथ का संक्षेप या सारांश मानते हैं।

ग्रीब्ज, सूरसागर की रचना प्रक्रिया, उसके कथ्य, कवि के द्वारा चयन आदि पर विस्तार से बात करते हुए उसके मूल स्रोत श्रीमदभागवत की ओर इशारा करते हैं और साफ शब्दों में उसे अनुवाद न मानकर उसकी निर्माण प्रक्रिया को विवेचित करते हुए लिखते हैं- **"सूरसागर भागवत पुराण का न तो अनुवाद कहा जा सकता है न उसका सारांश। किन्तु सामान्य रूप से कहना यह है कि वह भागवत के संदर्भों की पुनर्रचना है"[3]।** सूरदास अपनी

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-70

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-70

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-71

भक्तिकविता में श्रीमदभागवत को आधार बनाकर कह रहे थे। हर पद में राधा-कृष्ण की वह लीला जिसे अन्य संदर्भों के साथ भागवत में खोजा जा सकता है लेकिन इस मूल आधार के बावजूद सूरदास की कविता में मौलिकता के प्रमुख कारणों की ओर ग्रीब्ज ध्यान आकृष्ट कराते हैं। सूर भागवत के प्रसंगों को कहीं संक्षेपित करते हैं, कहीं संवर्धित करते हैं। कुछ प्रसंगों को वह कथाक्रम से निकाल देते हैं और कहीं कुछ प्रसंगों को जोड़कर अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं। इस चयन और सम्पादन के साथ कथ्य का पुनर्कथन ही सूरदास की कविता में मौलिकता का कारण है और यहीं से सूर अनुवादक के बजाय मौलिक काव्य सृजनकर्त्ता की श्रेणी में आ जाते हैं क्योंकि चयन और सम्पादन का विवेक सूरदास की कविता के कथ्य को अग्रणी पंक्ति में खड़ा कर देता है।

सूरदास की कविता के विवेचन में आलोचकों के समक्ष पदों की संख्या, प्रक्षिप्तता की समस्या, परंपरा का प्रश्न मुख्य समस्या के रूप में सामने आते हैं। एडविन ग्रीब्ज भी इन समस्याओं के आलोक में सूरदास की कविता की पड़ताल करते हैं -**"कहा जाता है कि सूरदास ने एक लाख या सवा लाख पदों की रचना की है, लेकिन संप्रति जहाँ तक ज्ञात है ये पद अप्राप्त हैं। इसकी बहुत बड़ी संभावना है कि उनका अस्तित्त्व नहीं था। वास्तव में यह बहुत संभव है कि सूरदास द्वारा रचित बहुत से पद लिखे ही नहीं गए (मौखिक रूप में ही रह गए) और दूसरे जो हस्तलेख प्राप्त हैं वे प्रकाशित नहीं हुए"**[1]। एडविन ग्रीब्ज, सूर के पदों की संख्या विषयक किंवदंती को आधार मानकर यह विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वह स्पष्ट रूप से मानते हैं कि इस संख्या का कोई ठोस आधार नहीं है लेकिन वहीं जब उनका ध्यान मौखिक परंपरा की ओर जाता है तो वह यह मानकर आगे बढ़ते हैं कि पद बेशक इतनी बड़ी संख्या में न रचे गए हों लेकिन अभी सूरदास की जो कविता प्रकाश में है उससे कहीं ज़्यादा संख्या प्रकाश में नहीं है और संकलनकर्त्ताओं द्वारा अभी मौखिक परंपरा से संकलित नहीं की गई है।

हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि जिस समय ग्रीब्ज अपने इतिहास लेखन का काम कर रहे थे उस समय 'नागरी प्रचारिणी' सभा द्वारा (जिसके ग्रीब्ज स्वयं सदस्य थे) साहित्य की पांडुलिपियों का पाठानुसंधान का काम किया जा रहा था। इसका स्वाभाविक रूप से ग्रीब्ज की आलोचना पर प्रभाव लक्षित होता है क्योंकि बनारस में उसी समय विभिन्न कृतियों के पाठ/ मूल पाठ को लेकर बहस तेज़ थी।

मध्यकालीन कविता में प्रक्षिप्तता और पाठ संशोधन का प्रश्न एडविन ग्रीब्ज द्वारा प्रमुखता से सामने लाया गया। इसमें वह 'सूरसागर' की भी चर्चा करते हैं **"बहुत से श्रेष्ठ हिंदी ग्रंथों के संशोधन/शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का कार्य अभी बाक़ी है,यह हो सकता है कि बहुत सी स्थितियों में बहुत से ग्रंथों के सर्वथा शुद्ध कहे जाने वाले पाठों को प्रस्तुत करना**

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-71

असंभव और कठिन कार्य समझा जाए। मूल में न केवल पाठों की अभिवृद्धि ही मिली है बल्कि दुःखद प्रवृत्ति यह रही है कि प्रतिलिपिकार व्याकरण और उच्चारण आदि के अनुसार पाठों में संशोधन का भी प्रयास करते हैं"[1]।

पाठानुसंधान के संबंध में मुख्य रूप से निम्न बातें ग्रीब्ज इंगित करते हैं-

1. पाठानुसंधान एकदम शुद्ध रूप से असंभव सा है, इसे कठिन काम समझा जाए।
2. एडविन ग्रीब्ज पांडुलिपि या मौखिक परंपरा से प्रतिलिपि करने वाले प्रतिलिपिकार की भूमिका को भी इसमें निर्धारित करते हैं।

क्योंकि उसके पास जो गायकों का लोक में प्रचलित मौखिक परंपरायें जो विभिन्न क्षेत्रों/भाषाई क्षेत्रों में फैली हुई हैं, इनसे जब प्रतिलिपिकार, प्रतिलिपि करता है तो अपने विवेक के अनुसार संशोधन कर लेते थे और यह कई स्थानों पर एक साथ घटित हो जाने के कारण एक रूप में प्राप्त नहीं होतीं। क्योंकि किसी भी कवि कि कविता का प्रतिलिपिकार एक ही नहीं रहा और इन प्रतिलिपियों की ज़्यादा संख्या तथा एकरूपता का अभाव हमें कविता और कवि दोनों के मूल से ज़्यादा दूर करती जाती है।

ग्रीब्ज मूल्यांकन करते हुए सूर की कविता को तुलसीदास की लोकप्रियता के सम्मुख विश्लेषित करते हैं तो उसकी विशेषता जिसमें संगीतात्मकता/माधुर्य की प्रचुरता है। लेकिन वह कहते हैं- **"तुलसीदास से पृथक सूरदास का स्थान हिंदी साहित्य में निःस्संदेह सर्वोच्च होता किन्तु जो भी हो एक वास्तविक कवि की योग्यता और व्यापक प्रभाव दोनों को तुलसीदास ने एक विशाल जनसमुदाय में प्रदर्शित किया। इस कारण उनका स्थान निःस्संकोच प्रथम है। केवल सूर के अनुगामियों और कृष्णसंप्रदाय के अन्य प्रमुख लोगों के मध्य शायद यह कथन संदेहास्पद हो सकता है"[2]।** सूरदास का नाम 'सुरजचन्द' बताते हुए जब ग्रीब्ज साहित्य में स्थान निर्धारण करते हुए अपना मूल्यांकनपरक विवेचन प्रस्तुत करते हैं तो विशाल जनसमुदाय में स्वीकार्यता और कविता में प्रभाव के कारण तुलसीदास को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हैं।

यहाँ पर एडविन ग्रीब्ज की मान्यताओं में जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है जहाँ वह सर्वोच्चता की किसी कसौटी के लिए तुलसीदास की कविता को मानक के रूप में प्रयोग में लाते हैं। एक ओर तुलसीदास हैं जो राम का अतिशय वर्णन अपनी कविता के माध्यम से कर रहे थे उसी प्रकार कृष्ण की सेवा को कविता के रूप में प्रस्तुत करने का काम सूरदास के द्वारा किया जा रहा था। इन दोनों कवियों के वर्ण्य विषय और काव्य सजगता का तुलनात्मक रूप से अध्ययन करने पर बिना किसी आश्चर्य के स्थापना प्रस्तुत करते हैं

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-71

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-70

"तुलसीदास की कल्पना सूर की अपेक्षा बहुत उच्च कोटि की थी राम और पतिव्रता सीता, कृष्ण और उनकी स्वामिनी राधा की अपेक्षा अधिक प्रेरणा देने वाले हैं"[1]। ग्रियर्सन द्वारा प्रतिपादित कृष्णभक्ति के संबंध में जो विद्यापति की कविता का उदाहरण ग्रहण करते हुए हेयता की दृष्टि से देखा गया। उसका परिणाम यह हुआ कि कृष्णभक्ति काव्य को आगे की परंपरा में आने वाले इतिहास लेखकों/ आलोचकों द्वारा भी दोहराया गया।

यह मूल्यांकन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की उसी स्थापना के समकक्ष है जहाँ वह सूर की कविता में लोकरंजन का पक्ष तथा तुलसीदास में लोकमंगल का पक्ष देखते हैं। लोक की मर्यादा का संरक्षण करने वाली कविता, तुलसीदास की कविता को मानते हैं। ग्रियर्सन भी सूरदास की कविता में 'संगीतात्मकता' के पक्ष को ज़्यादा उद्धृत करते हैं **'आगरे के अंधे कवि की अत्यंत तृप्तिदायक माधुरी'** ग्रीब्ज भी इनकी कविता में माधुर्य तो पाते हैं। लेकिन तुलसी की कविता की तरह जन-मन में ठोस पकड़ का अभाव महसूस करते है। मानस की मर्यादा और कथा में वर्णित नैतिकता लोक को बाँधकर रखती है- **"सूर में तुलसी की शक्ति और ठोस पकड़ का अभाव है। यद्यपि सूर के बहुत से पद संगीतात्मक माधुर्य से पूर्ण हैं। संभवतः हिंदी के किसी कवि ने इतनी अधिक रचनाएँ नहीं की जो आनंददायिनी हों। संगीत की तरंगों से पूर्ण और अर्थप्रभा से मंडित हों"[2]।** संगीत, माधुर्य, अर्थप्रभाव के बावजूद भी रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज निस्संदेह सूर की तुलना में तुलसीदास की कविता को उच्च स्थान प्रदान करते हैं।

एफ. ई. केई-

एफ. ई. केई कृष्णभक्ति काव्य के प्रसार के लिए सबसे ज़्यादा ऋणी वल्लभाचार्य को मानते हैं। उन्होंने ब्रज को केंद्र बनाकर इस भक्तिशाखा के विकास में बहुत ज़्यादा योगदान दिया। वल्लभाचार्य के इसी योगदान को रेखांकित करते हुए **"इनके द्वारा प्रणीत आंदोलन के अनेक हिंदी लेखक उत्पन्न किए। हिंदी में जबकि इनकी कोई रचना नहीं है"[3]।** कृष्णकाव्य के विकास और उसमें वल्लभ के योगदान को रेखांकित करते हुए इस युक्ति को लगभग सभी आलोचकों ने दोहराया है और वल्लभाचार्य तथा अष्टछाप (विट्ठलनाथ) की भूमिका को स्थापित करने का काम किया है।

कृष्णसंप्रदाय ने ब्रजभाषा को उत्कृष्टतम काव्यभाषा के रूप में स्थापित किया। केई का मानना है कि सूरदास की प्रतिद्वंदिता कृष्णदास पयहरी से थी। अष्टछाप के कवियों में सूरदास का स्थान केई अपने इतिहास में सबसे महान मानते है। लेकिन केई ने ग्रियर्सन द्वारा सूरदास

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-72

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-72

[3] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ-78

को राजवंश का बताए जाने वाली स्थापना से इतर अपनी स्थापना प्रस्तुत की और इन्होंने अपनी स्थापना में सूर को ब्राह्मण वंश का कवि बताया।

4.4 – सूरदास का काव्य और स्वतंत्र पश्चिमी आलोचक -

जॉन स्ट्रैटन हौली

जॉन स्ट्रैटन हौली की आलोचना में कबीर के संबंध में चर्चा करते हुए भी हमने देखा कि वह अपनी आलोचना में पाठानुसंधान पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। इसके पीछे हौली का मन्तव्य यह रहता है कि पाठ का सही निर्धारण हो जाने के बाद, जब काव्य का मूल्यांकन होगा तो हम कवि की मूल काविता के ज़्यादा नजदीक होंगें। 'केनेथ ब्रायंट' के साथ मिलकर हौली ने सूर के पदों की प्रामाणिकता और पाठ निर्धारण पर काम किया है। कविता की मौखिक परंपरा जो कई शताब्दियों से चली आ रही थी उसमें एक समय के बाद कविता के स्वरूप में बदलाव आ जाता था। जिस कारण हर शताब्दी में कवि का रूप अलग-अलग होता है। यह मौखिक परंपरा के हर मध्यकालीन कवि पर लागू होता है।

प्रामाणिकता पर जोर देते हुए हौली हिंदी साहित्य के उस चलताऊ ढर्रे पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं, जिसमें तत्काल में हुए नए अध्ययन तथा खोज को स्थान न देकर संशय की नज़र से देखने तथा उस पर अविश्वास करने का काम अकादमिक जगत द्वारा किया जाता है। हिंदी के अध्येताओं द्वारा पाठानुसंधान की प्रक्रिया में अपनाई जा रही लापरवाही और अवैज्ञानिक प्रविधि पर भी हौली प्रश्नचिह्न लगाते हैं। **"सूरदास को लेकर हुए अध्ययनों में भी कुछ यही बात पाई जाती है। कबीर के मामले की तरह सूरदास रचित मानी गई कविताओं का जो संकलन सूरसागर (1936-48) नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। वही संदर्भ बना हुआ है . . . . इसके अलावा प्रभात की तरह माताप्रसाद गुप्त भी संपादकीय निर्णय करते समय प्रारम्भिक पांडुलिपियों को प्राथमिकता देने के लिए कुछ नहीं करते, बल्कि वे अपनी 40 पांडुलिपियों को पाठ के समान विकृतियों के अनुसार वर्गीकृत करते हैं और कहते हैं, जब पांडुलिपियों में फ़र्क़ हो तब जिन पांडुलिपियों के पाठ को ज़्यादा समूहों मसलन तीन में से दो का समर्थन प्राप्त होगा, उन्हें प्राथमिकता दी जाएगी। दूसरे मामलों में उनका कहना है कठिन की जगह सरल पांडुलिपियों को प्राथमिकता दी जाएगी"[1]।** हौली इस पाठानुसंधान पद्धति को प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि इसमें वैज्ञानिकता कम और संभाव्यता तथा सरलता को आधार बनाने का काम ज़्यादा किया गया है। हौली 'छाप और हस्ताक्षर' से बाद में कविता निर्माण की जो प्रक्रिया मध्यकाल में चली, पाठानुसंधान की इस प्रविधि द्वारा इन पदों को अलगाने का कोई

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ- 26

समाधान नहीं पाते हैं। वह सूर का प्रसिद्ध पद **"यह पता लगता है कि उनकी अत्यधिक लोकप्रिय कविता 'मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो' . . . 16 वीं सदी की पांडुलिपियों में कहीं नहीं मिलती। सूर के मामले में ख़ासतौर से महत्त्वपूर्ण बात है। क्योंकि मीरांबाई के विपरीत उनकी स्थिति ऐसी है, कि हमें उनकी कई प्रामाणिक पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं"[1]।** महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हौली ने जिस पद को सूरदास द्वारा रचित नहीं बताया है, हिंदी साहित्य और आलोचना में उस पद के बिना सूर की कल्पना नहीं की जा सकती है। सूरदास की कविता हो या मीरांबाई की, हौली में पाठानुसंधान के अस्वीकार का अतिरेक पाया जाता है। क्योंकि अगर 16 वीं सदी की पांडुलिपि में यह प्रसिद्ध पंक्ति दर्ज नहीं की गई, तो क्या इस बात की संभावना व्यक्त नहीं की जा सकती है कि हौली को पूरी पांडुलिपि ही न प्राप्त हुई हो। हौली एक *'सूरपरंपरा'* के अस्तित्व की बात को स्वीकारते हैं और अध्ययन के लिए सूर को अप्रासंगिक नहीं मानते। अब यहाँ विरोधाभास यह है कि जब सूरदास की एक परंपरा थी तो मूल सूरदास या एक व्यक्ति के रूप में सूरदास को कैसे खोजा जा सकता है? आलोचना या पाठालोचना दोनों में वह जोर इसी मूल सूरदास पर देते हैं।

भारतीय पाठक का मानस हौली की इस अवधारणा जिसमें इस प्रसिद्ध पद का सूरदास द्वारा रचित न होना स्थापित किया गया है, एकदम से अस्वीकार कर देता है। हौली इस अस्वीकरण को रेखांकित भी करते हैं, लेकिन अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए यह भी स्पष्ट करते हैं **"दुर्भाग्य से मैं इसे तब तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक मुझे अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीयता तिथि वाली ऐसी पांडुलिपि ना मिल जाए, जिसमें यह पद शामिल हो"[2]।** हौली का यह आग्रह उचित है कि जो पद इतना सुपरिचित और प्रसिद्ध है, वह किसी पुरानी पांडुलिपि में प्राप्त क्यों नहीं होता है? इसी आधार पर वह उसे 'सूर परंपरा' द्वारा बाद में रचित मानते हैं।

हौली, सूर के बाद सूर के नाम से किए जा रहे फ़र्ज़ीवाड़े को उजागर करने का काम अपनी आलोचना द्वारा करते हैं वह इसके लिए 'कुख्यात' पद का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं - **"20 वीं सदी में ऐसे कुछ कुख्यात उदाहरण मिलते हैं कि कुछ शोधकर्ताओं ने ऐसी पांडुलिपियाँ प्रस्तुत करने की कोशिश की जिनके बूते इस समस्या का समाधान हो जाए। ऐसी पांडुलिपियाँ प्राचीन तिथियों की थीं, जिनमें वे तमाम कविताएँ शामिल**

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--27

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--28

थीं जिन्हें आज के पाठक पढ़ना चाहेंगे"[1]। इस प्रकार के प्रयासों ने पाठानुसंधान के अध्ययन को दिग्भ्रमित करने का काम किया। क्योंकि इन पांडुलिपियों के फ़र्ज़ीवाड़े के कारण उन आलोचकों के पास तर्क प्रस्तुत करने के लिए उदाहरण उपलब्ध हो गए जो नए अध्ययनों को आस्थावश स्वीकार नहीं कर पाते थे और सूरसागर {मूल}में सवा लाख पदों का होना मानते थे।

ब्रायंट ने पाठानुसंधान करते हुए सूर के पदों की उस तकनीक को समझने का प्रयत्न किया जो उनकी विशेषता थी। वह सूर को 'सिद्धहस्त कवि' के रूप में मानते हैं। यह निपुणता, विरोधाभास, गुमराह करने तथा विकर्षण फैलाने सभी क्षेत्रों में है ब्रायंट उस तकनीक को समझते हुए **"गहराई में जाकर देखा जाए तो सूर की कोई भी कविता शब्द दर शब्द और पद दर पद विकसित होती है और इस प्रक्रिया से रचनाकार/वाचक की मंशा प्रकट होती है। जो कि उसके इस एहसास से बनती है कि सुधी श्रोता किस चीज की अपेक्षा रखते हैं या किस चीज की नहीं रखते हैं"[2]।** ब्रायंट यहाँ पर सूर की कविता की वाचिक परंपरा में उस युक्ति से मिलती-जुलती युक्ति के प्रयोग की बात को रेखांकित कर रहे हैं जिसे '**इम्प्रूवाईजेशन**' के नाम से नाटक की आलोचना में जाना जाता है। वहाँ दर्शकों की मंशा और उत्साह तथा रुचि को देखते हुए दृश्यों के मंचन को घटाया या बढ़ाया जाता है। ब्रायंट, सूरदास की कविता में गायकों द्वारा इसी प्रक्रिया द्वारा विभिन्न प्रसंगों को समय-समय पर श्रोताओं की रुचि के कारण भिन्न-भिन्न आकार प्रदान किया गया।

इसमें सबसे बड़ी बाधा हमारे परंपरागत पूर्वग्रह आते हैं, जो यह मानने को तैयार नहीं होते हैं कि पाठानुसंधान के बाद सूर के पदों का जो रूप हमारे सामने आता है वह सूरदास का ही है। **"हम यह सोचने के आदी हो चुके हैं कि सूरदास ने इतना सारा लिखा है कि उसकी तुलना सागर से की जा सकती है। सबसे बड़ी पांडुलिपि में लगभग दस हजार पद हैं। लेकिन पता चलता है कि इनमें से केवल 433 पद ही ऐसे हैं जो पद उस सदी के हैं, जिनमें खुद सूरदास जीवित थे हो सकता है कि सूर का सागर वास्तव में एक नदी हो। इसकी शुरुआत 16 वीं सदी में छोटी तथा ताज़गी भरी धारा के रूप में होता हो, जो बाद में विशाल हो जाती है और कभी-कभी सुस्त सहायक नदियों के रूप में दिखती है जिनका उद्गम दूसरी सदियों में हुआ है और उन्होनें मुख्यधारा में कुछ कविताएँ जोड़**

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--31

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--32

दीं"[1]**।** पूर्वग्रह और समय के साथ सूरपरंपरा द्वारा सूर की पदों की संख्या का लगातार विस्तार सूरकाव्य के पाठानुसंधान में बाधा के रूप में केनेथ ब्रायंट के सामने आती है और यह समस्या अकेले सूरदास की कविता में नहीं, अपितु मध्यकाल के काव्य के समस्त मौखिक काव्य में है।

सूरदास का किसी पंथ से सम्बद्ध न होने की बात किस आधार पर हौली ने की, यह समझ नहीं आता, न ही इसका कोई प्रामाणिक आधार वह प्रस्तुत करते हैं। मान्य मान्यता और आलोचना में सूरदास वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में दीक्षित और विट्ठल के अष्टछाप की प्रमुख वीणा थे। फिर हौली द्वारा सूर को 'संप्रदाय निरपेक्ष' कवियों के रूप में देखने के पीछे के कारण समझ नहीं आते तुलसी, मीरांबाई और सूरदास को विशेष श्रोता तथा पाठकवर्ग से जोड़ते हैं **"यद्यपि सूर, मीरां, तुलसी के अपने विशेष श्रोता-पाठक हैं लेकिन उन्हें मुख्यतः किसी एक पंथ या संप्रदाय से जोड़कर नहीं देखा जाता और न ही इन तीनों में से किसी को संस्थानात्मक तौर से गुरु की तरह ही पूजा जाता है। वैसे पंथवादी दायरों से बाहर और कभी-कभी तो इसके भीतर भी भक्तिकाल के अन्य कवियों के नाम उतने ही सम्मान से लिए जाते हैं, जितने सम्मान से रविदास, नानक और कबीर के लिए जाते हैं"**[2]**।** भक्तकवियों की उपासना भूमि भले ही अलग-अलग थी लेकिन इनके मध्य कविता में एक सहज संवाद था। इसका अध्ययन निर्गुण-सगुण विभाजन के ऐतिहासिक आधारों को तलाशने के क्रम में भी किया गया। यह सहज संवाद, पंथ तथा संप्रदाय की सीमाओं का अतिक्रमण करता था। हौली विशेष रूप से इस एकात्म स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करते हुए इसके प्रभाव को भी रेखांकित करते हैं और इन भक्तकवियों को उत्तर भारत के लोगों की आत्मचेतना का प्रतिनिधित्व करने वाला बताते हैं। इस आत्मचेतना का प्रसार वह भारत ही नहीं बल्कि भारत के बाहर भी व्याप्त होना स्वीकार करते हैं। **"भक्तिकाल के तीनों कवि मीरां, सूर, कबीर इन कवियों की इस आत्मचेतना का कुछ अंश तो बेहद रौशनी फैलाने वाला है मेरा ख्याल है कि इसमें से कुछ ऐसा भी है जो स्थिर रह सकता है और बहुत सारा ऐसा है जो खुद भारत की सीमाओं के पार प्रतिध्वनित हो रहा है, न केवल विदेश में बसे भारतीयों के बीच बल्कि मानव जीवन से जुड़े कई गहरे सरोकारों में भी"**[3]**।** भक्तिकविता की जिस अंतर्वर्ती धारा का प्रवाह हौली उत्तर भारत की आत्मचेतना को प्रभावित करने वाला बताते हैं, वहाँ पर संप्रदाय या पंथ की सीमा टूट जाती है। वहाँ संवाद के माध्यम

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-39

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--49

[3] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--42

से सब एक-दूसरे से ग्रहण करते हैं तथा जहाँ जिन बिंदुओं पर अस्वीकार्यता है, वहाँ भी एक स्पष्टता देखने को मिलती है और इसी समन्वय और संवाह का प्रभाव मानवीय सरोकार के कारण आज तक है।

सूरदास, वल्लभ संप्रदाय में अवश्य दीक्षित थे, लेकिन क्या यह कहा जा सकता है कि उनकी कविता का दायरा केवल वल्लभ संप्रदाय तक ही सीमित था या है? क्या कबीर की कविता का क्षेत्र केवल कबीर पंथियों तक ही सीमित किया जा सकता है? क्योंकि जो सूरपरंपरा बाद में सूरदास जैसी कविता करने का प्रयत्न कर उनके हस्ताक्षर का उपयोग करती है, वह किसी संप्रदाय विशेष के कारण नहीं बल्कि सूरदास की सार्वभौमिक स्वीकार्यता के कारण ही संभव हो पाया। यह परंपरा विकसित हुई और विविध स्वरों के सम्मिलन के बाद भी उसमें रचनाकार के नाम की बजाय सूर के नाम की छाप मिलती है।

हौली, सूर की कविता के संबंध में एक वर्ग का ज़िक्र करते हैं जिसे वह '**बिचौलिया वर्ग**' के नाम से आलोचना मे स्थान देते हैं। इस बिचौलिया वर्ग में गायक और संपादक शामिल हैं। यह गायक और संपादक सूरदास की कविता से मिलते जुलते स्वरों को भी सूर के नाम की छाप लगाकर बेच देते थे। **"यह समझने के लिए सूर सरीखे कवियों की रचना परंपरा को आगे बढ़ाने में बिचौलियों की भूमिका में गौर करना होगा। इन बिचौलियों में गायक और सूरसागर के संपादक शामिल हैं"[1]।**

जिस सूरदासी परंपरा का पहले वर्णन किया जा चुका है, वह नेत्रहीनों को सूरदास कहने के पारंपरिक प्रचलन के कारण कल्पित कर ली गई। हौली, सूरदासी परंपरा के प्रसार में एक प्रक्रिया की संभावना व्यक्त करते हैं, जिसमें बाद वाले सूरदास अपने पूर्व के सूरदास को श्रद्धांजलि स्वरूप पद रचना कर अर्पित करने का काम करते हैं। हौली हस्ताक्षर और छाप के संबंध में विचार करते हुए इस प्रक्रिया को दोहराते हैं, लेकिन यह प्रक्रिया अकेले सूर से संबंधित नहीं है। वह मध्यकाल के प्रत्येक कवि की रचनाओं में चाहे वह पंथगत हो या न हो इसका प्रभाव तथा कवि की कविता के प्रसार में महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में स्वीकार करते हैं।

हौली ने जिस संपादित सूरसागर को उदाहरण के तौर पर लिया है वह 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित और माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित किया गया है। उसमें संपादक ने सूर के छाप वाले समस्त पदों को स्थान दे दिया है। इसका मुख्य दोष हौली इसमें संकलित कविता का मूल स्वर/ मर्म सूर के मूल मर्म से मिलता है या नहीं मिलता, यह समझे बिना ही संपादक द्वारा सूरदास के नाम से संकलित कर दिए गए हैं। कविता की परिशुद्धि करने का काम किए

[1]- अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-50

बिना ही संकलित करने का काम 'माताप्रसाद गुप्त' ने किया। हौली का मानना है कि पश्चिम में पाठानुसंधान करने के लिए जो प्रविधि अपनाई जाती है यदि इन प्रतिमानों को इस सम्पादन पर लागू कर दिया जाए, तो **"सूरदास के नाम में वह जादू है कि पाठालोचना के पश्चिमी सिद्धांतों से थोड़ा भी परिचय रखने वाले आधुनिक संपादक की सूर के नाम से रचित कई कविताओं को अप्रामाणिक बताकर उन्हे दरकिनार करने से परहेज करते हैं"[1]।** हौली के इन पाठानुसंधान के टूल्स की पहले भी चर्चा की गई है और यहाँ भी। वह माताप्रसाद गुप्त की पाठानुसंधान प्रविधि से घोर असहमति दर्ज कराते हैं। लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि जिस पश्चिमी पाठानुसंधान प्रविधि को हौली प्रस्तावित करते हैं, क्या वह प्रविधि भी प्रासंगिक होगी?

सूरदास की कविता का जब अध्ययन करते हैं तो वह किसी एक कथा का क्रमशः अनुसरण नहीं करती है, अपितु हर एक पद अपने दर्शन/ भक्ति / विरह/ दास्य के भाव के साथ स्वतंत्र रूप से विद्यमान रहता है। हौली इस कविता की इस बेतरतीब छवि और आकस्मिक ढंग से लिखी जाने वाली कविता के संबंध में **"इसके बदले हमें सूर की एक ऐसी छवि हासिल होती है कि वे एक सम्पूर्ण क्रमवार कोश के रचयिता थे। वे सूरसागर के उस संस्करण के रचयिता लगते हैं जो वार्त्ता के समय उपक्रमबद्ध था"[2]।** वार्त्ता में सूर के पदों की नकल है तथा यह क्रमशः एक कथा विन्यास का निर्माण और आपस में पूर्वापर संबंध को पुष्ट करती है।

सूरदास अपनी कविता में जिस कलात्मकता के साथ बिम्बात्मक प्रस्तुति करते हैं, ख़ासकर चाक्षुष बिंबों द्वारा, उन प्रसंगों पर हौली द्वारा प्रश्नचिन्ह लगाने का काम किया गया है और आलोचनात्मक रूप से इसे एक बड़े प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया है। कि सूरदास ने आख़िरकार ऐसी कविताएँ कैसे लिखीं, जिसमें इतने चाक्षुष विवरण हैं? और एक प्रश्न उभरकर सामने आया कि क्या सूरदास किसी को धोखा दे रहे थे? हौली इस प्रकरण के निराकरण के लिए एक अध्याय ही प्रस्तुत करते हैं। कैसे बने सूरदास? जिसमें प्रथमतया हौली लोक में प्रचलित उस धारणा को सामने लाते हैं जिसमें सूर की पहुँच दैवीय क्षेत्र में थी। जिस कारण वह अंधे होने के बावजूद भी ऐसा वर्णन कर सके थे।

द्वितीय पक्ष यह सामने आता है कि उम्र के एक पड़ाव तक वह सबकुछ देख पाते थे और इसी कारण वह अनुभव जो पूर्व अर्जित था, उन बिंबों की रचना करने में सहायक था, जो

---

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--51

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ--58

सूरसागर में वर्णित हैं। हौली इसका प्रमाण नाभादास के भक्तमाल से प्रस्तुत करते हैं - **"नाभादास जब सूर की बात करते हैं तब वे उनकी नेत्रहीनता को नहीं मानते बल्कि उनकी कविता की उत्कृष्टता को केंद्र में या दाएँ -बाएँ रखते हैं . . . . एक उत्सुकतापूर्ण कहावत हम यह सुनते हैं कि सूर को संभवतः दिव्यदृष्टि प्राप्त थी इसका अर्थ तो यह नहीं लगाया जा सकता कि वे नेत्रहीन थे"[1]।** इन तीनों महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं में से किसी एक को भी स्वीकार या अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रमाण के अभाव में संभाव्यता का पक्ष सबमें बराबर है।

कविताओं के भिन्न-भिन्न रचना समय के आधार पर सूरदास की नेत्रहीनता पर विचार किया है। हौली कुछ कविताओं को बहुत बाद का मानते हैं। क्योंकि सूरसागर के पुराने संस्करणों में कोई नेत्रहीन कवि नहीं उभरता और अगर वे जन्म से नेत्रहीन कवि थे तो यह संभव ही नहीं था कि सूरसागर के पुराने संस्करणों विशेषतः जो सूर के मौजूदगी के समय या ठीक बाद लिखे गए थे, उनमें सूर की अंधता के संबंध में कोई वर्णन न आता।

क्या नेत्रहीनता की बात को ख़ारिज किया जा सकता है? फिर पूर्व की उन अवधारणाओं का क्या जिनमें 'सूरदासी' पंथ की बात आलोचकों द्वारा सूरदास के संबंध में स्वीकार की गई है, जिसका सीधा संबंध अंधता से है। इसे प्रमाणों के अभाव में स्थापित नहीं किया जा सका कि यह परंपरा थी या नहीं थी लेकिन आलोचकों के इस पक्ष को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है। इसी में एक अलग विधा की कविता हौली को प्राप्त होती है और वह सूरदास के संबंध में आध्यात्मिक नेत्रहीनता की परिकल्पना कर लेते हैं। 'विनय के पद' श्रेणी नाम से मशहूर इस पद में जिस नेत्रहीनता का ज़िक्र है वह शारीरिक नहीं मानसिक है। लेकिन पद की दो पंक्तियाँ जिनमें **"नैननि अंध सुनत नहीं श्रवनि, थाक्यो चरन समेत"** में भी कुछ भी स्पष्ट नहीं हो रहा और वह तो बिल्कुल ही नहीं जिस आध्यात्मिक अंधता की ओर हौली इशारा कर रहे हैं। वह इस विश्लेषण के बाद यह स्थापित करने का प्रयास करते हैं **"यह कल्पना की जा सकती है कि सामान्य दृष्टि रखने वाला कवि विश्वदृष्टि का वरदान माँग रहा हो, ताकि भगवान को नई दृष्टि से देख सके"[2]।** जो भी हो इसे कल्पना तक ही सीमित रखा जा सकता है।

यह हौली का मानना है कि गुरु के रूप में वल्लभाचार्य का वर्णन सूरदास ने नहीं किया है और वह संप्रदाय में वल्लभ-सूर संबंध पर भी प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। इस प्रकार साहित्य-जगत

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-143

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-149

और इतिहास जिस सूर को जानता है वह वल्लभ के शिष्य न रहे हों। हौली की इस स्थापना की पुष्टि में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। हौली द्वारा इन दोनों को अलग मानने की बात को कल्पना द्वारा प्रस्तुत कर दिया गया है। सूरदास और अकबर की भेंट को हौली ऐतिहासिकता प्रदान करते हैं,और उसे जनश्रुति और किंवदंती से आगे बढ़ा प्रतिपुष्ट करने का उपक्रम करते हैं।

4.5- मीरांबाई का काव्य और पाश्चात्य हिंदी साहित्येतिहास-

गार्सा-दा-तासी-

गार्सा-दा-तासी अपने इतिहास ग्रंथ में मीरां या मीरांबाई के संबंध में चर्चा करते हैं, इन्होंने इसमें तथ्यात्मक रूप से भले ही इतिहास की प्रामाणिकता का परिचय नहीं दिया। लेकिन कई महत्त्वपूर्ण शुरुआती जानकारियाँ मीरां के संबंध में, मीरां की कविता के संबंध में हमें यहाँ से प्राप्त होतीं हैं। तासी के ऐतिहासिक सीमाओं का और इतिहास लेखन की प्रविधि का पहले ही ज़िक्र किया जा चुका है।

मीरां के संबंध में भी तासी, सूरदास की तरह 'विष्णुपद' की उपासक पद का प्रयोग करते हैं, इसका कारण यह है कि वह कृष्णभक्त या रामभक्त के किसी विभाजन के पूर्व भक्ति के वैष्णव स्वरूप को रेखांकित करते हैं- **"भगतनी मेड़ता के महाराणा या महाराजा की पुत्री विष्णु की पराम उपासिका थी"[1]।** तासी के भक्तिविषयक वर्णन में वैष्णवता का पक्ष प्रमुख है, वह अपने अध्ययन में जिन आधारों का अध्ययनों में उपयोग प्रमुखता से करते हैं, उनमें नाभादास का 'भक्तमाल' और कर्नल टॉड का 'राजस्थान' प्रमुख है। ऐतिहासिक रूप में इन दोनों ग्रंथों में मीरां की उपस्थिति के समय के संबंध में बहुत अंतर है। भक्तमाल मीरां को अकबर का समकालीन ठहराता है और कर्नल टॉड का अध्ययन मीरां के "संबंध में उसे हुमायूँ के प्रतिद्वंदी की माँ के रूप में वर्णित करता है- **"मीरां हुमायूँ के विपक्षी विक्रमजीत की माँ थी"[2]।** तासी, मीरां के समय के संबंध में कोई निष्कर्ष रूप से स्थापना प्रस्तुत नहीं करते हैं बल्कि वह इन दोनों स्थापनाओं को वर्णित कर छोड़ देते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस प्रकार एच. एच. विल्सन, सूरदास के 'सूरदासी पंथ' की मान्यता को कल्पित कर स्थापित करने का प्रथम प्रयास करते हैं और बाद के इतिहासकारों द्वारा इस अवधारणा को विल्सन के प्रभाव में उद्धृत किया जाता रहा।

ठीक इसी प्रकार मीरां के संबंध में एक अवधारणा की परिकल्पना तासी द्वारा की जाती है। **"स्त्री संत के रूप में वे उन्हीं का नाम धारण करने वाले मीरांबाइयों के संप्रदाय की संरक्षिका हैं"[3]।** मीरां के किसी संप्रदाय में दीक्षित होने के स्पष्ट प्रमाण अब भी प्राप्त नहीं हैं लेकिन तासी, मीरांबाई को एक संप्रदाय का प्रवर्त्तक बताया गया है। इस संदर्भ में वह अपने इतिहास ग्रंथ में लिखते हैं **"कवियित्री के रूप में उन्होंने उनके संप्रदाय द्वारा गाए जाने वाले भजनों की रचना की है, जो टॉड के अनुसार -जयदेव कृत गीतगोविंद की समता**

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-317

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -317

[3] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-317

के हैं"[1]। मीरां को भक्तिकाल की एकमात्र स्त्री-स्वर के रूप में पहचाना जाता है लेकिन तासी यहाँ इससे इतर दूसरी ओर भी इशारा करने का काम अपनी आलोचना में कर रहे हैं।

वह मान रहे हैं कि मीरां का एक संप्रदाय था, जिसके लिए मीरां भजनों की रचना करती थीं। तो क्या प्रश्न यह नहीं बनता कि- जिस संप्रदाय की प्रवर्तक मीरां थीं ,उसमें स्त्री-पुरुष दोनों का प्रवेश था या सिर्फ संप्रदाय में प्रवेश की अनुमति केवल स्त्रियों को थी?

मीरां की किसी संप्रदाय से सम्बद्ध होने की बात अध्ययन द्वारा ख़ारिज हो चुकी है और मीरां को भक्तिकाव्य की 'संप्रदाय निरपेक्ष' रचनाकार के रूप में स्थान दिया जाता है। लेकिन तासी ने अपने अध्ययन द्वारा जो स्थापित किया उसमें ऐतिहासिकता का अभाव और इतिहास बोध की कमी लक्षित की जा सकती है और इसका प्रमुख कारण यह है कि इस पक्ष के विश्लेषण के लिए तासी के पास आधारभूत सामग्री का अभाव था।

मीरां की काव्य परंपरा में जयदेव तथा सूर पूर्व में इस भक्तिधारा के सुप्रसिद्ध नाम थे। तुलना करते हुए गार्सा-दा-तासी बार-बार मीरां की कविता को जयदेव के गीत-गोविंद के समकक्ष मानते हैं। **"हिंदुओं का मत है कि उनकी काव्य रचनाओं की समता उनका समकालीन कोई दूसरा कवि नहीं कर सका, लोग उन्हें गीतगोविंद की टीका की रचयिता कहते हैं "[2]।** तासी का मीरां और जयदेव की तुलना करने का उपक्रम कर्नल टॉड द्वारा की गई स्थापना की पुनर्प्रस्तुति है। वह टॉड के अध्ययन से प्रभावित मालूम होते हैं।

तासी के समय में साहित्य की किसी प्रवृत्ति के या भाषाक्षेत्र के आधार पर कोई कालक्रमिक विभाजन नहीं हुआ था। इसलिए वह मीरां को आज की आलोचना में कृष्णभक्त कहे जाने जैसा कृष्णभक्त या भजन लिखने वाला नहीं कहते हैं। बल्कि वह इसे अन्य प्रकार से **"रस कविता के साथ उनके कुछ पद (कान्या) कृष्ण की भक्ति में भजन हैं जो जयदेव की मूल तुलना में रखे जा सकते हैं। ये पद कृष्ण के आध्यात्मिक सौन्दर्य का वर्णन करने वाले अन्य गीत अत्यंत भावुकतापूर्ण हैं"[3]।** जहाँ आधुनिक आलोचना का समकाल मीरां में उनका जीवन, विरह, प्रेम और अन्य सभी पक्षों कृष्ण की उपस्थिति के अलावा और कुछ स्वीकार नहीं करती। वहीं तासी की आलोचना दृष्टि मीरां की कविता का दायरा कृष्ण के अलावा कुछ अन्य श्रृंगार (रस कविता) के क्षेत्र में भी स्वीकार करते हैं।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन-

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-317

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-318

[3] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-318

ग्रियर्सन इतिहास में एक कवि के वर्णन के बाद दूसरे का वर्णन शुरू करते हैं तो एक विशेष प्रविधि को उपयोग में लाते हैं। जिसमें वह कवि विशेष के भौगौलिक क्षेत्र से दूसरे कवि के भौगौलिक क्षेत्र, उसकी अवस्थिति का वर्णन भी करते हैं।

मीरां का वर्णन करते हुए ग्रियर्सन, विद्यापति को संदर्भित करते हुए **"विद्यापति और उसके उत्तराधिकारियों को यहीं छोड़कर अब हम हिंदुस्तान के एकदम पश्चिम में चल सकते हैं, जहाँ मेवाड़ में मीरांबाई उत्तर भारत की एकमात्र कवियत्री रणछोड़ कृष्ण के भावोच्छवासपूर्ण गीत गा रहीं थीं"[1]।** ग्रियर्सन तक आते ही आलोचकों के पास काल, भाषा, प्रवृत्ति के विभाजन का एक सुव्यवस्थित खाका आ गया था और कालक्रम निर्धारण जो महत्त्वपूर्ण उपक्रम है, ऐतिहासिक क्रम निर्धारित करने में इसका प्रयोग भी ग्रियर्सन के इतिहास में किया गया था।

ग्रियर्सन, मीरां का सन् 1420 ईसवी में उपस्थित होना दर्ज करते हैं और मेवाड़ के 'रतिया राणा' की पुत्री तथा मोकलदेव चित्तौड़ के पुत्र कुंभकरण के साथ इनका विवाह होना मानते हैं। कर्नल टॉड और तासी के समान ग्रियर्सन भी ज़्यादातर विवेचन में वही एक रैखीय पैटर्न पर बात करते हैं- **"इन्होंने जयदेव के गीत-गोविंद की एक अत्यंत प्रसिद्ध टीका भी लिखी थी। यह कृष्ण की रणछोड़ रूप की पुजारिन थीं और परंपरा कहती है कि उनके विग्रह की इस भाव-विभोरता से पूजा करती थीं कि यह सजीव हो जाता था और देवता अपना स्थान छोड़कर आओ मीरां कहते हुए आकर्षित कर लेता था"[2]।** इनका गृह त्यागना, साधु-संतों की संगत में रहना और गीतों भजनों को घूम-घूमकर गाने के कारण 'कुलबोरिनी' के रूप में इनको देखा गया। विल्सन की स्थापना को देखें तो इनके परिवार द्वारा इनको प्रताड़ित किया जाता था। इन्हीं कुछ बिंदुओं पर ग्रियर्सन भी मीरां के संबंध में अपनी आलोचनात्मक राय को इतिहास में विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत करते हैं।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज-

अन्य साहित्येतिहासकारों में रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज, मीरां के संबंध में कुछ ज़्यादा महत्त्वपूर्ण टिप्पणी या विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करते हैं। लेकिन साहित्यिक परंपरा में मीरां का स्थान निर्धारित करते हुए, मीरां को प्रथम स्थान पर रखते हैं। **"यद्यपि इन छह संत कवियों में समय की दृष्टि से मीरांबाई बहुत परवर्ती हैं। किन्तु इस महिला की ख्याति कुछ ऐसी**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-75
[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-76

है, जिसके कारण इन्हें प्रथम स्थान देना प्रतीत होता है"[1]। ग्रीब्ज, मीरांबाई को प्रथम पायदान पर स्थान निर्धारित करते हैं जो मीरां की कविता का उनके समकालीनों के समकक्ष महत्त्व निर्धारित करते हैं।

एफ. ई. केई-

एफ. ई. केई इतिहास लेखन में कुछ भी निश्चयात्मक या दावे के साथ मीरांबाई के बारे में नहीं कहते हैं, बल्कि उनके वर्णन में जब जीवनवृत्त के संबंध में विचार करते हैं तो अनुमान आधारित होते हुए एक पद का प्रयोग **'ऐसा लगता है कि', 'प्रताड़ित किया गया था', 'राजपूताने की राजकुमारी थीं'** मीरां के संबंध में भी करते हैं।

इसीलिए जीवन से संबंधित किसी भी तथ्यात्मक जानकारी के लिए एफ.ई. केई पर्याप्त वर्णन नहीं करते हैं। वह कृष्णभक्ति काव्य को पश्चिमी हिंदुस्तान में सर्वाधिक लोकप्रिय बनाने का श्रेय मीरां को देते हैं। **"पश्चिमी हिंदुस्तान में आविर्भूत एक लेखिका की कविताओं ने उस क्षेत्र में कृष्णभक्ति को लोकप्रिय बनाने में मदद की थी, वे थीं हिंदी कवियित्रियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध मीरांबाई"[2]।**

मीरां-रैदास के शिष्य गुरु संबंध पर भी केई ने विवेचन करते हुए प्रश्नचिह्न लगाया है। केई मानते हैं कि रैदास-रामानंद के शिष्य थे और राम की उपासना करते थे। इसलिए यह स्पष्ट नहीं है कि मीरांबाई ने उन्हे गुरु क्यों चुना? इसके पीछे का कारण केई ने समझने का प्रयास किया है। आखिर जब मीरां कृष्णभक्त थीं तो रविदास जो रामोपासक रामानन्द के शिष्य थे और स्वयं निर्गुण ईश्वर की उपासना करते थे, तो इस गुरु-शिष्य संबंध के पीछे क्या संबंध हो सकता है? **"कहीं ऐसा तो नहीं कि रैदास ने उनके विचारों में परिवर्तन कर दिया हो? . . . . . . यद्यपि इन्होंने कहीं-कहीं ईश्वर के लिए राम नाम का भी उल्लेख किया है"[3]।** भक्तकवियों के गुरु-शिष्य संबंध में अगर केई की इस कसौटी को ध्यान में रखा जाए जिसमें समान उपासना पद्धति ही इस संबंध के लिए आवश्यक है तो कबीर-रामानन्द संबंध पर भी प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है। जो कई आलोचकों द्वारा इसी संदर्भ में विवेचित भी किया गया है। जिसमें समाज परिवर्तन के प्रति गुरु-शिष्य का दृष्टिकोण समान नहीं बल्कि कई मायनों में स्पष्टतया भिन्न होता है।

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-62

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-39

[3] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-40

4.6- मीरांबाई के स्वतंत्र पाश्चात्य आलोचक-

मीरांबाई की कविता तथा जीवन का अध्ययन इतिहास लेखकों के अलावा स्वतंत्र रूप से साहित्यिक इतिहासकारों से अलग भी अध्येताओं द्वारा किया गया है, जिसमें मीरांबाई के कविता और जीवन के विविध प्रसंगों पर विचार-विमर्श कर विश्लेषणात्मक निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। उपनिवेशकाल में ही कर्नल टॉड ने सबसे पहले मीरांबाई की आलोचना के कैनन का निर्माण किया इसके बाद जर्मन अध्येता 'हर्मन गोएत्जे' ने प्राप्य सामग्री और पारिस्थितिक साक्ष्यों के आधार पर जीवन प्रसंगों का संयोजन कर मीरांबाई के जीवनचरित की पुनर्रचना करने का काम किया है।

मीरां के अध्येताओं की एक बड़ी सूची है इसमें एंड्रयू शैलिङ्ग, लुईस लैरेन्स-लीवाए, रूबर्ट स्नैल, नैन्सी मार्टिन, जॉन स्ट्रैटन हौली, फ्रांसिस टेफ्थ, हाउदी पाउवेल्स आदि हैं।

कर्नल टॉड जो मीरां पर पहली बार पश्चिम में अपनी राय व्यक्त कर रहे थे, उनके संस्कारों पर यूरोपीय रोमांटिसिज़्म का प्रभाव था। उनका व्यक्तित्त्व भारत में सामंतों के साथ मधुर संबंधों से प्रभावित था। इसीलिए मीरां संबंधी निष्कर्षों में टॉड अपनी इसी धारणा को पुष्ट करते हुए मीरां में रहस्य और रोमांस को ज़्यादा देखते हैं।

माधव हाड़ा अपनी पुस्तक **'बैदहि औखद जाणै'** में औपनिवैशिक अध्येताओं की इस मानसिकता के संदर्भ में टिप्पणी देते हुए लिखते हैं- **"टॉड के संस्कार यूरोपीय रोमांटिसिज़्म के थे। राजस्थान के सामंतों के संबंध में उनकी राय भी इससे प्रभावित थी। इसीलिए उसको मीरां की जीवन की कथा में रोमांस और रहस्य तो दिखाई दिए, लेकिन उसका मनुष्य उससे अनदेखा रह गया, गोएत्जे ने इसे भक्त और व्यक्ति में अलगा दिया जिसे (विभक्त मानसिकता) तो जॉन स्ट्रैटन हौली ने इसे 'लैंगिग विमर्श' से जोड़ दिया"[1]।** फ्रांसिस टैफ़्थ का यह कहना कि अन्य सभी जो भी अध्ययन करने वाले हैं वह इतिहासकार न होकर लोकसाहित्य के जानकार हैं। इसीलिए जो सामग्री मीरां के संबंध में प्राप्त होती है, वह अधिकतम अप्रामाणिक सामग्री है।

कर्नल टॉड भी इतिहासकार थे और उन्होंने राजस्थान की 'ख्यात बही' और 'वंशावलियों' की पड़ताल की तो मीरां का नाम कहीं नही पाया। इस कारण मीरां के जीवनचरित के संबंध में टॉड ने किंवदंतियों और जनश्रुतियों का ही सहारा लिया है। यही प्रमुख कारण रहा कि जनश्रुतियों के आधार होने के कारण चरित में तथ्यात्मक और ऐतिहासिक भूलें हो गई हैं।

[1] हाड़ा, माधव, बैदहि औखद जाणै, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-11

मीरां को भक्त, प्रेमदीवानी आदि उपमाओं से हिंदी साहित्य के आलोचकों ने अभिहित किया है। लेकिन टॉड अपनी आलोचना में मीरां को एक यशस्वी राजकुमारी के रूप में देखते हैं और इसके पीछे टॉड का तर्क है कि यदि मीरां योग्य न होती तो महाराणा कुंभा जैसे राजनीतिज्ञ उनसे विवाह न करते। वह इस संदर्भ लिखते है- **“कुंभा ने मारवाड़ के श्रेष्ठतम में से एक मेड़ता के राठौर कुल की पुत्री से विवाह किया। मीरांबाई सौन्दर्य और रूमानी भक्ति की दृष्टि से अपने समय की सर्वाधिक यशस्वी राजकुमारी थी”[1]।** मीरां की जिस छवि को आलोचकों ने बाद में गढ़ा है, उससे उलट छवि टॉड में देखने को मिलती है और यह छवि विरह की या प्रेमदीवानी मीरां की छवि नहीं थी बल्कि वह मेड़ता की श्रेष्ठ राजकुमारी के रूप में मीरां को प्रस्तुत करते हैं। मीरां के गीतों को प्रेमाख्यान कह उनके अखिल भारतीय स्वरूप को व्याख्यायित किया गया है। टॉड ने इसी अखिल भारतीय स्वरूप की पहचान अपनी आलोचना में करते हुए- **“मीरां का इतिहास एक प्रेमाख्यान है और यमुना से लेकर दुनिया के छोर (द्वारिका) पूरे भारत में, हर मंदिर में उसके आराध्य के प्रति भक्ति की अतिशयता ने अनेक प्रवाहों को जन्म दिया”[2]।** माधव हाड़ा ने अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट किया कि टॉड ने इतिहास और यात्रावृत्तांत में मीरां के पत्नी के संबंध में अलग-अलग राय दी है। इतिहास में वह मीरां को राणा कुंभा की पत्नी तथा यात्रावृत्तांत में ‘राणा लाखा’ की पत्नी बताते हैं। आश्चर्य यह है कि ‘कर्नल टॉड’ जैसे इतिहासकार से यह तथ्यात्मक भूलें कैसे हो गईं।

मीरां की कविता को ‘कर्नल टॉड’ ने *‘उत्कृष्ट कविता’* माना है और उस कविता को उनके समकालीन कविता करने वाली जाति ‘भाटों’ से बहुत आगे की तथा परिष्कृत श्रेणी में मूल्यांकित किया है। टॉड ने मीरां की कविता की समतुल्यता करते हुए कविताओं को जयदेव के गीतगोविंद के टक्कर का पाया और जो विरहगीत मीरां के नाम से मिलते हैं उन्हें टॉड बाद की परंपरा द्वारा द्वेषवश रचा हुआ मानते हैं।

यानी जो उत्कृष्ट है वह मीरां का लिखित और जो काव्य विरह से परिपूर्ण है वह बाद के लोगों द्वारा लिखा गया है। वह भी एक सोची-समझी रणनीति के तहत। टॉड के शब्दों में **“उसके और अन्य लोगों के बनाए गए भजन जो उसके उत्कृष्ट भागवत प्रेम के विषय में अब तक प्रचलित हैं इतने भावपूर्ण और वासनात्मक हैं कि संभवतः अपरगीत उसकी प्रसिद्धि के प्रतिस्पर्धी वंशानुगत गीत पुत्रों के ईर्ष्यापूर्ण आविष्कार हों, जो किसी महान कलंक का विषय बनने के लिए रचे गए हों”[3]।** माधव हाड़ा इस संबंध में

[1] जेम्स टॉड,एनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान,खंड 1,डब्ल्यू. सी. सामन्ता ऐट द बंगाल प्रेस, पृष्ठ 337

[2] जेम्स टॉड,एनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान,खंड 1,डब्ल्यू. सी. सामन्ता ऐट द बंगाल प्रेस, पृष्ठ 337

[3] कर्नल जेम्स टॉड,पश्चिमी भारत की यात्रा,पृष्ठ-442

राजपूत-टॉड संबंधों को ज़िम्मेदार मानते हैं, क्योंकि इन्हीं कारणों की वजह से किसी राजपूत कुल की स्त्री के संबंध में कोई ऐसी मान्यता या बात को टॉड द्वारा स्वीकार नहीं किया गया, जिससे राजपूतों की कुलीनता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा हो। इसीलिए प्रक्षिप्तता के संबंध में टॉड ने बाद के रचनाकारों की साज़िश को ज़िम्मेदार बताया जो मीरां की कविता से मिलते-जुलते स्वर में बाद में लिखी गई थी और जिसका उद्देश्य मीरां की कविता को बदनाम करना था। कर्नल टॉड, मीरां से संबंधित विविध प्रसंगों में जिसमें मीरां को विष का प्याला राणा द्वारा भेजा जाना जिससे पहली दृष्टि में यह सिद्ध होता है कि मीरांबाई को परिवार वालों के द्वारा प्रताड़ित किया जा रहा था के संबंध में लिखा है **"उसके पति और राजा ने भी उसके प्रति कभी कोई द्वेष या संदेह व्यक्त नहीं किया। यद्यपि एक बार ऐसे भक्ति के भावावेश मुरलीधर ने सिंहासन से उतरकर अपनी भक्त का आलिंगन भी किया था। इन सब बातों से अनुमान किया जा सकता है कि (मीरां के प्रति संदेह करने का) कोई कारण नहीं था"[1]।** कर्नल टॉड के राजपूतों से संबंध इन स्थापनाओं में आड़े आ रहे हैं। उनके राजपूतों से संबंध इतने मधुर थे कि वह राजपूती शान के ख़िलाफ़ शायद कोई बात नहीं लिख पा रहे थे। टॉड ने जिस छवि का निर्माण किया तथा जिस प्रविधि का अध्ययन में अनुसरण किया वह आधार रूप से जनश्रुतियों पर आधारित थी, न कि किसी ठोस प्रामाणिक सामग्री के आधार पर।

यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि कर्नल टॉड को किसी ऐतिहासिक बही में मीरां का नाम नहीं मिला था। इसीलिए अनुमान तथा किंवदंतियों पर आधारित अध्ययन के कारण मीरां की कविता तथा जीवन की कोई ठोस निर्मिति टॉड के द्वारा नहीं हो पाई और पति के नाम के संबंध में एक बड़ी तथ्यात्मक भूल भी इनकी आलोचना में मिलती है।

हरमन गुस्ताव गोएत्जे ने सन् 1966 ईसवी में '**मीरांबाई:हर लाइफ एंड टाइम्स**' पुस्तक लिखी। इस जर्मन विद्वान ने मीरां के जीवन का पहली बार व्यवस्थित रूप से उनके समय तथा कविता पर अध्ययन किया। हरमन के अध्ययन को माधव हाड़ा '**विभाजित मस्तिष्क**' की संज्ञा देते हैं, क्योंकि वह व्यक्ति मीरां और कवि मीरां को अलग-अलग करके देखने का काम कर रहे थे। औपनिवैशिक मस्तिष्क की इस विभाजन की राजनीति को माधव हाड़ा यहाँ विश्लेषित करते हैं।

गोएत्जे के पास उपलब्ध प्राथमिक स्रोत के रूप में नाभादास की भक्तमाल, प्रियादास की टीका और महीपति की भक्तिविजय थी। इन देशज स्रोतों के प्रति इनकी राय ठीक नहीं थी।

[1] कर्नल जेम्स टॉड,पश्चिमी भारत की यात्रा,पृष्ठ-443

बल्कि हरमन ने इन स्रोतों पर अविश्वास जताया और लिखा - **"प्राथमिक स्रोत नाभा जी का भक्तमाल, प्रियादास की टीका और महीपति की भक्ति विजय केवल मूर्खतापूर्ण और भावुक किंवदंतियों का एक संग्रह प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि अधिकांश जीवनियों में पाया जाता है, जिनमें ऐतिहासिक तथ्यों का निर्विवाद मूल होता है,लेकिन स्पष्ट रूप से ग़लत समझा जाता है और ग़लत तरीक़े से प्रस्तुत किया जाता है"[1]।** अधिकृत विद्वानों की तरह गोएत्जे भी मीरां के संबंध में लिखे गए संतचरितों तथा भक्तनामावलियों को संदेह की नजर से देखते हुए भावुकतावश लिखी गई तथा मूर्खतापूर्ण स्थापना से युक्त रचनाएँ मानते हैं।

मीरां की छवि तथा जीवन की पुनर्रचना में गोएत्जे प्रचलित प्रतिमानों से अलग मीरां की प्रेमदीवानी छवि को विस्थापित करने का प्रयास करते हैं और मीरां को एक समाजसेविका, मिशनरी, अद्भुत कवयित्री तथा कलाकार के रूप में स्थापित करते हैं। इससे मीरांबाई का जो चित्र बनकर हमारे सामने आता है, वह पारंपरिक रूप से बिल्कुल अलग है **"एक भावुक गायिका नहीं, देवप्रतिमा के सामने उन्मादित होकर नाचते हुए और एक मध्यवर्गीय मानसिकता वाले राणा से प्रताड़ित नहीं, बल्कि राजनीति में पारंगत एक महान राजकुमारी, एक समाजसुधारक और उसके बाद एक कवि और अंत में भारतीय इतिहास की सर्वाधिक निर्णायक राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रांतियों में से एक भारतीयों और तुर्कों-हिंदुओं और मुसलमानों पर अकबर के साम्राज्य के वैचारिक रचनाकार और अपने व्यक्तित्व का सतत उत्सर्ग करने वाली"[2]।** कुलीनता के आधार पर अगर देखा जाए तो मीरांबाई भक्तकवियों में सबसे ज़्यादा कुलीन भक्तकवि थीं। गोएत्जे इन्हीं संदर्भों में मीरांबाई को *'स्व का उत्सर्ग करने वाली कवयित्री'* कहते हैं। यह तथ्य ज़्यादा महत्त्वपूर्ण पक्ष है मीरां के व्यक्तितत्त्व का। वह यात्राएँ करते, दुःख सहते और सत्संग करते हुए भक्ति के अखिल भारतीय स्वरूप में अपना योगदान देती हैं। गोएत्जे, मीरां के महत्त्व के संबंध में उनकी कविता के महत्त्व को आँकते हुए जिस पद का प्रयोग करते हैं, वह मीरां को उस दौर का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बताता है। वह सभी विशेषताओं के बाद **'राजनैतिक-सांस्कृतिक क्रांतियों में से एक भारतीय और तुर्कों, हिंदुओं और मुसलमानों पर अकबर के साम्राज्य की वैचारिक रचनाकार'** अकबर के साम्राज्य के वैचारिक रचनाकार के रूप में मीरां की पहचान करने वाले गोएत्जे गूढ़ अर्थ-संदर्भों में मीरां के व्यक्तित्त्व की धर्म, संप्रदाय से परे प्रेम और भक्ति में डूबी छवि को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ यह जानना

[1] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ-2

[2] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ-40

आवश्यक है कि अकबर कम से कम कट्टर तथा धर्मनिरपेक्ष राजा था। मीरां की कविता में भी इसी छवि की प्रमुखता के कारण उन्हें 'अकबर के साम्राज्य कि वैचारिक रचनाकार' हरमन गोएत्जे द्वारा माना गया।

मीरां की पुनर्रचना करते हुए मीरां को या तो इतना महान बना दिया गया या इतना अलौकिक जैसे मीरां कुछ हो ही न। अपने व्यक्ति रूप में अपने व्यक्तित्त्व का उत्सर्ग करने वाली स्थापना में क्या -स्व के त्याग या विलोप की बात को दोहरा रहे हैं? जो भी हो गोएत्जे, मीरां की ज़मीन को या तो अलौकिक मानते हैं या अतिविशिष्ट। **"हम केवल एक अन्य व्यक्तित्त्व के बारे में जानते हैं, जिसको उसके समान कहा जा सकता है और वह है यीशु मसीह। यदि कविता परमात्मा से प्रेरित है तो वह पहली सहस्राब्दी के दौरान भारत की सबसे बड़ी कवयित्री थीं, क्योंकि वह एक असाधारण व्यक्तित्त्व, एक संत, एक मानव जाति में से सर्वोच्च पवित्रात्मा थीं"[1]।** एक ईसाई आलोचक एक महिला रचनाकार की तुलना कितनी सहजता से ईसा से करने का काम कर दे रहा है। क्या मीरां का यह विशिष्ट स्थान उन्हें उनके निजी संघर्षों से दूर नहीं कर देगा? क्या जो पीड़ा मीरां की थी यदि उन पर ईश्वरत्व का अनुमान कर लिया जाए तो उनके व्यक्तित्व पर इस तरह थोपी गई ईश्वरीयता में मीरां का असली चित्र धूमिल या ग़ायब नहीं हो जाएगा? गोएत्जे, मीरां के चरित की पुनर्रचना कर रहे थे लेकिन मीरां की वास्तविक जमीन से दूर कहीं अन्यत्र, ईश्वरत्व के समकक्ष उन्होनें मीरां की तुलना करने का काम किया, जिससे मूल मीरां को समझने में कोई विशेष मदद नहीं मिल सकती है।

रैदास-मीरांबाई संबंध पर भी गोएत्जे ने प्रकाश डाला है। वह मानते हैं कि गिरधारी की मूर्ति मीरां को भेंट में देने वाले शायद रैदास स्वयं थे लेकिन इसकी प्रामाणिकता का कोई स्रोत नहीं मिलता है। हरमन गोएत्जे भी अनुमान के आधार पर ही इस बात को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। -**"रैदास मीरां के क्रांतिकारी सामाजिक और धार्मिक विचारों के मुख्य प्रेरणास्रोत रहे होंगे"[2]।** यहाँ पर मीरांबाई के सामाजिक रूप से उत्कृष्ट विचारों के लिए हरमन, रैदास के प्रभाव को मानते हैं। आज ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में रैदास-मीरांबाई का संबंध संदिग्ध है लेकिन गोएत्जे का मानना है कि मीरां सीधे अपने को रैदास की शिष्या मानतीं हैं और झाली रानी उनमें बहुत अधिक दिलचस्पी लेती हैं। इसका कोई कारण होना चाहिए। इसका एक ही उत्तर है जो हरमन ने देखा है कि जिस बाबा ने गिरधारी की मूर्ति मीरां को दी थी (किंवदंतीपरक मान्यता) वह रैदास ही थे।

[1] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ-1

[2] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ- 6

यह एक किंवदंती मात्र है कि किसी साधु बाबा के द्वारा मीरां को बचपन में कृष्ण की मूर्ति दी गई थी और गोएत्जे उसी जनश्रुति के आधार पर उन बाबा का रैदास होना अनुमानित करते हैं। झाली रानी ने रैदास से दीक्षा ली थी यह 'विनांद कैलवर्त' ने अपने रैदास विषयक अध्ययन में बताया है लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं मिल सका कि मीरां, रैदास से दीक्षित थीं।

चरित पुनर्रचना में गोएत्जे उस महत्त्वपूर्ण प्रसंग को भी प्रस्तुत करते हैं और उसकी प्रामाणिकता की पड़ताल करते हैं, जिसमें मीरां और अकबर की भेंट का वर्णन किया गया है। यह किंवदंतीपरक वर्णन जिसमें हरमन गोएत्जे का मानना है कि-**"किंवदंती में वर्णित भेंट अकबर से नहीं बल्कि बाबर से हुई थी, यह मीरां की सुंदरता के कारण नहीं बल्कि उसके चाचा बीरमदेव के लिए सब्सिडी के रूप में आयी थी। बाबर निश्चित रूप से राजपूत सत्ता को वापिस मजबूत होने से रोकने में रुचि रखता था इसीलिए रत्नसिंह द्वारा प्रताड़ित किए गए दल का समर्थन करेगा"[1]।** मीरां और बाबर की भेंट को गोएत्जे राजनैतिक संतुलन साधने के लिए की गई भेंट के रूप में देखते हैं। रतनसिंह, मीरां को प्रताड़ित करने का काम करता है तथा बाबर-राजपूत एकता स्थापित न हो सके इसीलिए एक पक्ष को मिलने के लिए आमंत्रित करता है जिसमें मीरां भी होती हैं।

शायद यह अवधारणा गोएत्जे ने तिथि की साम्यता के कारण प्रस्तुत की है। उन्होंने पहले ही मीरांबाई की मृत्यु की तिथि सन् 1498 ईसवी माना है। इस स्थिति में अगर वह अकबर-मीरां भेंट के प्रसंग पर विचार करते हैं तो वह ऐतिहासिक और तथ्यात्मक रूप से भारी भूल होती। इसका यही रास्ता हरमन ने निकाला कि मीरां-बाबर की भेंट का उल्लेख मीरां के चरित विषयक मान्यताओं को स्थापित करते हुए किया।

मीरां की मृत्यु के संबंध में एक किंवदंती प्राप्त होती है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि मीरां मूर्ति में समाहित होकर अदृश्य हो गई थीं। इस घटना को गोएत्जे उन ब्राह्मणों की असफलता को छुपाने का प्रयास मानते हैं जिनको राणा ने मीरां को मनाकर लाने के लिए भेजा था। हरमन गोएत्जे अनुमान लगाते हैं कि मीरां द्वारका के बाद दक्षिण भारत तथा पूर्वी भारत के प्रवास पर रहीं, लेकिन यह इनकी कल्पना ही लगती है जिसका कोई प्रामाणिक आधार स्वयं गोएत्जे के पास भी नहीं है। **"द्वारिका से अदृश्य हो जाने के बाद मीरां दक्षिण और पूर्वी भारत के तीर्थस्थानों और प्रवास पर रही होगीं इन यात्राओं के संबंध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं, लोक में भी इस संबंध में कोई विश्वास या धारणा उपलब्ध नहीं है"[2]।** हरमन, मीरां के चरित की पुनर्रचना करते समय तथ्यात्मक रूप से कम

[1] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ- 21

[2] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ-35

बल्कि मनमाने रूप से ज़्यादा वर्णित करते हैं। वह जिस मीरां की छवि की निर्मिति करते हैं वह मीरां की कम बल्कि उनकी स्वयं द्वारा निर्मित की गई 'मानस छवि' ज़्यादा लगती है। वह परंपरा प्रचलित किंवदंतियों के प्रतिकूल अपनी राय व्यक्त करते हुए भी यह आवश्यक नहीं मानते हैं कि अलग राय व्यक्त करते हुए कुछ ठोस प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक है। वह प्रमाण न देकर मीरां के जीवन विषयक देशज स्रोतों किंवदंतियों और जनश्रुतियों को ख़ारिज करने का काम करते हैं। **"ये जनश्रुतियाँ जैसा कि वे मौजूद हैं निहायत मूर्खतापूर्ण हैं। लेकिन फिर भी तुलनात्मक रूप से स्पष्ट ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वे बहुत अच्छी तरह समायोजित हो जाती हैं"[1]।** अंत में हरमन, मीरां के व्यापक जीवनानुभव और उनके वर्ग परिवर्तन के अनुभव से पैदा हुई सहानुभूति को आलोचना के केंद्र में रखते हुए मीरां के व्यक्तित्त्व का मूल्यांकन करते हैं।

मीरां राजसत्ता, ग़रीब, भिखारी, संत, महिला, यात्री, विधवा आदि इस बड़े दायरे के अनुभवों को अपने में समेटे हुई थीं, जिसमें इन वर्गों की पीड़ा के साथ-साथ परिवार की प्रताड़ना भी शामिल थी। गोएत्जे इन सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए- **"इस दुनिया की सारी चमक और सारे दु:खों का अनुभव किया था वह समाज के शीर्ष पर सत्ता के खेल को और ग़रीब तथा सताये हुए उन लोगों को जानती थीं जो उनके भगवान की अभय में डूबे रहते थे फिर भी राजाओं और पुजारियों की घातक घृणा से पीड़ित थे"[2]।** मीरांबाई के अनुभव विस्तार में समाज के विभिन्न वर्गों का योगदान था। वह जिनसे सम्बद्ध थीं और जिनसे सहानुभूति रखती थीं वह भी। मध्यकाल में सामंतों के चरित्र जो समाज के एक बड़े हिस्से को जब वह भक्ति में तल्लीन देखते थे तो घृणा की नज़र से देखते थे। इस भक्ति आभिजात्यता के प्रति मीरां अपनी कविता और जीवन दोनों जगह विद्रोह करती हैं।

हरमन गोएत्जे अपनी आलोचना में जिस मीरां के चरित की पुनर्रचना करते है वह ऐतिहासिक कम, गोएत्जे की मनमानी व्याख्याओं से ज़्यादा प्रेरित है।

फ्रांसिस टैफ्थ –

टैफ्थ ने सन् 2002 ईसवी में मीरां के इतिहास पर एक पुस्तक लिखी **'द इल्यूजिव हिस्टोरीकल मीरां- ए नोट'** इसमें मीरां की रचनाओं के संबंध में एक बात मुख्य रूप से उभरकर सामने आती है, वह यह कि भक्तिकविता तथा राजस्थान की परंपराओं को इतिहास

[1] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ-35
[2] गोएत्जे, हरमन,मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स,भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ-42

की दृष्टि से काफी हद तक विश्वस के योग्य नहीं माना गया। इसका कारण यह है कि इन परंपराओं मे किसी भी तरह की एकरूपता का अभाव है।

'जर्नल ऑफ द ओरियंटल इंस्टिट्यूट' के अंक 39 में जो 1900 ईसवी में प्रकाशित हुआ था। इसमें 'विनांद एम. कैलवर्त्त' ने एक लेख लिखा था -**'द अरलिस्ट सॉन्ग्स ऑफ मीरां'** इस लेख में मीरां की कविता का मौखिक परंपरा से लिखित परंपरा में देर से शुरू होने पर वह एक प्रश्न खड़ा करते हैं और मौखिकता बनाम पांडुलिपि की बहस को आगे बढ़ाते हुए **"बेशक यह एक रहस्य बना हुआ है कि राजस्थान में निर्गुण और ब्रज में सगुण (1600 ई.) की तुलना में मीरां के मामले में लिखित परम्पराएँ इतनी देर से क्यों शुरू होतीं है?"[1]।** यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है लेकिन इसका जवाब अगर खोजा जाए तो, मीरांबाई की संप्रदाय निरपेक्षता के सूत्र से समझ आ जाएगा। क्योंकि ब्रज और राजस्थान के सगुण-निर्गुण संतों में से अधिकतम कवि किसी भक्ति संप्रदाय/ पंथ/ मठ से जुड़े थे और इस जुड़ाव के कारण गुरु-शिष्य परंपरा का निर्वहन कर रहे थे। यह एक प्रमुख कारण हो सकता है, क्योंकि कृष्णभक्ति संप्रदाय में मीरां संप्रदाय निरपेक्ष कवयित्री थीं। यदि मीरां भी किसी संप्रदाय से सम्बद्ध होतीं तो इनके संप्रदाय वाले इनके पदों का लिप्यांतरण ज़रूर करते और जो प्रश्न टैफ्थ द्वारा उठाया जा रहा है वह नहीं बनता।

विनांद एम. कैलवर्त्त इसे लैंगिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करते हैं। वह मानते हैं कि **"मीरां के गीत घर में महिलाओं की (अनन्य) संपत्ति बन गए। लेखकों ने साधुओं या (पुरुष) गायकों की तरह महिला गायिकाओं को लिपिबद्ध नहीं किया। या मीरां के गीतों को इस हद तक तिरस्कृत किया गया कि वे कभी भी गायकों के मानक संग्रहों के हिस्सा नहीं बने"[2]।** यह पक्ष इस संदर्भ में- लेकिन मीरां यदि घर-घर में कविता के माध्यम से विद्यमान थीं तो चयनकर्त्ता भक्ति विषयक कविता का चयन कर ही सकते थे।

हौली भी संपादकों और चयनकर्त्ताओं की इस राजनीति को मीरां के संबंध में वर्णित करते हैं और पाते है कि समाज के निचले पायदान पर माने जाने वाले लोगों और घुमंतू जातियों में मीरां की कविता का जो स्वर है वह ज़्यादा आक्रामक है **"जबकि उच्च जाति के ब्राह्मण पुरुषों द्वारा संपादित अधिकृत संकलनों में यह चित्रण इतना आक्रामक होकर नहीं उभरता"[3]।**

[1] हाड़ा, माधव,बैदहि औखद जाणै, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-125

[2] जर्नल ऑफ द ओरियंटल इंस्टीट्यूट,लेख-द अरलिस्ट सॉन्ग्स ऑफ मीरां वर्ष 1900,अंक 39,पृष्ठ-363

[3]अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-136

मीरां की छवि को गढ़ने, उसकी कविता के क्रांतिकारी तत्त्वों को कमतर करने तथा अपनी नैतिक मान्यताओं के विरोध में जा रही बातों को दर्ज न करने का काम इन चयनकर्त्ताओं द्वारा किया गया है, जो मुख्य रूप से पुरुष होते थे। इस प्रश्न को हौली भी अपनी आलोचना में रखते हैं और उनको मौखिक मीरां ज़्यादा मुखर और क्रांतिकारी मिलती है। क्षेत्रकार्य सर्वेक्षण के दौरान कई ऐसी कविताओं का पाया जाना जो मीरां के नाम से दर्ज हैं, उनमें यह क्रांतिकारी स्वर प्राप्त होता है। उन्हें अपनी नैतिकताओं के चलते संकलनकर्त्ताओं के द्वारा संकलित नहीं किया गया।

जॉन स्ट्रैटन हौली-

मध्यकालीन भक्तकवियों में मीरां की रचनाओं में आत्मचरित से संबंधित वर्णन अन्य से ज़्यादा मिलता है। वह अपने पदों में अपने जीवन की अवस्थितियों तथा मनःस्थितियों को किसी न किसी रूप में वर्णित कर देती हैं। हौली भी इस महत्त्वपूर्ण संदर्भ को अपनी आलोचना में स्थान देते हैं। **"मीरांबाई की कई कथित कविताएँ यह स्पष्ट करती हैं कि उनमें संतचरित लेखन का तत्त्व प्रमुख है, जो प्रकरण मीरां की कविता में बार-बार दोहराया गया है उसका उल्लेख नाभादास तब करते हैं जब वे अपनी कृति भक्तमाल के पाठकों से भक्तिन मीरां का परिचय कराते हैं"[1]।** हौली, भक्तमाल तथा उसकी टीका से मीरां के प्राथमिक जीवनचरित को पहचानते हैं। वहाँ विशुद्ध कविता जैसा कुछ नहीं मिलता अपितु मीरां के जीवन से संबंधित बहुत सी घटनाएँ प्राप्त होतीं हैं, जो अन्य भक्तकवियों की कविताओं में कम प्राप्त होती हैं। राणा के मीरां पर कुपित हो जाने के प्रसंग या मीरां को विष देने का प्रसंग कविता में आत्मचरित के रूप में मौजूद है।

प्रियादास की टीका का उदाहरण हौली देते हुए राणा की कुपितता को इसलिए मानते है क्योंकि मीरांबाई कृष्ण के प्रेम में अपने कर्तव्य भूल गई थीं, जो उन्हें एक अच्छी पत्नी बना सकते थे। हौली इसी जीवनचरित के आधार पर मीरां के काव्य की व्याख्या करने का काम अपनी आलोचना में करते हैं।

हौली इन प्राप्त जीवनचरितों से अलग/विपरीत भी अनुमान लगाते हैं। क्योंकि उनका मानना है कि 'भक्तमाल' या अन्य कोई कवि विषयक जीवनचरित कवि के जीवन से उलट भी वर्णित कर सकता है। **"अगर किसी रचनाकार की कथित कविताओं को उसके जीवन के पहलुओं से जुड़ी घटनाओं के इर्द-गिर्द बुनना संभव हो सकता है, तो इसके विपरीत भी हो सकता है तथा कविता और जीवनचरित के बीच की नज़दीकी को दूसरे कोण**

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-55

से रेखांकित किया जा सकता है"[1]। कविता में कुछ भी असंभव नहीं है और हौली द्वारा इसी ओर इशारा किया गया है, जिसमें कविता को रचनाकार, जीवन, परिस्थिति की सापेक्षता में रच भी सकता है और उस परिस्थिति या सच से निरपेक्ष भी रख सकता है। लेकिन मीरां की कविता में मीरां का जीवन और परिस्थितियाँ सापेक्षता में ज़्यादा प्राप्त होती हैं।

आज उनके समकालीन भक्तकवियों की तुलना में मीरां की स्वीकृति ज़्यादा है। मीरां की छवि को अंगीकार करने में आधुनिक मानस ज़्यादा सहज है। **"मीरां से उतनी ही प्रेरणा महसूस होती रही है जितनी कबीर या सूरदास से। ऐसा लगता है कि इन दोनों कविवरों के मुक़ाबले मीरां की अभिग्रहीत छवि हमारे समय के लोगों को अंगीकार और आत्मसात करने के लिए ज़्यादा आमंत्रित करती है"[2]।** मीरां की जो छवि आज आधुनिक मानस को ज़्यादा आकर्षित करने में सक्षम है वही मीरां की छवि हौली की नज़र में भक्तमाल की रचना के समय में एक किंवदंती के माध्यम से सामने आती है। -**'सूर-सूर तुलसी ससी,उड़गन केशवदास'** यानी परंपरागत जनसामान्य की दृष्टि में भक्तिकविता के रचनाकारों का जो क्रम बैठा हुआ है उसमें सूर, तुलसी और केशवदास जैसे कवि हैं। इन मान्यताओं को रूढ़ करने का काम भक्तमाल के रचयिता ने किया है। इसमें मीरांबाई की अनुपस्थिति है,जो अनायास नहीं बल्कि उस दौर की आलोचना का निचोड़ है। इसी दोहे का संदर्भ देते हुए इस स्थापना को ख़ारिज करने का प्रयत्न करते हैं। और कबीर और मीरां को **'खद्योत सम'** तक सीमित रखे जाने का विरोध अपनी आलोचना में करते हैं-**"लेकिन मीरां और कबीर इस पद की अगली पंक्ति में वर्णित शशि या खद्योत से कहीं उत्तम हैं। उनकी ख्याति उनकी अपनी पहचान से है। वास्तव में वे कभी-कभी तो सूर से भी अधिक लोकप्रिय नज़र आते है"[3]।** हौली उस परंपरागत प्रचलित मान्यता को मानने के पक्ष में नहीं हैं और न ही इस एकरैखीय श्रेणीक्रम को मानने के पक्ष में है, जो लोक में प्रचलित रहा है। बल्कि लोकप्रियता को वह समय या व्यक्ति सापेक्ष स्थापित करने का काम करते हैं जिसमें कभी-कभी मीरां और कबीर भी तुलसी और सूर से ज़्यादा लोकप्रिय माने गए हैं।

मध्यकाल में कविता मौखिक रूप से प्रचलित थी और मौखिक पाठों का स्वरूप श्रोता-वक्ता संबंध बदलने के साथ ही बदलता रहता है। वह जिस भी वाक् से आगे बढ़ी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य आ गया ऐसे में आलोचकों और आलोचना के सामने एक प्रश्न बार-बार आया कि वह कवि या कविता के किस रूप का मूल्यांकन करे? हौली इसे शताब्दी में बाँटते

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-57

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-19

[3] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-23

है और प्रश्न करते हैं कि कवि के किस शताब्दी के मूल्यांकन को प्रामाणिकता के ज़्यादा क़रीब माना जाए।

"मीरां या सूर या कबीर के बारे में उपलब्ध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ जब कोई बात करता है तब यह सवाल उठता है कि उसका तात्पर्य कवि के किस रूप से है? उसके 16 वीं सदी वाले रूप से या उसके 18 वीं सदी वाले रूप से या आज के रूप से? ये सारे रूप एक जैसे नहीं हैं"[1]। हौली मौखिक परंपराओं में बिखरे कवि और कविता के रूपों को आलोचकीय काम ख़ासकर एक राय निर्मिति में प्रमुख बाधा मानते हैं।

मीरां के मामले में हौली **'भूमिगत धाराओं'** की बात करते हैं जिनमें से यह बात उभरकर सामने आती है कि यह धराएँ भूमि के अंदर बहती रहीं और प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। इन भूमिगत धराओं का अनुमान किया जा सकता है। इसलिए हौली, मीरां तक पहुँच को कठिन मानते हैं क्योंकि वहाँ कविता को समझने का कोई एक निश्चित कोश नहीं है और किसी एक कोश के न पाए जाने के कारण मीरां की कविता की कई विशिष्टताओं का मूल्यांकन नहीं हो पाता है। इनके मूल कारणों में ये भूमिगत धाराएँ अपनी प्रमुख भूमिका का निर्वाह करतीं हैं। इन धाराओं का परिचय अध्येताओं को कभी-कभी और कहीं-कहीं अनायास हो जाता है। इस कारण अध्येता कुछ भी निश्चित करने की स्थिति में नहीं रहता है। न तो कवि और काव्य की ऐतिहासिकता की पुष्टि हो पाती है और न ही उसकी प्रामाणिकता की।

सूरदास के पदों के साथ यह बात संलग्न है कि वहाँ पर उनके बाद उनसे मिलती-जुलती कविताओं की रचना की गई और सूरसागर का आकार विस्तृत होता गया। यही प्रक्रिया मीरां की कविता के संबंध में भी सम्पन्न होते हुए अपनी आलोचना में हौली मानते हैं। **"अकेले सूर ही ऐसे कवि नहीं थे जिनकी जानकारी के बग़ैर उनकी मृत्यु के बाद भी उनके कविताओं के कोश में भरी वृद्धि की गई। यह कई कवियों के साथ हुआ ख़ास तौर से राजस्थान की प्रसिद्ध राजपूत रानी मीरांबाई के साथ"[2]।** हौली इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि जितने (नाम) मीरांबाई के नाम के ठप्पे के साथ प्रचलित हैं तथा जितनी रचनाएँ मीरां के नाम से प्रचलित हैं सबको 16 वीं सदी की किसी एक रानी ने रचा होगा। ,सूर की तरह मीरां में कुछ ऐसा रहा होगा जिसने बाद के रचनाकारों को उनका (नाम) अपनाने को आकर्षित किया होगा। हौली द्वारा मान्यता जो यहाँ प्रस्तुत है मौखिकता की अंतर्धारा के कारण सामने आयी। लेकिन इसमें एक बात एकदम निराधार है कि यदि कोई रानी है तो वह प्रचुरता

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-25

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-52

में रचना लेखन नहीं कर सकती या यह असंभव सा है। इसे माना जा सकता है कि अन्य ने उनके नाम पर लिखा लेकिन इसका भी तो कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

आलोचक द्वारा एक संभावना यह भी व्यक्त की गई है कि महिलाओं को उस समय में लिखने की तथा खुद को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता नहीं थी। तो यह हो सकता है कि **"वे महिला थीं इसीलिए कई कवयित्रियों के लिए इनका नाम एक ओट बन गया होगा। यह भी संभव है कि मीरांबाई ने जो कविता रची वह कई सदियों तक वाचिक परंपरा में प्रचलित रही हो और उसके बाद उन्हें लिखित परंपरा में शामिल करने की शुरुआत की गई हो"[1]।** इसीलिए हौली, मीरां के प्राप्त रचना संकलन को अकेले मीरां का स्वीकार नहीं करते हैं।

जो प्रारम्भिक पांडुलिपियाँ मीरां की प्राप्त हुई हैं उनके लिए हौली ने अपने लिए दोराहे की उपमा दी है। वह कविता के रचनाक्रम और मूल से प्रक्षिप्तता की ओर बढ़ते हुए 'आइसक्रीम कोन या कप केक' की उपमा देते हैं। जिसके सबसे निचले भाग में मीरां द्वारा रचित कविताओं को स्थान देते है, यह वह कविताएँ हैं जो 17 वीं सदी में दिनांकित पांडुलिपियों में पाई गई हैं। आख़िरी बिन्दु पर मात्र एक या दो कविताएँ हो सकती हैं जो आगे समय के साथ बढ़ती जाती हैं। 19 वीं सदी तक आते-आते यह काफी विस्तृत होता जाता है। जो कोन के ऊपरी चौड़े भाग की उपमा देते हुए हौली व्याख्यायित कर समझाने का प्रयास करते हैं।

यहाँ मीरां के मूल पदों या मूल रचना के संबंध में प्रश्न है जिसे हौली काफी कम संख्या में मानने के पक्षधर हैं। मीरां के जो पद समय के साथ बढ़ते गए उसे मौखिक परंपरा में समय के साथ हुई निर्मिति से जोड़ते हैं। वह केवल मीरां की सदी की एक ही कविता को प्राप्य मानते हैं, जिस पर मीरां के हस्ताक्षर प्राप्त होते हैं।

मीरां की कविता में दो प्रकार का सम्बोधन हौली मुहर के माध्यम से पाते हैं मुहर का एक मानवीय पक्ष तथा दूसरा दैवीय पक्ष वह कुछ विशेष युक्ति तथा पदबंध द्वारा इसे पहचान करने का दावा भी करते हैं **"अंत में मीरांबाई का ज़िक्र जिनकी मुहर उनके मानवीय नाम को प्रायः इस तरह विस्तार देती है कि उसमें उनके दैवी समकक्ष को शामिल माना जा सके बार-बार उनका हस्ताक्षर 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' रूप में दिखता है इससे यह अनुभूति होती है कि पूरा मुहावरा भक्ति के एक ठोस उद्गार के रूप में हैं। जिसमें जोर मीरां और उनके प्रभु दोनों पर बँटा हुआ है"[2]**। दोनों हस्ताक्षरों में कोई एक गौण नहीं है

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-52

[2] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-64

बल्कि दैवीय और मानवीय दोनों समान हैं। मीरां की कविता के संदर्भ में यह कहा गया है कि मीरां के नाम ने कई महिलाओं को अभिव्यक्ति देने का अवसर प्रदान किया होगा। तो क्या रचनाकारों ने इस परंपरा में शामिल होकर अपनी रचनाओं का दावा बाद में कभी किया होगा या मीरां को उन्होंने अपना काव्य उसी तरह समर्पित कर दिया जैसे सूरदास के संबंध में कल्पित किया गया? कि उनके बाद उनके सम्मान में अंधे कवियों ने अपनी कविताएं समर्पित कीं।

हौली के अनुसार मीरां का हस्ताक्षर कई महिलाओं की आवाज़ बना और उनको स्वर देने का काम कर रहा था। वह महिलायें पद के अंतिम पंक्ति में मीरां का नाम दे देती थीं और आमतौर पर आलोचना संसार में यह चलन है कि पंक्ति के अंत में पद में रचनाकार के रूप में मीरां का नाम आता है तो वह पद मीरां का मान लिया जाएगा। हौली, मीरां के व्यक्तित्त्व की निर्भीकता तथा कविता के प्रसार को रेखांकित और मीरां की ख्याति मध्यकाल से लेकर आज के युग तक सबसे ज़्यादा बताते हैं।

वह निर्भीकता ही थी मीरां कि जो उस दौर में जब राजपूताने में रानियों का पति के साथ ज़िंदा आग की लपटों में जलकर सती हो जाना आम बात थी,वह अपने समाज और परिवार से शत्रुता मोल ले लेतीं हैं। कर्नल टॉड ने मीरां की बाबर से भेंट का उल्लेख किया है लेकिन हौली, मीरां की इस भेंट का अकबर के साथ होना मानते हुए इसे इतिहास की प्रामाणिक घटना की तरह से उल्लिखित करते हैं। **"इसी तरह वे मुगल बादशाह अकबर को भी सम्मोहित कर लेती हैं, उस काल के संतचरितों में बार-बार जिस अकबर का उल्लेख मिलता है वह अकबर उनका गायन सुनने के लिए मीरां तक आ जाता है। अपने मुख्य संगीतकार तानसेन के साथ एक आम आदमी के भेष में मीरां के पास पहुँच जाता है। इससे पता चलता है कि सत्संग में ओहदा या धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता था"[1]।** मीरां को अकबर के समय का वैचारिक रचनाकार टॉड द्वारा पहले ही बताया गया है यहाँ हौली भी सत्संग और उनकी प्रसिद्धि को आधार बनाकर यही स्थापित कर रहे हैं। वह मीरां की ख्याति बादशाह अकबर से लेकर आम घरेलू महिलाओं तक एक व्यापक प्रसार क्षेत्र में पाते हैं। काल संदर्भ में भी वह सबसे ख्यात कवयित्री मीरां को मानते हैं।

हौली का ज़ोर इस बात पर नहीं है कि वह समाज समता का था या वहाँ कोई भेदभाव नहीं था बल्कि अकबर के वैचारिक सरोकार ऐसे थे कि वह समता का व्यवहार करता था। इस प्रसंग के विपरीत दूसरी ओर मीरां की भेंट वृंदावन यात्रा करते समय जीव गोस्वामी से हुई थी उसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा -**"वैसे भक्ति आंदोलन में हर कोई ओहदे और दूसरे**

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-73

आधारों पर भेदभाव के प्रति अकबर की तरह उदासीन नहीं था। अगला प्रकरण मीरां की वृंदावन यात्रा का है वहाँ उन्हें महत्त्वपूर्ण वैष्णव दार्शनिक जीव गोस्वामी से मिलने नहीं दिया जाता है"[1]। यह महत्त्वपूर्ण और बहुत ज़्यादा प्रासंगिक प्रश्न है कि क्या मठों के महंत और मस्जिदों के मौलवी हमेशा की तरह यहाँ भी अपनी श्रेष्ठता के आगे किसी को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे? यह नामदेव, कबीर तथा मीरां और नरसी के साथ व्यवहार से समझा जा सकता है, जहाँ उन्हें भक्ति के अपने मार्ग पर चलने के कारण परंपरावादियों और रूढ़िवादियों द्वारा परेशान किया गया।

[1] अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली ,भक्ति के तीन स्वर ,राजकमल प्रकाशन,पृष्ठ-73

निष्कर्ष-

भक्तिकविता में विभाजन के आधार भक्तिकाल में अवश्य न मिले हो लेकिन बाद के आलोचकों ने इस काव्य को कई स्तरों पर विभाजित कर अध्ययन किया। जिस पुनरुत्थान युग की घटना को ग्रियर्सन ने महत्त्वपूर्ण माना उसमें प्रमुख घटना कवयित्रियों का भक्ति के क्षेत्र में आगमन है। मीरां इसकी सशक्त हस्ताक्षर रहीं और यूरोपीय संत नारियों से इसकी तुलना करते हैं। तुलना में प्रतिमान के रूप में रामभक्ति काव्य है जिसमें वह 'नैतिकता' ज़्यादा देखते हैं। उन्हें लगता है कि कृष्णभक्ति 'भ्रष्ट करने वाली' है। वह उसे 'व्यभिचारपूर्ण' और 'अनाम वीभत्सनाओं' का काव्य मानते हैं। नाथपंथ और बंगाल का प्रभाव लक्षित करते हुए इसका भविष्य रामकाव्य से कम मानते हैं। इसके पीछे उनके अपने तर्क हैं।

ग्रीब्ज, सूरदास को ब्रजभाषा के प्रतिष्ठापक के रूप में सामने लाने का काम करते हैं। जिसका ज़िक्र शुक्ल जी भी करते हैं और केई इसे एक अलग शाखा के रूप में उद्धृत करते हुए लोकभाषा को अपनाने के कारण महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस शाखा में मौजूद आत्मसमर्पण को वह ज़्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हौली भारतीय क्लासिक के नाम पर पश्चिम में जो सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध ग्रंथ है उसे 'भगवतगीता' कहते हैं। विलियम जॉन्स के स्थापित अवधारणा के विरोध में इसे कालजयी व उत्कृष्ट रचना मानते हैं।

हौली मानते हैं कि, कृष्ण की लीलाओं ने, रणनीतिकार रूप ने पश्चिम को ज़्यादा प्रभावित किया। इस आंदोलन के साथ ब्रजभाषा का भी विकास हुआ और इसमें जो मांसलता हमें देखने को मिलती है, वह मुगल दरबार की समीपता के कारण इस काव्य में स्वतः प्रवेश कर गई है। इसी का प्रभाव है कि कृष्ण का किशोरवय रूप ज़्यादा प्रचलित है। हौली ने भारतीय मानस की उस कमजोरी की ओर इशारा किया है, जिसमें 'स्त्री की लालसा' प्रमुख रूप से ज़्यादा पसंद की जाती है। वह कृष्णभक्ति काव्य के रूप में पुरुष आकांक्षापूर्ति, उसकी लालसा की आकांक्षापूर्ति को देखते हैं। जो स्त्री विमर्श का एक प्रमुख पहलू है और एक 'रिंग (काल्पनिक)' का निर्माण करते हैं। जिसमें पुरुष की आकांक्षाएं ही प्रमुख होती हैं।

विद्यापति के संबंध में हिंदी आलोचक उनके मत, संप्रदाय के विषय में सशंकित हैं। लेकिन बीम्स प्रथम वह आलोचक थे, जिन्होंने विद्यापति को 'बंगाल का वैष्णव कवि' कहा। उनके इस अध्ययन पर पूर्व में लिखे गए निबंधों का प्रभाव दिखता है। इसके बाद जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने बंगाल के शारदाचरण मित्र के बाद विद्यापति के पदों के संकलन का काम किया और शायदाचरण मित्र के संकलन को अमान्य कर दिया। उन्होंने शारदाचरण मित्र को विद्यापति को *'जबरन बंगाली घोषित करने का'* उपक्रम चलाने वाला बताया। विद्यापति को

'मैथिली के कवि' के रूप में स्थापित करते हुए वह आलोचना में जीवन- वृत्त निर्धारित करने का काम करते हैं और विद्यापति को 'वैष्णवकवि' के रूप में स्थान प्रदान कराते हैं।

ग्रियर्सन पूर्वी हिंदुस्तान में उनके गीतों की व्यापकता और अनुकरणकर्त्ताओं द्वारा 'वासनामय गीतों' में बदल देने के कार्य को महत्त्व दिया तथा साथ ही विद्यापति के कई सरोकारों की चर्चा की। उनके गीतों को घर-घर में गाए जाने की बात को रेखांकित करते हुए विद्यापति की लोकप्रियता को स्थापित किया।

ग्रीब्ज स्पष्टतया विद्यापति के गीतों को 'वैष्णव भजन' के रूप में वर्णित करते हैं और बांग्ला में प्रचलित विद्यापति के गीतों को मूल मैथिली का अनुवाद मानते हैं क्योंकि उनकी लोकप्रियता इतनी ज़्यादा थी कि बहुत लोगों ने उनका अनुसरण करते हुए कविता लिखी थी। ग्रीब्ज हिंदी के 'प्रथम नाटककार' के रूप में विद्यापति की चर्चा अपने इतिहास में करते हैं।

केई, विद्यापति के गीतों का प्रसार बंगाल तक मानते हैं। वह उन्हें 'वैष्णव साहित्य का प्रथम कवि' मानते है। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति न होगी जहाँ हिंदी के आलोचक विद्यापति को भक्ति साहित्य में स्थान न देकर 'फुटकल कवियों' में स्थान देते हैं, वहीं पश्चात्य आलोचक भाषा, गीत, प्रसार, उद्गम आदि को स्थापित कर उन्हें बिना किंतु-परंतु के 'वैष्णव कवि' घोषित करने का काम करते हैं।

कृष्णभक्ति कविता के अगले प्रमुख स्वर सूरदास के संबंध में इतिहासकारों ने अपना मत तथा विवेचना प्रस्तुत की है। तासी ने किंवदंतियों के आधार पर एक 'सूरदासी पंथ' की संकल्पना करते हुए, इस पंथ में सूर को बताया तथा इनकी कविता को 'विशन पद' या 'विष्णुपद' के नाम से अपने इतिहास में स्थान दिया।

सूरदास की कविता को तासी द्वारा 'रागपद' कहा गया जो ग़ज़ल से मिलती-जुलती विधा के रूप में मानकर सूरसागर को 'फारसी लिपि' में लिखित माना है। जो छाप 'सूर' की कविता में देखने को मिलती है वह तासी की नजर में उर्दू ग़जल का 'तख़ल्लुस' है।

ग्रियर्सन अष्टछाप के द्वारा कृष्णभक्ति के प्रसार को मानते हुए इस भक्तिसंप्रदाय में संगीत के विशेष महत्त्व को रेखांकित करने का काम करते हैं। वह सूरदास का जीवनवृत्त तैयार करते हुए कई पक्षों से आलोचना में विचार करते हैं। परंपरा प्रचलित किंवदंतियों से इतर सूरदास को 'राजवंश' से संबंधित बताते हैं और तुलना करते हुए कविता के क्षेत्र में 'तुलसीदास' को श्रेष्ठ बताते हैं।

ग्रीब्ज ने वल्लभाचार्य को हिंदू धर्म पर 'घातक प्रभाव डालने वाले' विचारक के रूप में विचार करते हुए कृष्णभक्ति कविता के विकास में उसके योगदान का लक्षित किया है। भागवतपुराण का सूरसागर न तो अनुवाद कहा जा सकता है न ही सारांश। ग्रीब्ज इसे 'भागवत की पुनर्रचना' कहना ज़्यादा उपयुक्त मानते हैं। सूरदास के पदों की संख्या से संबंधित किंवदंतियों पर ग्रीब्ज द्वारा अविश्वास किया आलोचना में जताया गया है। वह कविता की मधुरता/ संगीतात्मकता को महत्त्व प्रदान करते हुए तुलसीदास से पृथक प्रथम स्थान प्रदान करने का काम अपनी आलोचना के माध्यम से करते हैं। कल्पना के प्रतिमान आधार पर सूरदास को तुलसीदास से कमतर स्थान प्रदान करते हैं।

केई ने भी इस भक्ति आंदोलन में वल्लभाचार्य के महत्त्वपूर्ण योगदान को रेखांकित किया है और अपनी स्थापना में 'सूरदास को ब्राह्मण वंश' का कवि बताया है।

स्वतंत्र पश्चिमी आलोचकों के आलोक में अगर सूरदास की कविता को देखें तो पहला नाम जॉन स्ट्रेटन हौली का हमारे सामने आता है। इसमें वह सूरदास की कविता के पाठानुसंधान पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं तथा' 'मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो' जैसे पद को प्रक्षिप्त बता देते हैं। पांडुलिपि की अनुपलब्धता के कारण वह पदों की संख्या को सीमित करने का काम करते हुए, इस फर्जीवाड़े को उजागर करते हैं। जिसमें सूर के नाम से बाद में रची गई पांडुलिपियों को फर्जी घोषित कर देते हैं। विशेष पाठक वर्ग सूर से अवश्य जुड़ा रहा लेकिन वह इन्हें 'पंथनिरपेक्ष कवि' के रूप में स्थान देते हैं। वह एक 'बिचौलिया वर्ग' की भूमिका सूर के संदर्भ में रेखांकित करते हैं। जो सूर के नाम से भक्तिकविता की रचना कर रहा था। नाभादास की भक्तमाल में सूरदास की नेत्रहीनता की चर्चा नहीं मिलती, इसी आधार पर वह इस प्रसंग पर विचार करते हैं। अंत में अंधता के संबंध में वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते क्योंकि सभी संभावनाएं लगभग बराबर ही रहती हैं।

सूर के बाद कृष्णभक्ति कविता में प्रमुख स्वर मीरांबाई का है। इतिहास लेखकों ने मीरां के जीवन, कविता के विभिन्न संदर्भों पर कलम चलाई है। तासी, मीरांबाई को 'वैष्णव उपासिका' और हुमायूं के शत्रु विक्रमजीत की मां के रूप में उद्धृत करते हैं। संदर्भ के लिए तासी ने भक्तमाल तथा कर्नल टॉड की पुस्तक 'राजस्थान' का सहारा लिया है। तासी बार-बार तुलना करते हुए मीरां के पदों को जयदेव के समकक्ष मानते हैं जो कि टॉड द्वारा की गई स्थापना की पुनःप्रस्तुति मात्र है। ग्रियर्सन ने मीरां की कविता को 'भावोच्छ्वासपूर्ण गीत' के रूप में अपने इतिहास में स्थान दिया है। यह भी अपनी मान्यताओं को टॉड के इतिहास के आधार पर पुष्ट करते हैं।

एडविन ग्रीब्ज, मीरांबाई को अपने इतिहास ग्रंथ में संत कवियों में 'प्रथम स्थान' प्रदान करते हैं। और समकालीनों में उनका महत्त्व निर्धारित कर, एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में स्थापित करने का काम करते हैं।

केई, मीरां की जीवन विषयक घटनाओं पर दृढ़ होकर जोर न देकर अनुमानतः वर्णित करने की पद्धति को अनुसरित करते हैं और मीरांबाई को हिंदी कविता में 'सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त कवयित्री' मानते हैं। मीरां-रैदास-रामानंद संबंध पर प्रकाश डालते हुए विचार परिवर्तन में भूमिका की बात को महत्त्व प्रदान किया गया है।

मीरां के स्वतंत्र आलोचकों में कर्नल टॉड, नैंसी मार्टिन, जॉन हौली आदि का नाम प्रमुख रूप से आया है। टॉड रूमानियत से प्रभावित थे। इसी कारण मीरां की जीवनकथा में रोमानियत के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने जनश्रुतियों और ऐतिहासिक तथ्यों के मिश्रण से 'मीरां का जीवनचरित' गढ़ने का काम किया।

हरमन गुस्ताव गोएत्जे ने मीरां के समय और जीवन पर एक पुस्तक लिखी। जिसे प्रोफेसर माधव हाड़ा ने 'विभाजित मस्तिष्क' के रूप में व्याख्यायित किया। हरमन ने भी देशज स्रोतों के प्रति अविश्वास जताया और इन्हें 'मूर्खतापूर्ण स्थापना' से युक्त रचनाएँ माना। वह मीरां को समाजसेविका, मिशनरी कवयित्री तथा कलाकार के रूप में अपनी पुस्तक में प्रस्तुत करते हैं। इस तरह वह 'अकबर के काल की वैचारिक रचनाकार' के रूप में मीरां को स्थान प्रदान करते हैं। वह मीरां को या तो 'अलौकिक' मानते हैं या 'अति -विशिष्ट' लेकिन मीरां को 'मीरां' नहीं रहने देते। इसलिए माधव हाड़ा, हरमन गोएत्जे की स्थापनाओं के संबंध में कहते हैं- 'इनकी स्थापनायें ऐतिहासिक कम तथा मनमानी ज़्यादा है'।

फ्रांसिस टैफ्थ ने मीरां के 'गीत परंपराओं' को ध्यान में रखकर अपनी पुस्तक में मीरां की कविता की आलोचना की और कैलवर्त्त के उस प्रश्न को उठाया जिसमें महिला रचनाकार होने के कारण, मीरां की कविता को लिपिबद्ध होने के लिए बहुत समय तक इंतजार करना पड़ा। संपादकों के चयन पर भी प्रश्न उठाया क्योंकि मौखिक परंपरा की मीरां ज़्यादा 'आक्रामक और मुखर'थीं।

मीरां के क्रांतिकारी मान्यताओं वाले पदों को संकलित न कर संकलनकर्त्ताओं और संपादकों ने एक राजनीति की क्योंकि इससे उनकी नैतिकता को ठेस लग रही थी। हौली ने 'भक्ति के तीन स्वर' पुस्तक में मीरां के संबंध में भी आलोचकीय विचार किया है और उनकी कविता में 'चरितलेखन का तत्त्व' औरों से ज़्यादा पाया है। इसी आत्मचरित को आधार बना

वह इसके उलट वास्तविकताओं की कल्पना करते हुए आधुनिक मानस में मीरां की छवि की स्वीकार्यता को ज़्यादा सहज मानते हैं।

क्योंकि आधुनिक मानस मीरां से ज़्यादा प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। हौली, मीरां के साथ अन्य भक्तकवियों के रूप पर बात करते हैं तो, उस कवि को प्रत्येक शताब्दी के अलग रूप की चर्चा करते हुए मीरां के संबंध में 'भूमिगत धाराओं' का वर्णन करते हैं। वह मानते हैं कि मीरां की मृत्यु के बाद भी मीरां के नाम से कविताएं लिखी जाती रही। मीरां के नाम की छाप के सहारे कई महिला रचनाकारों को स्वर मिला जिससे वह अपने को अभिव्यक्त कर सकीं।

अध्याय- 5

रामभक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना

अध्याय विवरण-

5.1- रामकाव्य के पाश्चात्य अध्येता: सामान्य परिचय

5.2- गार्सा-दा-तासी का इतिहास और रामभक्ति काव्य

5.3- जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की आलोचना और रामभक्ति काव्य

5.4- रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज का इतिहास और रामभक्ति काव्य

5.5- एफ. ई. केई का इतिहास और रामभक्ति काव्य

5.6- फ़ादर रेवरेंड कामिल बुल्के की आलोचना और रामभक्ति काव्य

5.7- शर्तोल वोदिविल की आलोचना और रामभक्ति काव्य

5.1- रामकाव्य के पाश्चात्य अध्येता: सामान्य परिचय-

रामभक्तिकाव्य के हिंदी आलोचकों की एक लंबी परंपरा और उनका दायरा है परंतु इस धारा को पाश्चात्य आलोचकों के आलोक में देखें तो हमें वहाँ रामभक्ति कविता के नाम पर तुलसीकाव्य की आलोचना ही प्राप्त होती है। साहित्येतिहासों में कुछ स्थानों पर केशव, अग्रदास, नाभादास आदि का संक्षिप्त वर्णन ही मिल पाता है। उनका वहाँ जीवन, कविता और दर्शन से संबंधित कोई विशेष जानकारी या आलोचना साहित्येतिहास में प्राप्त नहीं होती है। अन्य कवियों की कविता के संबंध में केवल परिचयात्मक जानकारी देकर ही काम चला लिया गया है।

तुलसीदास के अलावा अन्य रामभक्त कवियों पर स्वतंत्र मूल्यांकन और विश्लेषण की पुस्तक प्राप्त नहीं हुई है। जिसमें इन कवियों के भक्तिकविता विषयक चिंतन पर विचार किया गया हो। इस बात का ज़िक्र करना इसलिए आवश्यक हो गया क्योंकि अध्याय प्रविधि के अनुसार अध्याय -5 रामभक्ति काव्य और पाश्चात्य आलोचना है लेकिन अधिकता से मूल्यांकन, सामग्री उपलब्धता के कारण तुलसीकाव्य का ही किया गया है।

सन् 1828 ईसवी में प्रकाशित पुस्तक **'द रिलीजस सेक्टस ऑफ हिंदूस'** में विल्सन ने तुलसीदास के विदेशी अध्ययन का सूत्रपात किया था। आज इस पुस्तक को प्रकाशित हुए लगभग 200 साल होने वाले हैं तब से आज तक विश्व के अधिकतम देशों में तुलसीदास की कविता, जीवन, आध्यात्म, भक्ति, दर्शन आदि पक्षों पर लगतातर शोध किया जा रहा है। रामभक्ति काव्य के पश्चिमी आलोचकों के आलोक में देखे तो अध्येताओं का तीन प्रमुख आधारों[1] पर विभाजन किया जा सकता है-

क. भौगोलिक दृष्टि से।
ख.रामकथा विषयक कार्य की दृष्टि से।
ग. कालक्रम के अनुसार।

क-भौगौलिक दृष्टि से-

पाश्चात्य से यहाँ आशय यूरोपीय महाद्वीप मे स्थित या भौगौलिक रूप से पश्चिम में अवस्थित देशों के अध्येताओं से है इसमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण काम करने वाले आलोचक निम्न हैं-

1. इंग्लैंड-

[1] मिश्रा,ऋचा, तुलसी काव्य के अध्ययन में विदेशी लेखकों का योगदान, भावना प्रकाशन, 1999

1. एच.एच. विल्सन
2. रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज
3. एस. एच. केलॉग
4. एफ.एस.ग्राउस
5. एल. डी.बार्नेट
6. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन
7. एन मैकमिलन
8. आई.एन.कार्पेंटर
9. विन्सेट स्मिथ
10. एफ.ई.केई
11. जे.ई. कार्पेंटर
12. ए. ए. मैक्डोनल
13. जे. एन. मेकफ़ी
14. डी.पी. हिल
15. ए.जी.एटकिंसन
16. एफ.आर.आलविन
17. जेफ़री परिंदर
18. ब्रायन ब्राउन
19. फ्रेंक व्हेलिंग
20. जे.एन.फर्कयुनहर
21. बेंजामिन वाकर
22. आर.एस.मेकग्रेगर

2.अमेरिका

1. वि.चा.मकडोंगल
2. जे.ई.बेबिनिउ
3. एच.एस.गोबेन

4. फ्रांस

1. गार्सा-दा-तासी

2. शारतोल बोदिविल

4.इटली

1. एल. पी. तेसितोरी
2. ई. तुर्वियनी

5.रूस

1. वारन्निकोव
2. एस. डी. सेरेब्रायने

6. पोलेंड

1. ततियाना रुत्कोवस्का
2. अनातोल स्तेर्ण
3. यूलयुस परनोवस्की

7. बेल्जियम

1. फ़ादर रेवरेंड कामिल बुलके
2. जी.पोलेट

8. चेकोस्लोवाकिया

1. व्लादिमीर मिलनर

9. नीदरलैंड

1, जी. एच. शाकर

ख-रामभक्ति विषयक अध्ययन को कार्य की दृष्टि से-

पाश्चात्य आलोचकों को तीन आधारों पर विभाजित किया जा सकता है -

1-समीक्षक- इसमें पाश्चात्य दुनिया के वह अध्येता शामिल हैं, जिन्होंने कोई स्वतंत्र पुस्तक लिखी है या काविता और कवि जीवन के किसी भी पक्ष पर कोई लेख लिखकर अपनी राय दी है। इनमें प्रमुख रूप से निम्न हैं –

1. एच.एच.विल्सन
2. गार्सा-दा-तासी

3. रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज
4. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन
5. एल.डी.बार्नेट
6. विन्सेट स्मिथ
7. एफ.ई.केई
8. जे.एन.कार्पेंटर
9. ए.ए.मैक्डॉनल
10. एच.एच.गोबेन
11. एफ.आर.अलविन
12. जेफ़री परिंदर
13. ब्रायन ब्राउन
14. जी.पोलेट
15. आर.एस.मेकग्रेगर
16. एफ. एस.ग्राउस
17. शरतोल वोदिविल
18. वरान्निकोव
19. जे.एन. फर्कयुनहर
20. टी.रुतकोवस्का
21. एस. टी. सेरेब्रायने
22. जी.एच.शाकर
23. बेंजामिन वाकर

2. अनुसंधानकर्ता- इसमें रामभक्ति साहित्य के वह अध्येता सम्मिलित हैं, जिन्होंने शोध की दृष्टि से रामकथा विषयक किसी भी पक्ष पर शोध किया है और अपनी स्थापना प्रस्तुत की है।

1. तेसितोरी
2.आइ.एन. कार्पेंटर
3. वि.चा.मैकडॉगल
4. वी.मिलनर
5. ई. जे.बेबिनिउ
6. एम.जे.मकफी
7. शरतोल वोदिविल

3. अनुवादक- इसमें रामभक्ति साहित्य विषयक वह पाश्चात्य अध्येता सम्मिलित किए गए हैं जिन्होंने रामायण, रामचारितमानस का पूर्णतः या अंशतः अनुवाद किसी भी भाषा में किया है।

1. एफ.एस. ग्राउस
2. वारान्निकोव
3. ए.जी.एटकिंसन्
4. शरतोल वोदिविल
5. डी.पी.हिल
6. आलचिन
7. यूलयुस पॉर्नोवस्की
8. अनतोंल स्तेर्ण

ग-कालक्रम की दृष्टि से –

इसमें सभी रामभक्ति काव्य विषयक अध्येताओं को उनके समयानुसार एक व्यवस्थित क्रम में लगाया गया है। जिससे अध्ययन की दिशा में क्रमिक विकास, उनका योगदान और किस अध्येता की स्थापना का प्रभाव किस पर पड़ सकता है? किस समय में कौन-कौन सा अनुवाद किस भाषा में उपलब्ध था? आदि पर विचार करने में आसानी हो।

1. एच.एच.विल्सन-1828
2. गार्सा-दा-तासी-1839
3. एडविन ग्रीब्ज-1875
4. एस.एच.केलोग-1875
5. एफ.एस. ग्राउस-1876
6. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन-1889
7. एल.डी.बार्नेट-1909
8. एल.पी. तेसीतोरी-1911
9. एम. मैकमिलन-1915
10. आई.एन. कार्पेंटर-1918
11. विनसेट स्मिथ-1919
12. एफ.ई.केई-1920
13. जे.एन.फर्कयुहर-1920
14. जे.ई.कार्पेंटर-1921

15. हरमन जकोबी-1926
16. ए.ए.मैकडॉनल-1929
17. जे.एम. मकफ़ी-1930
18. एच.एच. गोबेन-1931
19. वारान्निकोव- 1948
20. रेवरेंड फ़ादर कामिल बुल्के-1950
21. डगलस पी.हिल-1952
22. ए.जी.एटकिनस-1953
23. शरतोल वोदिविल-1959
24. एफ.आर.आलविन-1964
25. वी.मिलनर-1967
26. टी.रुतकोवसका-1968
27. जेफरी परिंदर-1970
28. ई.जे.बेबनिउ-1972
29. ब्रायन ब्राउन-1973
30. जी.पोलेट-1974
31. आर.एस.मैकग्रेगर-1976
32. ई.तुर्वियनी-1977
33. एस.डी.सेरेब्रायने-1978
34. फ्रेंक ब्लेलिग-1980
35. जी.एच.शोकर-वर्तमान में कार्यरत
36. यूलयुस पर्नोवस्की-वर्तमान में कार्यरत
37. अनातोल स्तेर्ण-वर्तमान में कार्यरत

प्रमुख प्राप्त अध्ययनों का सामान्य परिचय-

एच. एच. विल्सन-

तुलसी के जीवन और साहित्य पर विचार करने वाले प्रारम्भिक विदेशी अध्येताओं में एच.एच. विल्सन प्रथम अध्येता हैं। विल्सन के ग्रंथ 'द रिलीजस सेक्टस ऑफ हिंदूस' में तुलसीदास के राम विषयक, कृतित्त्व विषयक, सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के सन् 1860 ईसवी की वार्षिक रिपोर्ट में विल्सन के कृतित्त्व पर प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक छः भागों में प्रकाशित हुई थी जिसमें हिंदुओं के विभन्न धार्मिक संप्रदायों के संबंध में लेख,

निबंध और शोधपत्र आदि थे इसका संशोधित परिवर्धित संस्करण सन् 1861 ईसवी में आया लेकिन इसके पहले सन् 1828 ईसवी में 'स्केच ऑफ द रिलीजस सेक्टस ऑफ हिंदूस' प्रथम भाग 'एशियाटिक रिसर्चेस' में तथा द्वितीय भाग पुनः 'एशियाटिक रिसर्चेस' के ही सन् 1832 ईसवी के अंक में प्रकाशित हुआ था। विल्सन ने प्रमुख रूप से तुलसीदास के जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला है। उनके द्वारा दी गयीं सूचनाएँ परंपरा की पुनरावृत्ति मात्र हैं। इसमें जनमानस में प्रचलित किंवदंतियाँ को प्रमुखता दी गई है।

1. शाहजहाँ से तुलसीदास की भेंट का प्रसंग।

2. शाहजहाँ द्वारा तुलसी को बंदी बना लिया जाना तथा बाद में बंदरों के प्रकोप से आतंकित होकर तुलसीदास को मुक्त किया जाना।

3. शाहजहाँ द्वारा दिल्ली को छोड़कर नया शहर शाहजहाँनाबाद नाम का नया नगर बसाया जाना।

विल्सन ने तुलसी की रचनाओं का प्रभाव तथा रामचरितमानस के साथ विनयपत्रिका पर भी विचार किया है। विल्सन द्वारा दिए गए तथ्य परंपरा प्रचलित किंवदंतियों और अनुमान पर आधारित है। इनके द्वारा दी गयीं सूचनाओं से तुलसी विषयक कोई नवीन तथ्य या स्थापना उद्घाटित नहीं होती है लेकिन पश्चिम की दुनिया को प्रारंभिक सामग्री देने के कारण विल्सन के अध्ययन का इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान है।

गार्सा-दा-तासी-

हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक फ्रांसीसी विद्वान गार्सा-दा-तासी द्वारा लिखा ग्रंथ ‘इस्तवार द ल लितरेत्युर एन्दुई एनदुस्तानी’ (हिंदुई और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास) कविवृत्त संग्रह शैली में लिखा गया प्रथम प्रयास था। तासी के कृतित्त्व के संबंध में शोध के प्रथम अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है यहाँ मात्र तुलसीदास विषयक कृतित्त्व का परिचय ही अपेक्षित है।

प्रथम संस्करण की दूसरी जिल्द में उद्धरण तथा विश्लेषण हैं और अन्य कवियों के साथ-साथ तुलसीदास विषयक सूचनाओं को संकलित किया गया है। इसी संस्करण मे तासी ने सुंदरकांड के प्रारम्भिक अंश का अनुवाद भी किया है। द्वितीय संस्करण में तुलसी संबंधी पूर्वोक्त सूचनाओं के साथ कुछ नवीन सामग्री भी जोड़ दी गई है। गार्सा-दा-तासी ने तुलसी संबंधी जो सूचनाएँ प्रस्तुत की उनमें तुलसीदास का जीवनचरित (इसका आधार नाभादास का भक्तमाल है) विभिन्न जगहों पर तासी, मानस को ‘रामायण’ ही कहते हैं और रामचरितमानस के विभिन्न संस्करणों का विवरण दिया है। जिनमें से अब ज़्यादातर अप्रामाणिक तथा संदेहास्पद हैं तासी ने सुनी-सुनाई बातों को ज्यों का त्यों रख दिया।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज-

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज ने मानस के व्याकरण के अतिरिक्त तुलसी के जीवन एवं कृतित्त्व के बारे में भी लिखा है। तुलसी संबंधी ग्रीब्ज के कृतित्त्व की जो सूचनाएं मिलती हैं वे इस प्रकार हैं-

1. नोट्स ओन द ग्रामर ऑफ तुलसीदास रामायण- 1875।
2. ‘गुसाईं तुलसीदास का जीवनचरित’ नामक लेख ,नागिरी प्रचारिणी पत्रिका के तीसरे भाग में सन् 1899 में प्रकाशित।
3. हिंदी साहित्य का रेखांकन (इसके पाँचवे अध्याय में तुलसीदास से संबंधित विचार रखे हैं)।

ग्रीब्ज की यह तीन कृतियाँ हैं जिनका जिक्र मिलता है लेकिन इनमें से केवल हिंदी साहित्य का रेखांकन पुस्तक ही उपलब्ध है।

डॉ. एफ.एस.ग्राउस-

एफ.एस.ग्राउस रामचरित मानस के आरंभिक अनुवादक थे। ग्राउस ने अंग्रेजी पद्यानुवाद के माध्यम से अंग्रेजी पाठकों व यूरोप के लिए तुलसीदास को बोधगम्य बनाया ‘द रामायण

ऑफ तुलसीदास' शीर्षक अनुवाद के अतिरिक्त ग्राउस के किसी अन्य तुलसी विषयक कृतित्त्व की सूचना नहीं मिलती है। डॉ. ग्रियर्सन ने इसे मानस की मौलिकता का परिचायक बताया था। उन्होंने लिखा- **"जबसे ग्राउस कृत मानस का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है तबसे आलोचकगण यह स्वीकार करने लगे हैं कि तुलसी की यह कृति किसी भी प्रकार से वाल्मीकि रामायण का अंधानुकरण नहीं है"[1]।**

इसीलिए यह कहा जा सकता है कि ग्राउस के अनुवाद ने पश्चिम से मानस का परिचय कराया जिसकी पुष्टि जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने की है।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन-

रामचरितमानस एवं तुलसी के समस्त महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर सर्वप्रथम गंभीर एवं प्रामाणिक अध्ययन ग्रियर्सन ने ही किया, तुलसी संबंधी तथ्यपरक आलोचना का सूत्रपात भी इन्हीं के द्वारा हुआ। इतिहास के प्रथम अध्याय में चर्चा करते समय ग्रियर्सन के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व पर विस्तार से चर्चा कर ली गई है। तुलसी विषयक कृतित्त्व में ग्रियर्सन के चिंतक व अनुसंधानकर्त्ता का महान स्वरूप सामने आता है। वास्तव में तुलसी के जीवन व साहित्य का कोई भी ऐसा बिन्दु नहीं है जिसे ग्रियर्सन ने विवेचित न किया हो।

'मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर' का छठवाँ अध्याय तुलसीदास पर है। इसमें जीवन रचनाओं की नामावली, मानस कि महत्ता, पाठ विकृति या प्रक्षिप्तता का प्रशन, टीका, विवेचना, रचना शैली तथा परिशिष्ट में पाठांतर त्रुटियों और अशुद्धियों की चर्चा की है। 'नोट्स ऑन तुलसीदास' में ग्रियर्सन के पाँच लेख मिलते हैं –

प्रथम में रचना तिथियों या रचनाक्रम का परीक्षण किया गया है। द्वितीय लेख में कवि नाम से जानी जाने वाले 21 ग्रंथों की प्रामाणिकता को परीक्षित किया गया है। तृतीय लेख में वैराग्य संदीपनी, बरबै रामायण, पार्वतीमंगल, रामलला नछहू, जानकी मंगल, रामाज्ञा प्रश्नावली आदि पर विचार किया गया है। चतुर्थ लेख में दोहवाली और पंचम में कवित्व रामायण, गीतवाली या गीत रामायण , कृष्णगीतावाली विनयपत्रिका तथा मानस के कुछ अवतरणों को उदाहरण सहित सानुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत किया है।

'रॉयल एशिआटिक सोसाइटी' के 1908 के जर्नल में ग्रियर्सन के तुलसी विषयक दो लेख प्रकाशित हुए दोनों में ही तुलसी के जीवनकाल में फैली बीमारी को श्री सुधाकर द्विवेदी के अनुमान को स्वीकार करते हुए प्लेग या ताऊन सिद्ध किया। इसकी ऐतिहासिकता के आधार

[1]जर्नल ऑफ रॉयल एशिआटिक सोसाइटी 1912 पृष्ठ-779

पर कवि का जीवनकाल निर्धारित किया, सन् 1903 ईसवी के जर्नल में तुलसी के कवि एवं सुधारक स्वरूप की चर्चा की गई इसमें तुलसी के कवित्व, धर्मसुधारक तथा लोकप्रियता आदि पक्षों पर अधिक बल दिया गया है। सोसाइटी के 1912 के लेख में टोसितोरी की इस मान्यता का खंडन किया था कि मानस रामायण का रूपांतरण है। ग्रियर्सन की इस स्थापना से मानस की मौलिकता को भी बल मिला था। इन्होंने 'इंपीरियल गजेटियर' में रामकाव्य परंपरा के अंतर्गत तुलसी का उल्लेख करते हुए उनके विशिष्ट स्थान को रामभक्ति साहित्य में सुरक्षित रखते हुए उनकी महानता की चर्चा की है।

फादर कामिल बुल्के-

फादर कामिल बुल्के, गोस्वामी तुलसीदास और उनके साहित्य से बहुत प्रभावित थे सन् 1935 ईसवी में भारत आने से पहले ही अपने देश बेल्जियम में एक जर्मन ग्रंथ में छपे तुलसी के कतिपय चौपाइयों के अनुवाद को पढ़कर उनके अंदर जिज्ञासा जागी थी और उनके हृदय में मानो एक मधुर संगीत सुनाई दिया था।

'धन्य जनम जगती तल तासू

पितप्रमोदु चरित सुनि जासु

चारि पदारथ करतल ताके

प्रिय पितु मातु प्रान बस जाके'

उन्होंने इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा- **"मैं प्रभावित हुआ और उसी समय मेरे हृदय में तुलसी के प्रति श्रद्धा का भाव उद्भूत हुआ सन् 1935 में भारत पहुंचकर खड़ी बोली का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत मैं तुलसी की रचनाएँ पढ़ने लगा। इसके फलस्वरूप मुझ पर एक प्रकार का जादू हो गया। मैं आज तक तुलसी साहित्य का अनुशीलन करता रहा हूँ और ऐसा लगता है कि आजीवन करता रहूँगा। मेरे हृदय और मेरे मानस दोनों पर तुलसी की अमिट छाप लग गई है"[1]।** फादर का तुलसी प्रेम भारत आने के पहले से ही था और जैसा कि उन्होंने इस व्याख्यान में स्वीकारा है कि ऐसा लगता है जैसे आजीवन मैं तुलसी अध्येता बना रहूँगा। यह सच भी साबित हुआ।

फादर बुल्के ने **'रामचरितमानस का रचनाक्रम'** जो 'हिंदी अनुशीलन पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। इसमें विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए रचनाक्रम निर्धारित करने का प्रयास फादर कामिल बुल्के ने किया था।

---

[1] बुल्के, रेवरेंड फादर डाक्टर कामिल 'मेरे अपने तुलसी' रामायण मेला अयोध्या में 16-19 दिसम्बर 1985

फादर बुल्के का शोधप्रबंध **‘रामकथा उत्पत्ति और विकास’** तो रामकाव्य का विश्वकोश माना जाता है जिसकी चर्चा आगे करेंगे। उपरोक्त सभी ने तुलसीदास की कविता पर महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कार्य किया है। जो लेख या पुस्तक के रूप में उपलब्ध हैं। लेकिन इसके इतर भी कई लेखकों ने तुलसी के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। इन्होंने अपने अध्ययन को शोध के रूप मे प्रस्तुत किया-

आई.एन.कार्पेंटर-

इन्होंने ‘थिओलोजी ऑफ तुलसीदास’ नामक शोधप्रबंध लिखकर लंदन विश्वविद्यालय से ‘डॉक्टर ऑफ डिविनिटी’ की उपाधि प्राप्त की थी। इस शोध के प्रथम भाग में हिन्दुत्व की ऐतिहासिक दृष्टि से व्याख्या है। द्वितीय अध्याय में भक्ति और उसके विभिन्न पहलुओं से संबंधित है। इसके तृतीय अध्याय का संबंध रामोपासना से है। चतुर्थ अध्याय में तुलसीदास के जीवन तथा उसकी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण दिया गया है। पंचम अध्याय में मानस की प्रमुख कथा का विवरण दिया गया है। इस प्रबंध के द्वितीय भाग में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय तुलसी अध्ययन के विविध पक्षों से संबंधित है। आई.एन.कार्पेंटर ने अपने शोधप्रबंध में तुलसीदास के दार्शनिक पक्ष का विविध दृष्टियों से अध्ययन किया है। किसी अभारतीय लेखक द्वारा तुलसीदास के दार्शनिक पक्षों के अनुशीलन का यह पहला अध्ययन था।

विन्सेट स्मिथ-

विंसेट स्मिथ ने **‘द ग्रेट मुग़ल’** नाम से एक पुस्तक लिखी थी। इसमें अकबर और उसके समकालीन साहित्य-कला का भी वर्णन किया गया है। इसी अध्याय के अंतर्गत तुलसीदास के जीवन, साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की है। इसमें लोकप्रचलित मान्यताओं, किंवदंतियों जैसे-तुलसीदास का अशुभ नक्षत्र में जन्म लेना, पिता द्वारा तुलसीदास का त्याग कर दिया जाना, साधु द्वारा तुलसीदास का पालन-पोषण किया जाना। कविता की समीक्षा में स्मिथ ने मानस की लोकप्रियता, मानस के कथ्य का धार्मिक महत्त्व और रचनाओं की साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। स्मिथ ने तुलसी की प्राकृतिक उपमाओं की प्रशंसा की है तथा उनके द्वारा किए गए रामचरित मानस के साहित्यिक सौन्दर्य और प्राकृतिक उपमाओं की प्रशंसा के कारण यह विवेचन काफी कलात्मक हो गया है।

एफ.ई.केई –

एफ.ई.केई ने **‘ए हिस्ट्री ऑफ हिंदी लिटरेचर’** नाम से हिंदी साहित्य का इतिहास ग्रंथ लिखा था। इसके अध्याय-6 **‘तुलसीदास एवं राम संप्रदाय’ (1550-1800)’** में तुलसी का

जीवन, भक्तिमार्ग एवं रचनाओं आदि का परिचय और संक्षिप्त टिप्पणी दी है। इन्होंने तुलसीदास के अतिरिक्त रामभक्ति काव्य से संबंधित अन्य रामोपासक भक्तों का भी परिचय दिया है।

अध्याय में तुलसीदास से संबंधित महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को संकलित कर दिया गया है। इसी के साथ अन्य का भी सम्यक मूल्यांकन एवं विवेचन लेखक ने किया है। इससे तुलसीदास के जीवन, कृतित्त्व के साथ-साथ तुलसी के समकालीन समय का साहित्यिक वातावरण भी देखने को मिल जाता है।

जे.ई.कार्पेंटर –

जे ई कार्पेंटर ने **'थीइस्म इन मिडिविल इंडिया'** नाम से एक ग्रंथमाला प्रकाशित की और इसमें 'तुलसीदास और रामोपासना' शीर्षक से तुलसी के जीवन, साहित्य, दर्शन व महत्त्व आदि की समीक्षा संक्षिप्त में की है। तुलसी के जीवन की रूपरेखा कार्पेंटर ने प्रचलित कथाओं एवं किंवदंतियों के आधार पर प्रस्तुत की इन्होंने मानस और वाल्मीकि रामायण का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया। मानस के पात्रों पर विचार करते हुए यह मानस के साहित्यिक सौन्दर्य से विशेष रूप से ज़्यादा प्रभावित थे। इनकी दृष्टि में मानस में आस्था, भक्ति व कर्तव्य आदि भावों का सर्वोत्कृष्ट निरूपण मिलता है। इसके अलावा मानस के महत्त्व, तुलसीदास की प्रसिद्धि, कविता की उपादेयता आदि पर भी अतिसंक्षिप्त विचार व्यक्त किए हैं।

शारतोल वोदिविल-

तुलसी के विदेशी अध्येताओं में अग्रणी तथा फ्रांस में तुलसी काव्य की एकमात्र विद्वान शारतोल वोदिविल हैं। तुलसी संबंधी गंभीर अनुशीलन का सूत्रपात करने वाले गिने-चुने विदेशी लेखकों में शारतोल का नाम लिया जाता है। इनका तुलसी विषयक कृतित्त्व निम्नलिखित है-

1. 'ल प्रॉबलम दला कंपोजिस्यों धु रामायण हिंदी द तुलसीदास (फ्रांसीसी में) प्राच्यविदों की अंतर्राष्ट्रीय काँग्रेस ,पेरिस रिपोर्ट- सन् 1948 पृष्ठ-193।
2. 'त्राधुस्क्यों फ्रांसेज द आयोध्याकाण्ड द्यु रामायण द तुलसीदास' थीसिस सन् 1950।
3. 'एटयूडे सुर लेस सोंर्सेज एट ला काम्पज़िशन डू रामायण दि तुलसीदास' (तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन)- इंस्टीट्यूट फ्रान्केइस द इंडोलोजी पॉन्डिचेरी सन् 1965 ।

शारतोल का पहला निबंध **'मानस की रचनाओं में आयी बाधायें'** इस निबंध का सिर्फ़ नाम ही मिलता है, यह उपलब्ध नहीं है। इस लेख की सूचना शारतोल ने अपने शोधप्रबंध में दी है। आयोध्याकांड के फ्रांसीसी अनुवाद के अलावा 'रामचरितमानस के मूलाधार' इनका प्रमुख शोधग्रंथ है जिसमें मानस के एक-एक प्रसंग की कथा के मूलाधार की उत्पत्ति पर विचार किया गया है।

ई.जे.बेविनिउ-

बेविनिउ तुलसी के आधुनिक अनुशीलनकर्त्ताओं में से एक हैं। इनकी रुचि तुलसी के दर्शन में है। इनकी निम्न कृतियाँ प्राप्त हैं-

1. 'द रिलीजस व्यू ऑफ तुलसीदास' (तुलसी की धार्मिक विचारधारा) -सन् 1972।
2. 'लव ऑफ गॉड एंड सोशल ड्यूटी इन रामचरितमानस (रामचरित मानस में ईश्वर प्रेम तथा सामाजिक कर्त्तव्य) -सन् 1979।

दूसरे ग्रंथ में इन्होंने रामचरितमानस में भगवतप्रेम एवं सामाजिक कर्तव्य की स्थिति की व्याख्या करते हुए विभिन्न उपपत्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तुलसी ने अपने सम्पूर्ण ग्रंथ में सर्वत्र ज्ञान एवं कर्त्तव्य की अपेक्षा ईश्वरप्रेम एवं भक्ति को ऊंचा स्थान दिया है। तुलसी ने अपने पात्रों के चरित्र उनका विन्यास, घटनाओं का चित्रण एवं स्रोत विशेषकर 'आध्यात्म रामायण' से समग्री ग्रहण करते समय भी उपयुक्त तथ्य का विशेष ध्यान रखा है। इसकी व्याख्या अध्याय 'तुलसी की भक्ति एवं दर्शन' में विस्तार से की गई है।

"तुलसी दर्शन एवं भक्ति के एक सर्वथा नवीन व अछूते विषय की सारगर्भित विवेचना करने के कारण बहुत ज़्यादा इस अध्ययन का महत्त्व है। इन्होंने उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि रामचरितमानस में ईश्वर प्रेम व भक्ति को ज्ञान व कर्त्तव्य की अपेक्षा सर्वत्र ऊँचा स्थान मिला है। अनुशीलन गंभीर व तथ्यपरक है इसके पूर्व किसी अन्य यूरोपीय लेखक ने इस दिशा में प्रयास नहीं किया था"[1]।

[1] मिश्रा,ऋचा, तुलसी काव्य के अध्ययन में विदेशी लेखकों का योगदान, भावना प्रकाशन, 1999

5.2- गार्सा-दा-तासी का इतिहास और रामभक्ति काव्य-

तासी रामभक्त कवियों में तुलसीदास और केशवदास पर ही अकारादि क्रम से बात रखते हैं। यह विल्सन द्वारा किए गए मानस के अनुवाद के बाद दूसरा प्रयास था और ऐसा अनुमानित किया जा सकता है कि तुलसी के कवि या कविता के विषय में जो राय तासी की बनी वह इस अनुवाद की व्याख्या से काफी प्रभावित हो।

गार्सा-दा-तासी, तुलसी के युग पर बात करते हुए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हैं, जिस समय भक्तिकविता अपने पूरे चरमोत्कर्ष पर थी उसी समय उर्दू कविता का कुछ निश्चित सिद्धांतों के अंतर्गत विकास आरंभ हुआ था। तासी इसके कारणों की ज़्यादा पड़ताल ना करते हुए लिखते हैं-**"सत्रहवीं शताब्दी के युग जिसमें दक्खिन में वास्तविक उर्दू कविता का निश्चित सिद्धांतों के अंतर्गत सृजन प्रारंभ हुआ हिंदी कवियों में, मैं सूरदास, तुलसीदास और केशवदास आधुनिक भारतवासियों के प्रिय तीन कवियों का उल्लेख करना चाहता हूँ"[1]।** महत्त्वपूर्ण यह है कि तासी इन तीन भक्तकवियों के बहाने उर्दू के विकास को रेखांकित नहीं करते बल्कि यह लिखते हैं कि जिस समय उर्दू कविता का सृजन प्रारंभ हुआ उस समय में ये कवि हुए थे।

तुलसीदास के जीवन के संबंध में तासी परंपरा-प्रचलित किंवदंतियों को ही दोहराते हैं, जिन पर विल्सन का प्रभाव ज़्यादा दिखाई पड़ता है। इन्होंने भक्तमाल की किंवदंतियों को भी स्थान दिया है। इनमें से प्रमुख रूप से

पत्नी द्वारा उपेक्षा।

शाहजहाँ द्वारा बंदी बनाए जाना।

हनुमान से साक्षात्कार आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

तासी के पास पूर्वपरंपरा के रूप में गोरेसिओ का 'संस्कृत साहित्य का विभाजन' था। जिसका अध्ययन उन्होनें किया था। जिसमें इस साहित्य को मुख्य चार भागों में

1. आख्यान

2. आदिकाव्य

3. इतिहास

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ,118-119

4. काव्य (किसी प्रकार की काव्यात्मक रचना) में विभाजित किया गया है।

लेकिन तासी को यह विभाजन ज़्यादा उपयुक्त नहीं लगा और प्रामाणिक तिथियों के अभाव में वह किसी भी पक्ष पर काल क्रमानुसार विचार नहीं कर पाए।

तासी एक ओर कवि और कविता के आविर्भाव पर विचार करते हैं तो उनके जीवन प्रसंगों पर भी विचार करते हैं। रचनाओं की संख्या विषयक विचार करते हुए तासी लिखते हैं -'हिन्दू हस्तलिखित ग्रंथों का सूचीपत्र' इस पुस्तक को मुहम्मद बख़्श ने लिखा है। इस पर अपनी राय देते हुए पुस्तक 'कथा बरमाल' जिसे उस समय तक तुलसी की रचना माना जाता रहा था, के संबंध में कहते हैं **"मैं नहीं मानता यह कोई तुलसी कृत रचना है"[1]।** तासी, मानस को रोचक मानते हैं और यह भी मानते हैं कि इस विषय पर अभी ज़्यादा कुछ लिखा नहीं गया है। लेकिन इस अध्ययन के दौरान कई सारे धार्मिक, नैतिक और जातीय पूर्वग्रह उनके आड़े आ रहे थे। उन्होंने हिंदुई साहित्य के इतिहास में इस बात को लिखा है- **"किन्तु जो अंश मेरे सामने थे या जिन्हें मैंने तैयार कर लिया था उनका बहुत बड़ा भाग मुझे छोड़ देना पड़ा। क्योंकि या तो वे हमारे आचारों-विचारों के अत्यधिक विरुद्ध थे या क्योंकि उनमें अनैतिक बातों का उल्लेख है या वे अश्लीलता से दूषित हैं। वे ऐसे अलंकारों से भरे हुए हैं जिन्हें यूरोपीय पाठकों के लिए समझना असंभव है"[2]।** तासी इतिहास लिखते समय या कविता के किसी पक्ष पर विचार करते समय निष्पक्ष मूल्यांकन कर रहे थे। इसका दावा उन्होंने नहीं किया है। बल्कि उनकी धार्मिक-सामाजिक मान्यताएं, नैतिकताएं जिस सीमा तक उनको स्वतंत्रता दे रही थी वहीं तक वह विचार कर पाए, लिख पाए बाकी का छोड़ते गए। ईश्वरवाद और अवतारवाद को उनका ईसाई मन स्वीकार नहीं कर पा रहा था इसीलिए वह कुछ प्रसंगों के महत्त्वपूर्ण होते हुए भी चर्चा नहीं करते हैं।

तुलसी की लोकप्रियता के संबंध में एच.एच. विल्सन ने अपने अनुवाद में लिखा था-**"वे संस्कृत की अनेक पोथियों से अधिक हिन्दू जन समाज को प्रभावित करती है"[3]।** तासी भी तुलसी की लोकप्रियता के संबंध में इन्हीं से प्रभावित दिख रहे हैं। वह लिखते हैं- **"तुलसीकृत रामायण भारतवर्ष में सबसे अधिक पढ़े जाने वाले और सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथों में से है। यद्यपि सामान्यतः लोग उसकी सूक्ष्मता का कारण और उसके**

---

[1]अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -223

[2]अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ -46

[3] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ 223

प्राचीन रूपों को कम समझते हैं"[1]**।** तासी, विल्सन से आगे बढ़कर यहाँ तुलना संस्कृत के बोझिल और आमजन को न समझ आने वाले ग्रंथों से नहीं करते हैं बल्कि वह इस कसौटी पर लोकप्रियता का मापदंड निर्धारित करते हैं कि जो लिखा गया है उसकी समझ लोक को कितनी है? मानस की तमाम शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को जिनको कवि ने रचना करते समय ध्यान में रखा था उसे समझ आता है या नहीं? और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामान्यतः लोग इस प्रकार की सूक्ष्मताओं को कम समझते हैं।

तासी मानस की पठनीयता का संबंध नैतिक शिक्षा, धार्मिक ज्ञान या परलोक सुधार नहीं मानते हैं, वह इसका कारण ऐसे ही 'कथा कहना और सुनने को' मानते हैं। तासी इतिहास में उद्धृत करते हैं- **"प्रतिष्ठित व्यक्ति थोड़ा सा प्रसाद वितरण कर इन रचनाओं का साफ-साफ पाठ सुनने के लिए इकट्ठे होते हैं प्रत्येक समुदाय में दस या बारह व्यक्तियों से अधिक नहीं होते जो कथा को समझ सकते हों। साथ ही प्रत्येक अंश की टीका उन्हें समझाना पड़ता है और ऐसे लोग भी हैं तुलसीकृत रामायण के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों में उसे पढ़ नहीं सकते क्योंकि, पढ़ते-पढ़ते वह उन्हें कंठस्थ हो जाती है"**[2]**।** तासी अपनी इस स्थापना में पूरी की पूरी श्रुति-परंपरा को सामने ले आते हैं, जिसमें सुनकर और रटकर कथा को कहने की प्रमुखता थी।

तासी जिस समय में इतिहास लिख रहे थे अगर उस समय-संदर्भ में इस बात को देखें तो यह सच भी थी। क्योंकि छापेखाने का आविष्कार हो जाने के बावजूद आमजन की पहुँच किताबों तक ज़्यादा नहीं बन पाई थी और धार्मिक किताबों की पहुँच तो और ज़्यादा कम थी। वह कुछ कथावाचकों तक ही सीमित थी और उन्हें भी बार-बार एक ही कथा सुनते-सुनाते वह अक्षरशः कंठस्थ हो जाती थी। ऐसे लोग कुछ समय पहले तक हर गाँव में मिल जाते थे और बुंदेलखंड में बहुतायत ऐसे लोग थे जिन्हें आल्हा कंठस्थ था लेकिन वो उसे पढ़ नहीं पाते थे। ऐसे में अगर तासी की इस स्थापना को उस समय संदर्भ में देखा जाए तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं है।

केशवदास की रामचंद्रिका का वर्णन करते हुए तासी इसे विल्सन की तरह ही रामायण का अनुवाद मानते है-**"राम पर रामचंद्रिका शीर्षक एक काव्य के लेखक श्री विल्सन के अनुसार यह रामायण का संक्षिप्त अनुवाद है अर्थात संभवतः वाल्मीकि की संस्कृत रामायण का उसमें उनतालीस अध्याय हैं। श्री रीड ने इसे रामायण गीता से भिन्न**

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ- 224

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-224

माना है"[1]**।** तासी के पास विल्सन और रीड के किए गए पूर्व अध्ययन और स्थापनाएँ थीं जिनके आधार पर उन्होनें अपनी तुलसी विषयक राय को बनाया और अपनी आलोचना प्रस्तुत की।

तासी ने मूल रामचरितमानस नहीं पढ़ी थी उनकी सारी की सारी आलोचनात्मक दृष्टि अनुवाद के अध्ययन के आधार पर थी। जिसमें भी उनकी नैतिकता और पूर्वग्रह बार-बार आ जा रहे थे। तासी लिखते हैं -**"मुश्किल से समझ आने वाली हिंदुई"**[2]**।** फिर भी इस मुश्किल से समझ आने वाली हिंदुई का वह पहला इतिहास फ्रांस में बैठकर लिखने का प्रयास करते हैं और रामायण के एक कांड का अनुवाद भी करते हैं।

---

[1] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-168

[2] अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953),तासी-गार्सा-दा, हिंदुई साहित्य का इतिहास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद-पृष्ठ-47

5.3 - जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की आलोचना और रामभक्ति काव्य-

भक्तकवियों के संबंध में एक मान्य परंपरागत आलोचना में तुलसीदास और सूरदास के संबंध में यह उक्ति कही गई है - **'सूर-सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास'** इस आलोचनात्मक स्थापना में भक्तिकविता रूपी आकाश का सूर्य 'सूरदास' को बताया गया है और चंद्रमा तुलसीदास को तथा जिन केशवदास को भक्तिकविता और रीतिकविता के संक्रमण के काल में स्थान दिया जाता है उन्हें भी इसी पंक्ति का अगला कवि माना गया है।

ग्रियर्सन के साहित्य इतिहास के अनुवादक लक्ष्मीसागर जी ने भूमिका में ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि ग्रियर्सन अपने इतिहास में इस मान्यता को बदलने का काम करते हैं और सूर के स्थान पर तुलसी को स्थापित करते हैं।

ग्रियर्सन ने अपनी आलोचना का केंद्र तुलसीदास की कविता को बनाने के पीछे कुछ प्रमुख कारण बताए हैं-

1. लोकव्यवहार (अपने पड़ोसियों से कैसे व्यवहार करना है)।
2. मर्यादवादिता।

इन्हीं दो कारणों से उनका विश्वास था कि यूरोपीय पाठक सूरदास की अपेक्षा तुलसीदास को ज़्यादा पसंद करेंगे।

सबसे पहले ग्रियर्सन ने सन् 1886 ईसवी में वियना में **'मध्यकालीन भाषा साहित्य और तुलसीदास'** लेख पढ़ा था। इस लेख को तैयार करने में ग्रियर्सन ने 18 ग्रंथों की सहायता ली थी। इस लेख को पढ़कर उन्होंने यूरोपीय समाज को तुलसीदास की कविता के विभिन्न पक्षों से अवगत कराया था। उन्होंने लिखा- **"मेरा विश्वास है कि कुछ स्थलों पर मैं यूरोपीय विद्वानों के सामने ऐसी सूचनाएँ प्रस्तुत कर सका हूँ, जो आज तक उनके सामने कभी नहीं रखी गई। उदाहरण के लिए मैं पाठकों से सूरदास और तुलसीदास पर लिखित लेखों की ओर संकेत करूंगा"[1]।** ऊपर जिन दो प्रमुख कारणों को तुलसीदास की कविता के अध्ययन के लिए ग्रियर्सन ने बताया है उसके पीछे उन्होंने तर्क दिया है, कि तुलसीदास की यह शिक्षाएँ ईसाइयत के बहुत ज़्यादा क़रीब हैं, इसलिए यूरोपीय मानस तुलसीदास के रामचारितमानस को जल्दी समझेगा। ईसाइयत में ईसा के आदेश जिनमें एकांतिक प्रेम, अपने पड़ोसी को उतना ही प्यार करो जितना स्वयं को करते हो। इस बात की झलक उन्हें तुलसी की भक्तिकविता में मिलती है।

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ- 42

यहाँ के **'वसुधैव कुटुंबकम'** और **'अतिथि देवो भवः'** की सनातन मान्यता के साथ एक सामासिक-संस्कृति की साझी विरासत जिनमें यह मूल्य अंतर्निहित हैं और यहाँ के लोग पड़ोसियों के प्रति उत्तरदायी रहे हैं। यहाँ के पर्व-त्योहारों की संरचना ऐसी है कि अनादिकाल से जाति के संगठन में ही सही लोग एक सीमा तक घुल-मिलकर रहते आये हैं। लेकिन ग्रियर्सन यहाँ पर बाइबिल की शिक्षाओं के आलोक में रामचरितमानस का पाठ करते हैं।

ग्रियर्सन उस युग को दो प्रमुख कोणों से देख रहे थे –

1. नैतिकता (उस समय में नैतिकता के बंधन शिथिल हुए जा रहे थे)।
2. विलासिता।

इस ग्रंथ ने हिंदुओं को कठोर नैतिकता का पाठ पढ़ाया (कर्तव्यपरायणता, भ्रातृभक्ति, आज्ञापालन, पतिव्रात्य) आदि का ऐसा आदर्श और मर्यादित रूप मानस के माध्यम से सामने रखा **"उस घोर विलासिता के युग में रामायण से बढ़कर मर्यादापूर्ण और पवित्र कोई दूसरा ग्रंथ नहीं था"[1]**

ग्रियर्सन के सामने कृष्णकाव्य परंपरा थी। सूरदास जैसे प्रतिष्ठित कवि थे। लेकिन उन्होंने उन्हें अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाया और इसके कारण को भी वह बताते हैं **"चारों ओर से शिष्यों और अनुयायियों से घिरे रहने वाले ब्रज के वैष्णव संप्रदाय के प्रवर्तकों से कहीं भिन्न वे (तुलसीदास) बनारस में अपने यशोमंदिर में अकेले ही इतने उच्चासीन थे जहाँ कोई पहुँच ही नहीं सकता। उनके शिष्य बहुत थे, आज तो वे करोड़ों की संख्या में हैं, पर अनुकरण करने वाला कोई नहीं"[2]।** ब्रज में कृष्णभक्ति के जितने संप्रदाय चल रहे थे, उनमें गद्दीपरंपरा, शिष्य परंपरा, उपासना पद्धति और धन-संपदा का प्राचुर्य था। कृष्णभक्त कवि 'लीलागान' के द्वारा अपनी कविता कर रहे थे। वहीं तुलसीदास की कविता की भूमि दूसरी थी। उन्होंने न गद्दी स्थापित की न कोई काव्य की परंपरा। आज उनकी कविता के कारण उनके शिष्य तो लाखों-करोड़ों में हैं लेकिन अनुकरण करने वाला एक भी नहीं।

कृष्णभक्ति कविता को विलासिता की कविता और संप्रदायबद्ध कविता मानते हैं। जितने भी स्थानों पर आलोचना करते हुए तुलसी के समकक्ष कृष्णभक्त कवियों की चर्चा की है, वहाँ उनकी आलोचना का स्वर कृष्णभक्त कवियों को तुलसीदास की रामभक्ति कविता की तुलना में कमतर मानने का रहा है।

---

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-125

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ--54

"दूसरे वैष्णव भक्तकवि जो कृष्णभक्ति का उपदेश करते थे अपने श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए अपनी भर्ती को प्रायः विलासिनी बना देते थे। लेकिन तुलसीदास ने अपने देशवासियों में उदार विश्वास किया और उनका विश्वास पूर्णरूपेण प्रतिफलित हुआ"[1]। आप देखेंगे तो लोकप्रियता का सीधा संबंध पाठकों या श्रोताओं से हैं कृष्णभक्त कवि इसी पाठक वर्ग को बढ़ाने के लिए जहाँ कविता में मांसलता और विलासिता के प्रसंग लाने का कार्य कर रहे थे, तो तुलसी मानस की रचना करते समय इस बात से बेफिक्र थे। उन्हें अपनी जनता पर भरोसा था इसीलिए किसी ऐसे उपादान का कथा प्रस्तुत करते हुए वह सहारा नहीं लेते हैं।

इसका प्रमुख कारण यह है कि कृष्णभक्ति की पूर्वपरंपरा में जो ग्रंथ हैं, वह भागवत महापुराण, जयदेव का गीतगोविंद, विद्यापति की पदावली, सूर और अन्य कृष्णभक्त कवियों की भक्तिकविता में कृष्ण का प्रेमी, छलिया आदि रूप वर्णित है। इसीलिए परंपरा प्रदत्त कृष्ण के इस रूप को देखकर सूर की कविता को तुलसी के बरक्स रखते हुए ग्रियर्सन बार-बार विलासिता की बात करते हैं। इससे एक काम तो यह हुआ कि सगुणभक्ति की इस धारा के इस पक्ष में प्रेम, संयोग-वियोग, विरह आदि की इतनी अधिकता के कारण किसी भी भक्त की भावनायें आहात नहीं हुई और सामान्य से सामान्य श्रोताओं ने इस आलोचना को सहजता से ग्रहण किया। इस गृहणीयता से उनके आराध्य भगवान कृष्ण की छवि पर भी कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ रहा था। न ही वह मूर्ति विखंडित हो रही थी जो परंपरा से चली आ रही थी।

वहीं दूसरी ओर राम पूर्वपरंपरा में रामायण में प्रजापालक राजा थे, जिन्होनें कृष्ण की तरह हजारों गोपिकाओं से प्रेम नहीं किया बल्कि एक आदर्श राजा, एक आज्ञाकारी पुत्र, एक आदर्श भाई के प्रतिमानों को स्थापित करते हुए जीवन जिया अगर इस नायक रूप से मानस के रचयिता तुलसीदास कोई भी नया प्रयोग कर छेड़-छाड़ करते या इसमें विलासिता का कुछ अंश मिलाते तो खतरा यह था कि आराध्य की छवि के साथ छेड़छाड़ करने की वजह से आमजन के द्वारा अस्वीकार्य भी किया जा सकता था।

ग्रियर्सन पर तुलसीदास की नैतिकता और मर्यादा का इस सीमा तक प्रभाव था कि वह 'कृष्ण गीतवाली' को तुलसीदास की रचना मानने से इंकार करते हुए लिखते हैं- **"कृष्णगीतावली ब्रजभाषा में मुद्रित है और बाजारों में मिलती भी है। यह कृष्ण जीवन से संबंधित है, मैं नहीं मानता। यह उन्हीं तुलसीदास की कृति है, जिन पर मैं यहाँ विचार कर रहा हूँ"[2]।** ग्रियर्सन, कृष्ण को विलासिता का, मर्यादा और नैतिकता भंजक चरित्र के रूप

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-126

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-130

में एक बार मान लेते हैं तो फिर वह नैतिकता, मर्यादा और लोक के रक्षक कवि तुलसीदास के बारे में यह भी स्वीकार नहीं कर पाते हैं कि कृष्ण से संबंधित कोई भी कविता तुलसी ने लिखी होगी। अपने पूर्वग्रहों का आरोपण इस संबंध में तुलसीदास पर करते हैं।

ग्रियर्सन, रामचरितमानस में तुलसीदास के द्वारा वर्णित विषय का विवेचन करते हुए बार-बार मानस की लोकप्रियता के सूत्रों की पड़ताल अपनी दृष्टि से करते हैं। कहीं उन्हें यह ईसाइयत के क़रीब होने के कारण लोकप्रिय लगी तो कहीं भारत की लोकमर्यादा और लोकरक्षक के रूप में, कहीं समस्त जनता का पथप्रदर्शन करती हुई दिखाई दे रही है- **"शताब्दियों के तरु राजि वेष्टित आंतर पथ से पीछे दृष्यवलोकन करने पर हमें अपने उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी हुई उनकी उदात्त प्रतिमा हिंदुस्तान के रक्षक और पथप्रदर्शक के रूप में दिखाई देती है। उनका प्रभाव कभी भी समाप्त नहीं हुआ, यह बढ़ गया है और निरंतर बढ़ता जा रहा है"[1]।** हिंदुस्तान की सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक तथा धार्मिक ताने-बाने में ग्रियर्सन हर स्तर पर तुलसीदास की मौजूदगी देखते हैं। भारत के आमजन को रास्ता दिखाने वाला यदि कोई ग्रंथ उनकी नजर में है तो वह है 'रामचरितमानस'।

ग्रियर्सन की इस स्थापना को ध्यान में रखकर हिंदी आलोचना के शिखर मुक्तिबोध, रांगेय राघव, राजेन्द्र यादव के संयुक्त सम्पादन में आयी पुस्तक **'हिन्दू समाज के पथभ्रष्टक तुलसीदास'** में लेखक रामचरितमानस के द्वारा पूरे उत्तर भारत के हिंदुओं की दुर्गति और दयनीय भाग्यवादी मनोस्थिति का एक प्रमुख कारक मानते हैं।

इस पुस्तक का जोर इस बात पर है कि तुलसीदास के रामचारित मानस ने जनता को भाग्यवादी बनाया है और सब कुछ ईश्वर पर छोड़ देने का आग्रह बार-बार किया है। इसलिए यह लेखक रामचरितमानस को ग्रियर्सन की तरह पथप्रदर्शक नहीं बल्कि इसके उलट पथभ्रष्टक मानते हैं।

बंगाल से लेकर उत्तर-पूर्व तक उस समय में तांत्रिकों का प्रभाव था। जो अपने आचरण द्वारा किसी तरह का आदर्श समाज के सामने नहीं स्थापित कर पा रहे थे। बंगाल में 'जात्रा' के रूप में मनाए जा रहे उत्सवों में कृष्णभक्ति के नाम पर 'चंचल क्रीड़ाएँ' की जा रही थीं। निर्गुण कविता वैराग्य की ओर ज़्यादा झुकी थी। इसी कारण से इसमें परिवार को कम स्थान दिया गया था। ऐसी परिस्थितियों के मध्य तुलसी ने मानस की रचना की जिसे ग्रियर्सन रेखांकित करते हैं - **" जिसने बुद्ध के अनंतर पहली बार मनुष्य को अपने पड़ोसियों के प्रति**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-54

स्वकर्त्तव्य सिखाया और अपने उद्देश्य को पूर्ण ग्रहण कराने में सफल भी हुआ"[1]। एक ओर सम्पूर्ण भारत में जो आध्यात्मिक धार्मिक धाराएँ थीं वह लोकविमुख थीं उनका चिंतन, उनकी उपासना पद्धति में दाम्पत्य को ज़्यादा महत्त्व नहीं दिया गया था। दूसरी ओर तुलसीदास का रामचारित मानस था जिसकी तुलना ग्रियर्सन, बुद्ध के बाद एक महामानव के रूप में करते हैं और स्पष्ट करते हैं कि 'मानस' ने पड़ोसियों के प्रति प्रेम को बढ़ाने की शिक्षा दी। जिससे आमजन -जीवन खुशहाल हुआ।

छापेखाने के आविष्कार के बाद रामचरितमानस की लोकप्रियता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई जिसका अनुमान ग्रियर्सन ने 10 करोड़ के आस-पास लगाया है और इसका कारण आदर्श पथप्रदर्शन माना जिससे शिक्षित-अशिक्षित जनता, साहित्यकार, सभी बराबर प्रभावित हैं। **"यह 10 करोड़ जनता का धर्मग्रंथ है और उनके द्वारा यह उतना ही भगवत्प्रेरित माना जाता है। अंग्रेज पादरियों द्वारा जितनी भगवत्प्रेरित बाइबिल मानी जाती है"[2]।** ग्रियर्सन इसे धार्मिक ग्रंथ बताकर इसकी लोप्रियता को बाइबिल के समकक्ष लाकर साम्य बताते हैं।

मानस की लोकप्रियता इसके साहित्यिक महत्त्व के कारण नहीं, वरन इसमें जिन धार्मिक मान्यताओं को स्थापित कर कथा का वर्णन किया गया है, उस धर्म के अनुयायियों के कारण है। इसका भूगोल इतना विस्तृत है कि समूचे 'हिंदुस्तान का हिंदी प्रदेश' इस कथा का रसास्वादन लेता है। **"रामचरितमानस की लोकप्रियता का भूगोल तुलसीदास के इतिहास द्वारा किए गए मूल्यांकन से अधिक है, यदि मानस के साहित्यिक महत्त्व को भी ध्यान में न रखा जाए तब भी इसकी लोकप्रियता का उत्तर भारत में भागलपुर से पंजाब और हिमालय से नर्मदा क्षेत्र तक विस्तृत भूगोल है"[3]।** साहित्यिक और अकादमिक महत्त्व से ज़्यादा ग्रियर्सन, तुलसीदास के रामचारितमानस का धार्मिक महत्त्व ज़्यादा निर्धारित करते हैं और ये काफी हद तक सही भी है। क्योंकि गांवों में जो लोग इसका वाचन करते या कराते हैं, उनके सामने दोहा, छंद, चौपाई या अलंकार वगैरह कभी नहीं आता बल्कि वह तो विशुद्ध धार्मिक दृष्टि रख पूरा ग्रंथ पढ़ते है। जिसमें मनोकामनापूर्ति जैसे फल निहित होते हैं।

ग्राउस ने मानस का अनुवाद किया था और अनुवाद करते हुए इसकी लोकप्रियता के प्रसंग पर कुछ चर्चा की थी। जो महत्त्वपूर्ण है। वह इस कथाविन्यास की लोक्रियता का दायरा और उसके सोचने, समझने पर टिप्पणी करते हैं जिसको ग्रियर्सन भी उद्धृत करते हैं- **"दरबार से**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-54

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-125

[3] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-125

लेकर झोपड़ी तक, यह ग्रंथ सबके हाथों में है और प्रत्येक वर्ग के हिंदुओं द्वारा वे चाहे बड़े हों या छोटे, धनी हों या निर्धन, बालक हों अथवा बूढ़े पढ़ा जाता है, सुना जाता है और भली-भांति समझा जाता है"।[1] इस प्रकार ग्राउस भी इसकी व्यापकता को हर वर्ग, हर उम्र, हर क्षेत्र तक चिह्नित करते है और तासी की स्थापना से उलट इसे भली-भाँति समझा जाने वाला धार्मिक ग्रंथ बताते हैं।

ग्रियर्सन और ग्राउस की इन स्थापनाओं पर विमर्शकार आलोचक मुख्यतः (स्त्री,दलित) आपत्ति जताते हैं। इसके पीछे तर्क यह है कि मानस का पाठ करना सभी वर्गों के लिए सहज नहीं था बल्कि इसका पाठ ब्राह्मण या कुछ उच्चवर्गीय परिवार ही करते थे। अछूत और अंत्यज जातियों के अलावा अन्य शूद्र जातियाँ इसे केवल भक्तिभाव से सुनती थीं।

ग्रियर्सन भक्तिकाव्य में तुलसी का आना कविता के लिए कम वरन भारत के भक्ति क्षेत्र के लिए सौभाग्य मानते हैं, जो विकृत भक्ति रूप उस समय प्रचलित थे (नाथ, सिद्ध, तांत्रिक, शाक्त) जिनकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। इन तांत्रिक उपासना पद्धतियों का विस्तार उत्तर भारत में होने से तुलसी ने रोक दिया और उन्हें पूर्व-पश्चिम में सीमित कर दिया। उन्होनें भक्ति का जो आदर्श विकल्प मानस में दिया उसने उत्तर भारत की भक्ति को कर्मकांडों से बचाया। इस कारण ग्रियर्सन यहाँ तुलसीदास के लिए देवदूत की संज्ञा देते हैं और इसके प्रारम्भिक रक्षक रामानंद को मानते हैं।

लेकिन ग्रियर्सन, रामचरितमानस को '**भाषा रामायण**' के नाम से अभिहित करते हैं। इसकी लोकप्रियता के लिए इस पक्ष को भी ज़्यादा महत्त्व प्रदान करते हैं। मानस की इसी भाषाई विशेषता के कारण वह यह मानते हैं कि यह एक वर्ग, जाति या समुदाय का ग्रंथ नहीं माना जाता था। संस्कृत की पहुँच वेद-पुराण, उपनिषद तक और इनका पठन आमजन नहीं कर पाता था। इसीलिए इस वर्ग का एक विशेष अलगाव इन ग्रंथों से अनायास था।

तुलसीदास का समय-

तुलसीदास के समय के बारे में ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में मात्र इतना ही लिखा भी कि यह 1600 ईसवी में उपस्थित थे। ग्रियर्सन, तुलसी के जीवन प्रसंग के बारे में ज़्यादा प्रामाणिकता से जानकारी प्राप्त करना चाहते थे। जिसके लिए उन्होंने प्रयास भी किया लेकिन सामग्री की अनुपलब्धता या पहुँच न बन पाने के कारण वह कुछ तथ्यों और किंवदंतियों के आधार पर अनुमान के आधार पर ही, इस विषय पर बेनीमाधव जी द्वारा रचित '**गोसाईं चरित**' का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं **- "मुझे अत्यंत दुःख है कि इसकी प्रति नहीं मिली,**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-54

उपलब्ध सामग्री अत्यल्प है"[1]। इसी अत्यल्प सामग्री की उपलब्धता के कारण एक निश्चित और प्रामाणिक जीवनवृत्त नहीं प्राप्त हो सका।

शैली-

काव्य के प्रसार और लोकप्रियता के लिए जितना महत्त्व कथ्य का होता है उतनी ही महत्त्वपूर्ण उसमें कहन की शैली होती है। तुलसी के संबंध में यह स्पष्ट है कि वह **'भाषा रामायण'** की रचना कर रहे थे। मानस पर विचार करते हुए ग्रियर्सन उनकी शैली पर भी विचार करते हैं - **"जहाँ तक तुलसीदास की शैली का संबंध है वे सरलतम, प्रवाहपूर्ण, वर्णात्मक शैली से लेकर जटिलतम, सांकेतिक पद्य प्रणाली तक सभी के आचार्य थे। उन्होनें सदैव पुरानी बैसवाड़ी में लिखा और यदि एक बार इसकी विशेषताएँ भली-भाँति समझ लीं जाएँ तो उनका रामचरितमानस सरलता एवं आनंद से पढ़ा जा सकता है"[2]।**

मानस में किसी एक ही पद्धति का अनुसरण कर पूरे ग्रंथ की रचना नहीं की गई, बल्कि तुलसीदास द्वारा विभिन्न कथानकों का संयोजन भाषाओं की दृष्टि से देखें तो इसमें संस्कृत, हिंदी, अवधी, पालि और फारसी के शब्दों का संयोजन मिलता है। इसी प्रकार छंदों की भी विविधता इस ग्रंथ की प्रमुख विशेषता है। इसीलिए न यह ग्रंथ सरल कहा जा सकता है और न ही भाषाई और अर्थग्रहणता की दृष्टि से जटिल ही। ग्रियर्सन का मानना है कि अवधी भाषा पर अच्छी समझ रखने वाला कोई भी पाठक आसानी से मानस को समझ सकता है।

तुलसी की कविता के संबंध में ग्रियर्सन की यह राय एकदम सही है क्योंकि एक ओर वह संस्कृत के गंभीर अध्येता थे, तो अवधी और ब्रज लोकबोलियों मे कविता करने का हुनर भी उनके पास में था। जन्मस्थान चित्रकूट की भाषा बुन्देली होने के कारण इन्हें बुन्देली भाषा का अच्छा ज्ञान था। मानस में जहाँ-तहाँ इस भाषा के शब्द अवधी में मिल-जुलकर एक नए संदर्भ में प्रयुक्त किए गए हैं। बनारस की पूर्वी बोली से परिचय तुलसीदास का था। वहाँ वह लंबे समय तक रहे और मानस की रचना भी इसी स्थान पर की थी। इस प्रकार देखें तो तुलसी का अधिकार हिंदी की समस्त बोलियों पर समान रूप से था।

लेकिन उस समय कविता की भाषा ब्रज और अवधी ही थी। ग्रियर्सन ने अपनी नैतिक और पूर्वग्रहयुक्त मान्यतों के कारण तुलसी की रचना **'कृष्णगीतवाली'** को तुलसीदास का मानने से इनकार कर दिया। शायद ब्रजभाषा का जानकार तुलसी को मानने से इनकार करते

---

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-124

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-130

हैं। इसीलिए घोषणा करते हैं कि तुलसीदास ने सदैव **'बैसवाड़ी में लिखा'** जबकि तुलसीदास की रचनाएँ ब्रजभाषा में भी उपलब्ध हैं। इसीलिए इस स्थापना में ग्रियर्सन से सहमत नहीं हुआ जा सकता है।

तुलसी की अन्य रचनाओ में 'गीतवाली' और 'कवितवाली' है, जिनमें वह मानस से भी ज़्यादा जटिल हैं। 'दोहावली' में तुलसी सूत्रमय होकर अपनी बात रखते हैं सतसई में कठिन और अस्पष्ट हो गए हैं। विभिन्न रचनाओं की तुलना करते हुए वह उनकी प्रमुख शैलीगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं लेकिन यहाँ पर जिस सतसई की बात की गई है,वह तुलसी की कौन सी रचना है यह स्पष्ट नहीं हो पाया है।

जब काव्य में सरलता के साथ जटिलता का पक्ष भी निहित होता है और संस्कृत से लेकर लोकभाषा भी तो अनुवादकों और टीकाकारों के लिए कविता के कई सूक्ष्म पक्ष समझना कठिन हो जाता है यही तुलसी के टीकाकारों के साथ भी हुआ तुलसीदास कविता में **"स्थूल वस्तुओं के इतने सूक्ष्म दृष्टा थे कि इनके बहुत से सत्य और सरलतम पद्य उन टीकाकारों को समझ नहीं आये। जो वस्तुतः विद्वान मात्र थे"[1]।** तुलसी की कविता को समझने के लिए, अनुवाद, टीका करने के लिए विद्वान होना मात्र पहली शर्त नहीं है बल्कि गहरे जीवनानुभवों के साथ भावों की गहन जानकारी आवश्यक है।

इसके अलावा ग्रियर्सन मूल प्रति के साथ श्रुति परंपरा और कथावचकों के द्वारा किए गए बदलाव की भी आशंका व्यक्त करते हैं। सबका अपना उच्चारण का तरीका अलग होता है और इसी कारण परिवर्तन की संभावना प्रबल हो जाती है। **"तुलसीदास ने शब्दों को प्राचीन बोली में ध्वनि की दृष्टि से उस ढंग से लिखा था, जिस ढंग से वे उस समय में उच्चारित होते थे। मुद्रित प्रतियों में बोली आधुनिक हिंदी के स्तर पर परिवर्तित कर दी गई है और वर्तनी भी पाणिनी के नियमों के अनुकूल सुधार दी गई है"[2]।** इस प्रकार से देखें तो ग्रियर्सन, मानस की मूल प्रति की अनुपलब्धता की ओर प्रश्न खड़ा कर रहे हैं, जो प्रति प्राप्त है या प्रचलन में है वह बहुत परिवर्तनों के बाद अस्तित्त्व में आयी है। इस परिवर्तन के बहुत से उदाहरण उन्होंने दिए हैं। जैसे -दशरथु-दशरथ, दलू-दल, भुअंगिनी-भुजंगिनी,पसाउ-प्रसाद,जागबलिक-याज्ञवल्क आदि हो जाना।

जो विनम्रता तुलसी के कवि रूप में मिलती है जिसमें वह बार-बार यह दोहतराते हैं- 'कबित विवेक एक नहि मोरे, सत्य कहऊ लिखि कागद कोरे' इस अतिशयोक्तिपूर्ण विनम्र उक्ति को

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-133

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-134

ग्रियर्सन कृत्रिम घोषित करते हैं। उनकी नज़र में सत्य यह है कि जैसे तुलसी बार-बार यह कह रहे हों **"कि मैं शीघ्र ही अपने पाठकों को यह प्रदर्शित करूंगा कि मैं कितना बड़ा विद्वान हूँ"[1]।** यहाँ, जहाँ तुलसी द्वारा अपने लिए ब्याजस्तुति का सहारा लिया गया है तो आलोचक के रूप में ग्रियर्सन ने इस पक्ष को समझकर उनकी अतिविनम्रता के पक्ष से पर्दा उठा एक आत्मप्रचार के रूप में इस पक्ष को चिह्नित किया है।

कथ्य-

रामचरितमानस के कथ्य में वचनबद्ध दशरथ, अटल और आज्ञाकारी राम, प्रेम और क्रोध का सामंजस्य लक्ष्मण, पतिव्रता और निर्दोष सीता और महापंडित लेकिन अहंकारी रावण है जिनकी कथा भाग्य और पूर्वजन्म द्वारा चालित है। ग्रियर्सन ने रावण की तुलना 'मिल्टन के शैतान' से की जो अंत तक अपने भाग्य से लड़ता रहता है और ऐसे ही शैतान के रूप में चित्रित रावण भी मानस के आधे भाग का प्रमुख पात्र है।

ग्रियर्सन को रामचरितमानस का कथ्य इतना सहज, सरल और ग्रहणीय लगा कि वह अनुमान कर लिए कि यूरोपीय पाठक इसे पढ़कर इससे प्रभावित होंगे और इसी से संबंधित एक अनुभव पर वह टिप्पणी करते है **"इस समय जब मैं यह लिख रहा हूँ, ये सब मेरे सामने अन्तःचक्षुओं में उसी स्पष्टता के साथ सम्पूर्ण अंग्रेजी साहित्य का कोई भी चरित्र विद्यमान हो सकता है"[2]।** मानस का कथ्य ग्रियर्सन के लिए उतना ही सुग्राह्य और समझ आ जाने वाला था जितना कि उनकी मातृभाषा में लिखा गया किसी कथा का कथानक हो। यहाँ साधारणीकरण में भाषा राह की बाधा नहीं बन रही है।

ग्रियर्सन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हैं, जो कि मानस की एक बड़ी विशेषता है -मानस के खल पात्र दैव-दानव जैसे एकदम विपरीत ध्रुव नहीं हैं। बल्कि रावण जहाँ बुराई का प्रतीक है, वहीं महापंडित भी है। विभीषण राक्षस कुल में जन्म लेकर सुसंस्कारों से युक्त है, वह अच्छाई का साथ देते हुए अपने सहोदर भाई का त्याग कर देता है।

कुंभकर्ण भी किसी भी स्थिति में अपने भाई का साथ देते हुए जान दे देने का आदर्श सामने रखता है। वह मानस के इसी पक्ष पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं **"उनके खलपात्र भी केवल कालिमा से पुती तस्वीरें नहीं है, प्रत्येक की अपनी चरित्रगत विशेषता है और इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें दोष की कमी को पूरा करने वाला कोई गुण**

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-132

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-131

न हो"[1]। इस प्रकार ग्रियर्सन, मानस के चरित्रों में अतिदैवीयता और अतिदानवीयता का अभाव पाते हैं और पात्रों में चरित्र के स्तर पर **'विरूद्धों का सामंजस्य'** देखा जा सकता है।

चरित्र, कथ्य और नाटकीयता जो एक महाकाव्य के लिए अनिवार्य हैं। उनका सही मात्रा में सही समन्वय तुलसीदास ने मानस में किया है। कथावर्णन के क्रम में मानस में वर्णित युद्ध के प्रसंग की ओर ग्रियर्सन ध्यान दिलाते हैं, भारतीय साहित्य में युद्धों का वर्णन करते हुए प्रायः अतिशयोक्तियों का सहारा लिया जाता रहा है आदिकालीन वीरगाथा साहित्य हो या सूफी कविता में पद्मावत का युद्ध वर्णन अथवा तुलसीदास के बाद रीतिकालीन कविता में वर्णित युद्ध, सभी जगह अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है।

इसी युद्धवर्णन की भारतीय परंपरा की झलक तुलसी की कविता में भी देखने को मिलती है- **"तुलसीदास भी भारतीय काव्य प्रणाली के परंपरागत घने कुहासे से पूर्णतया ऊपर नहीं उठ सके हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि उनके युद्ध वर्णन प्रायः अस्वाभाविक और विकर्षक हैं और कभी-कभी दुःखद और उपहासास्पद की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाते हैं"[2]।** युद्ध प्रसंगों के वर्णन में ग्रियर्सन को तुलसी भारतीय काव्यपरंपरा का अनुसरण करते हुए ही मिलते हैं। उनमें और अन्य किसी भी कवि के युद्ध वर्णन में वह कोई स्पष्ट अंतर नहीं खोज पाते हैं।

किसी कविता के किसी संदर्भ और प्रसंग के साधारणीकरण का सीधा संबंध व्यक्ति की मान्यताओं और परिवेश बोध से होता है। तुलसी की कविता और तुलसी के पाठकों के बीच भी यही संबंध लक्षित होता है। अवतारवाद को केंद्र में रखते हुए वह कहते हैं- **"यद्यपि भावुक भक्त की दृष्टि में यह विनम्र श्रद्धाभाव है पर हम म्लेच्छों के लिए तो यह घोर अत्युक्ति है"[3]।** प्रसंग और जीवन पद्धति के बीच साम्य और वैषम्य के आधार पर ग्रियर्सन पाठ की ग्रहणीयता का निर्धारण करते हैं जो कि इसका एक महत्त्वपूर्ण कारक है। हिन्दू धर्म में अनुयायी **'हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा'** जैसी पंक्तियों में वर्णित भगवान के अवतार को पढ़ते सुनते ही समझ जाएँगे, क्योंकि यह उनकी मान्यताओं और जीवन पद्धति का ही वर्णन है। जिन पर वह आस्था और विश्वास रखते हैं।

हर लीला, हर अवतार पर भक्त का हृदय भक्ति से सराबोर हो जाएगा और वह नतमस्तक हो जाएगा, जिसका प्रमाण भारतीय जनता ने तब दिया जब डी. डी. नैशनल पर 'रामायण धारावाहिक' का प्रसारण आरंभ हुआ और लोग आरती की थाली सजाकर टेलीविज़न के

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-131
[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-132
[3] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-132

सामने बैठ जाते थे और दोनों हाथ जोड़कर बैठे रहते थे। लेकिन एक यूरोपीय व्यक्ति जिसकी राम या किसी अवतार में कोई आस्था नहीं है, वह उसकी जीवनपद्धति में शामिल नहीं है, तो न तो वह उतना भावविभोर होगा और न ही आनंदित। क्योंकि उसकी धार्मिक मान्यताओं में अवतारवाद का कोई स्थान नहीं है। इसीलिए ऐसे प्रसंग जिनसे वह सीधे नहीं जुड़ पाएगा उसमें ऊब पैदा करेंगे। ग्रियर्सन पश्चिम के पाठकों के लिए ऐसे प्रसंगों को अत्युक्ति मानते हैं ।

युद्धवर्णन, परंपरा प्रचलित उक्तियाँ, आदर्श आदि तो पूर्व में लिखे किसी न किसी काव्य में मिल जाएगा लेकिन जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन भारतीय शोधार्थियों को लक्षित करते हुए तुलसी के महत्त्वपूर्ण पक्ष पर बात करते हैं और वह मानते हैं कि **"संभवत: यह एकमात्र बड़े भारतीय कवि हैं जिसने अपनी उपमाएँ सीधे प्रकृति की पुस्तिका से ली हैं न कि अपने पूर्वगामी अन्य कवियों से"[1]।** तुलसीदास मानस में उपमाओं का वर्णन करते हुए अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं। वह परंपरा से प्रचलित उपमानों का प्रयोग नहीं करते बल्कि प्रसंगानुकूल नए उपमान खोजते हैं। जो जगत-जीवन से जुड़े हुए होते हैं। ग्राउस भी अपने अनुवाद में तुलसीदास के उपमानों की चर्चा करते हुए लिखते हैं **"तुलसीदास प्रकृति के बारे में अपने टीकाकारों से अधिक जानते हैं"[2]।** ग्रियर्सन ने ग्राउस का अनुवाद पढ़ा था। इसीलिए उन पर जगह-जगह उनकी स्थापनाओं का प्रभाव लक्षित होता है, जिसका ज़िक्र भी वह बार-बार करते हैं। टीकाकारों के ऊपर अविश्वास की जो बातें आई हैं, वह ग्रियर्सन की नहीं बल्कि ग्राउस के प्रभाव में आये हुए ग्रियर्सन की हैं।

तुलसीकाव्य में विभिन्न प्रसंगों पर ग्रियर्सन अपनी दृष्टि डालते हैं और उनमें जीवंत बिंबों को पाते हैं। **"लेकिन कवितावली के सुंदरकांड के अंतर्गत लंकादहन की सम्पूर्ण वर्णना में शब्दों पर कवि का कैसा अधिकार है – आग की लपटों की चटचटाहट, गिरते भवनों की गड़गड़ाहट, नारों की कोलाहलता और घबराहट, पानी-पानी चिल्लाते हुए विवश नारियों की चिल्लाहट सभी ध्वनियों को हम स्पष्ट सुन सकते है"[3]।** इस प्रकार मानस के अलावा अन्य कृतियों के शिल्प पक्ष का भी ग्रियर्सन ने बड़ी बारीक़ी और सावधानी से अवलोकन कर अपनी आलोचना प्रस्तुत की है।

[1] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-133

[2] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ-134

[3] अनुवाद किशोरीलाल गुप्त (1957),ग्रियर्सन जॉर्ज अब्राहम, हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास ,हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृष्ठ--132

5.4 -रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज का इतिहास और रामभक्ति काव्य-

एडविन ग्रीब्ज ने अपने इतिहास ग्रंथ **'हिंदी साहित्य का रेखांकन'** के अध्याय- 4 में भक्तिसाहित्य की सूक्ष्म विशेषताओं का परिचय दिया है और अध्याय 5 'विस्तारकाल' में 'तुलसीदास' पर विस्तार से चर्चा की है। विस्तारकाल की समय सीमा सन् 1580 से 1700 ईसवी तक निर्धारित की गई है। इस अध्याय का नामकरण प्रवृत्ति के आधार पर न कर ग्रीब्ज ने कविता में विषय और भाव की व्यापकता के आधार पर यह नाम दिया है।

तुलसीदास के जीवनवृत्त पर विचार करते हुए ग्रीब्ज ने भक्तमाल की किंवदंतियों को उपयोग में लिया है। उनके जन्म, निवास स्थान, विवाह आदि के संबंध में बात करते हुए कवि नाभादास की स्थापनाओं का इतिहास में अनुसरण करता है।

तुलसी की कविता के अध्ययन के लिए ग्रीब्ज मापदंड स्थापित करते हुए उसकी समझने की सीमाओं पर अपनी बात रखते हुए लिखते हैं- **"तुलसीदास की कविता प्राच्य है आंगल नहीं, रसास्वादन के पाश्चात्य सिद्धांतों से उसका परीक्षण नहीं होना चाहिए। तुलसी की भाषा और चित्र योजना तुलसी की भाषा हम बहुधा मोहवश अलंकृत और अतिशयोक्तिपूर्ण मान सकते हैं"[1]।** ग्रीब्ज यहाँ उन आलोचकों और अध्येताओं पर प्रश्न खड़ा कर देते हैं जो अपने पूर्वग्रह, जातीय-धार्मिक संस्कारों से ग्रस्त होकर कविता का अध्ययन करते हैं और ऐसा तासी भी स्वीकार करते हैं कि उन्होंने कुछ प्रसंगों की चर्चा इसीलिए नहीं की क्योंकि वह उन्हें अनैतिक लगा था या उनके विश्वासों से उलट था। इसी पर जब वह विचार करते हैं तो इस महत्त्वपूर्ण बात को भी रेखांकित करते हैं कि आख़िर तुलसीदास ने लिखा क्यों? उनकी रचना प्रेरणा क्या रही? वह किसे प्रभावित करना चाहते थे?, इस संदर्भ में उद्धृत करते हुए लिखते हैं- "**तुलसीदास ने अपनी विद्वता प्रदर्शन के लिए या विद्वानों को रिझाने के लिए नहीं लिखा है। उन्होनें जनता के लिए लिखा है और उसके लिए उन्हें अपना पुरुस्कार मिला इस देश की जनता के लिए तुलसीदास ने जो किया उसकी तुलना में कभी भी जनसमुदाय की दृष्टि से ऐसा कवि नहीं हुआ"[2]।** मानस में स्वयं तुलसीदास इस बात को स्वीकार करते हैं कि उन्होंने **'स्वांतः सुखाय'** इस कथा को भाषाबद्ध किया है तथा उस समय में विद्वता और धार्मिक कथाओं की मान्य भाषा संस्कृत थी इसीलिए स्पष्टतः तुलसी इस कथा को आमजन के लिए ही लिख रहे थे। लेकिन ग्रीब्ज जब ये कहते हैं कि ऐसा जनसमुदाय के लिए लिखने वाला कवि दूसरा नहीं हुआ है तो यहाँ वह तुलसी की

---

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-85

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, पृष्ठ-85

जनपक्षधरता का वैश्विक महत्त्व निर्धारित करते हैं और विश्व कवियों की उस पंक्ति में तुलसी को सबसे आगे खड़ा कर देती है। जिसमें sजनता की भाषा में जनता के लिए लिखा जा रहा था।

अभी तक कविता करने वाला कवि अपने को विशिष्टता की श्रेणी में रखता था। कवि को ब्रह्म की श्रेणी से निकाल कर एक जनसामान्य की तरह भक्त बनकर तुलसीदास अपने रामचरितमानस में आते हैं वह बार-बार राजा राम के दास के भी दास के रूप में खुद को प्रस्तुत करते हैं और इसी कारण वह विशिष्ट नहीं बल्कि मानस के हर पाठक को अपने लगते हैं। ग्रीब्ज तुलसीदास की तुलना स्कॉटलैंड के कवि रॉबर्ट बर्न्स की कविताओं से करते हैं **"कदाचित अंग्रेजी साहित्य में रामायण के साम्य पाया जाने वाला अधिक निकटवर्ती दृष्टांत (रॉबर्ट बर्न्स की कविताओं में मिलता है)"[1]**।

तुलसी ने रामायण का अनुसरण, विषय चयन और कथा विभाजन की दृष्टि से अवश्य किया लेकिन ग्रीब्ज इसे विश्लेषित कर उस पक्ष में खड़े होते हैं जो इसे उसका अनुवाद नहीं मानता। बल्कि मानस को कथाविन्यास की दृष्टि से रामायण जैसा लेकिन मौलिकता से परिपूर्ण रचना माना है। वह इसे बाइबिल के समकक्ष मानते हैं।

तुलसी के कथ्य के संबंध में मानस में वर्णित प्रेम और प्रेमव्यंजक अंशों के संबंध में ग्रीब्ज पाश्चात्य प्रेम के प्रतिमानों से तुलना करते हैं प्रेम के पाश्चात्य प्रतिमान और मानस की प्रेम दशाओं में कुछ आवश्यक शर्तों का अभाव उन्हें दिखाई देता है। लेकिन वह मानस में वर्णित दाम्पत्य प्रेम के रूप को सर्वोत्तम प्रेम अपने विश्लेषण में बताते हैं। **"तुलसी द्वारा वर्णित सीता और राम का प्रेम सर्वोत्तम है और तद्विषयक प्रेमव्यंजक अंश समस्त साहित्य के सर्वोतकृष्ट साहित्य में परिगणित होते हैं, जो भी हो बहुत सी दशाओं में प्रेम की आवश्यक शर्तों में अभाव लक्षित होता है। जो पाश्चात्य दृष्टि से प्रबल मनोवेग को बढ़ा देता है"[2]।** ग्रीब्ज उन आवश्यक शर्तों का ज़िक्र नहीं करते हैं न ही इतिहास ग्रंथ में यह बताते हैं कि इनका इशारा अभाव के किस उपादान की ओर है। लेकिन यह जरूर स्पष्ट होता है उक्त उद्धरण से कि कुछ तो था जो इनको सायास या अप्रत्याशित लगा जिसे 'आवश्यक शर्तों का अभाव' के नाम से ग्रीब्ज ने अभिहित किया है।

भाषा-

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,-पृष्ठ-85

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-46-47

मानस को तुलसीदास ने अवधी में लिखा है। इससे अवधी का विकास व प्रसार हुआ है। ग्रीब्ज यह मानते हैं कि मानस की रचना के बाद बहुत सी रचनाओं को अवधी में लिखने की प्रेरणा मिली। इस प्रेरणा के मूल प्रेरक 'तुलसीदास' ही थे। वह मानते हैं **"यद्यपि ब्रजभाषा बहुत लोकप्रिय भाषा है किन्तु तुलसी के द्वारा अवधी भाषा के अधिक प्रयोग करने के कारण बहुत से लोगों ने उन्हीं का अनुसरण किया"[1]।** लेकिन यहाँ इस स्थापना से एक प्रमुख आपत्ति यह जताई जा सकती है कि, तुलसी से पूर्व जायसी जैसे लोक के कवि भी इससे ठेठ अवधी में पद्मावत जैसा महाकाव्य रच रहे थे। पूरी सूफी कविता में बहुत से प्रेमाख्यान काव्य इसी भाषा में लिखे जा रहे थे जिनका समय तुलसी के पहले और तुलसी के बाद तक है। भाषाई दृष्टिकोण से तो नहीं लेकिन धार्मिक स्थापनाओं (जो पहले संस्कृत में हुआ करतीं थीं) को अवधी जैसी लोक की भाषा में लाने का काम ज़रूर तुलसीदास ने किया है।

उन्होंने इस भाषा को लचीला बनाया उसके शब्दरूप और वाक्यप्रयोग में कई अनूठे प्रयोग किए ग्रीब्ज ग्यारह प्रकार के ऐसे प्रयोगों को मानस में चिह्नित करते हैं, जो तुलसी ने अवधी भाषा के मूल शब्दों को बदलकर उसे कविता के भाव और बहाव के अनुकूल बनाया। मानस में तुलसीदास प्रत्येक प्रसंग में कथा का पूर्वापर संबंध इतना सुव्यवस्थित रखते हैं कि पढ़ते हुए आप जान ही नहीं पाएँगे कि कब? और कहाँ? किस? पात्र के द्वारा किस स्थिति में ? कवि कथा छोड़कर स्वयं उपदेशात्मक या निर्देशात्मक स्थिति में आ गया है। धार्मिक चिंतन और अपनी सामाजिक स्थापनाओं को तुलसी बड़ी चतुराई से कथा में आत्मसात करा देते हैं और कथा का क्रम या रस भंग नहीं होता है - **"गोस्वामी जी हिंदी का प्रयोग एक ऐसे ढंग से करते हैं जिसमें अपनी विनीत और धार्मिक चेतना को बड़ी योग्यता के साथ जोड़ देते हैं जिसकी समता कोई दूसरा कवि नहीं कर पाता"[2]।** यही भाषा की जादूगरी तुलसी को अन्य कवियों से अलग स्थान प्रदान कराती है। अन्य कवि जब कोई धार्मिक उपदेश देते हैं तो साधारणतया पाठक को समझ में आ जाता है कि यह कवि अब उपदेश की मुद्रा में आ गया है लेकिन तुलसी महाकाव्य में कथा और उपदेश का ऐसा रासायनिक घोल बनाते हैं कि अलगाना मुश्किल हो जाता है।

और इसी भाषाई कलात्मकता को ग्रीब्ज 'कुंभकार और मिट्टी' की उपमा देते हैं - **"तुलसीदास के हाथों में हिंदी उसी प्रकार थी जैसे कुंभकार के हाथों मे मिट्टी। जैसे कुंभकार के हाथों के स्पर्श से मिट्टी साँचे में विभिन्न प्रकार के रूपों को धारण करती**

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-34

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-85

है उसी प्रकार कवि की आज्ञानुसार हिंदी कवि स्पर्श से विभिन्न रूपों में ढलती है। व्याकरण और वाक्य रचना तथा शब्दों के रूप इस प्रकार उनके अधीन रहते थे जैसे अपने स्वामी के आज्ञा पालन के लिए उनके दास"[1]। कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' बताते हुए भी लगभग इसी प्रकार की स्थापना हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने दी है। तुलसी के लिए ग्रीब्ज भी इसी प्रकार का भाव अपनी आलोचना में व्यक्त करते हैं। इस भावसाम्यता से यह भी अनुमानित किया जा सकता है कि ग्रीब्ज की इस स्थापना को द्विवेदी जी ने कबीर पर आरोपित कर दिया या कहीं न कहीं ग्रीब्ज के इस इतिहास का प्रभाव वहाँ लक्षित हो रहा है।

ग्रीब्ज भाषा के अलावा जिस एक महत्त्वपूर्ण पहलू पर विचार करते हैं वह है, कथा के प्रस्तुतीकरण में उपमानों और स्वाभाविक और अस्वाभाविक प्रसंगों का मूल्यांकन और उनका पाठक पर प्रभाव **"फूलों की वृष्टि अंशतः मन में ऊब पैदा कर सकती हैं इसके बाद भी तुलसीदास एक महान कवि थे"[2]।** तुलसीदास ने मानस में राम को रामायण की तरह राजा के रूप में प्रस्तुत न कर, उन्हें ईश्वरत्व की गरिमा प्रदान की और विष्णु का अवतार घोषित किया है। इस बात को मानस का पाठक भूल न जाए इसीलिए तुलसीदास बार-बार किसी भी कार्य के सुसम्पन्न हो जाने पर पुष्पवर्षा का प्रसंग ले आते हैं जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ पूरा देवलोक प्रसन्न होकर राम और उनके अनुचरों के ऊपर पुष्पवर्षा करने लगता हैं। इस प्रसंग को रखने के पीछे तुलसी का मूल मन्तव्य यही था कि वह पाठकों को राम को सामान्य मनुष्य समझ लेने की भूल करने से बचाना चाहते थे।

पश्चिमी मस्तिष्क के लिए यह एक अस्वाभाविक सी घटना है। लेकिन भारतीय कथाओं में 'पुष्पवर्षा के प्रसंग' बहुतायत में भरे पड़े हैं। अगर यह प्रसंग ग्रीब्ज को असहज तथा अस्वाभाविक लगता है यह उनके परिवेश और उनकी धार्मिक मन्यताओं के प्रभाव के कारण है।

तुलसीदास पर विभिन्न आरोप और प्रत्यारोप लगाए जाते हैं। वर्तमान आलोचक आज भी इस मुद्दे पर बहस करते मिल जाते हैं कि तुलसी साहित्य के महान कवि है, या इन्हें हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम से बाहर कर देना चाहिए, कविता की पूर्व परंपरा और समकालीनों को तुलसी के सम्मुख रख ग्रीब्ज उनका मूल्यांकन करते हैं **"तुलसीदास हिंदुओं के लिए हिन्दू हैं। ब्राह्मणों की उच्चता और हिन्दू नियमों की रूढ़िवादिता उनमें असंदिग्ध रूप में है ही तथा वे समस्त उच्चवर्गीय संस्कारों से जुड़े भी थे। उच्च गुणों के उपदेश तो उनके**

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज,पृष्ठ-85

[2] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ 85

द्वारा दिए गए हैं किन्तु धर्मपरायणता के संबंध में तर्क-वितर्क वर्जित किया गया है। ऐसे विषयों में तुलसीदास कबीर से बहुत पीछे हैं। यद्यपि कवि के रूप में वे उनसे महान हैं और जिस कोमलता और माधुर्य गुणों को वे अपनी कविता में अभिव्यक्त करते है, वे उनसे पूर्व के कवियों में प्रायः नहीं मिलते"[1]। ग्रीब्ज के इस मूल्यांकन को देखें तो लगता है जैसे इन्होंने तुलसी का समग्रता में अध्ययन कर उसका निचोड़ इस उद्धरण में प्रस्तुत कर दिया। जिन प्रश्नों से हिंदी आलोचक पीछे हट जाते हैं उस सभी प्रश्नों पर ग्रीब्ज ने बिना किसी दुराग्रह की अपनी राय व्यक्त की है।

जाति के प्रश्न पर तुलसी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक या ब्राह्मण श्रेष्ठता के पोषक कवि है। इसको बिना किसी संदिग्धता के असंदिग्ध रूप से ग्रीब्ज ने स्वीकार किया है। उनकी रूढ़िवादिता उच्चवर्गीय संस्कारों के प्रति लगाव और भक्ति पर कोई प्रश्न नहीं किये जाने वाली मान्यता की पुष्टि करने वाला कहा है।

यहाँ इस संदर्भ में वह तुलसी की तुलना संत कवि कबीर से करते हैं और कबीर को ज़्यादा प्रगतिशील पाते है, तुलसी को जाति, धर्म, रूढ़िवाद, भक्ति आदि में रूढ़िवादिता के लिए प्रतिगामी मानते हैं लेकिन तुलसी के कवि पक्ष की भी प्रशंसा ग्रीब्ज ने की है। कबीर के कवि रूप को तुलसी से कमतर स्थापित कर तुलसी की कविता के पदावली संयोजन, कविता क्रम, शब्द चयन, कोमल पदावली के कारण उनको कवि परंपरा में अपूर्व स्थान प्रदान करते हैं।

[1] अनुवाद डॉ किशोरीलाल,ग्रीब्ज, एडविन (1918), ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयागराज, -पृष्ठ 87

5.5 – एफ. ई. केई का इतिहास और रामभक्ति काव्य-

एफ. ई. केई ने अपनी पुस्तक **'हिंदी साहित्य का इतिहास'** में तुलसीदास और रामचरितमानस विषयक आलोचना और स्थापनाओं को प्रस्तुत किया है। एफ. ई. केई ने स्वतंत्र रूप से तुलसीदास की कविता के किसी पक्ष का अध्ययन नहीं किया ना ही ऐसी कोई पुस्तक प्राप्त होती है।

साहित्य की रामभक्ति शाखा ने साहित्य विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई एफ. ई. केई इस अवदान को इस प्रकार रेखांकित करते हैं। **"देशभाषा साहित्य के विकास को दूसरी महान प्रेरणा पन्द्रहवी शताब्दी के आरंभ में रामभक्ति के उदय से मिली, वैष्णवों की एक शाखा कृष्ण के रूप में विष्णु की आराधना करती रही है और यह आराधना पद्धति लंबे समय तक लोकप्रिय रही। रमानंद के प्रभाव के परिणाम स्वरूप अन्य लोगों ने राम को अपनी आराधना का केंद्र बनाया"**[1]। एफ. ई. केई रामभक्ति कविता को प्रसारित करने का श्रेय रामानंद को देते हैं। रामानंद हिंदी आलोचकों में भक्ति कविता के पुरस्कर्त्ता माने जाते हैं, जिस संबंध में बहुत ही प्रसिद्ध उक्ति है 'भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानंद'। लगता है भक्तमाल की इसी उक्ति का प्रभाव एफ.ई. केई पर रहा हो और रामानंद के प्रभाव के द्वारा भक्ति के विकास को इन्होंने सहज रूप से स्वीकार कर लिया हो।

रामभक्ति कविता का व्यापक प्रभाव तुलसीदास के बाद ही हुआ और राम की कथा जनमानस के पास जनभाषा में पहुँचाने का काम भी तुलसीदास ने किया है। तुलसीदास के इस पक्ष का मूल्यांकन करते हुए एफ.ई.केई ने लिखा है **"हिंदी साहित्य में असंदिग्ध रूप से सबसे महिमामय नाम तुलसीदास का है जिनकी हिंदी रामायण की महानता और ख्याति ना केवल भारत बल्कि पूरे विश्व में हैं"।** यहाँ तुलसी की कविता की व्यापकता और ख्याति की सीमा देश की सीमाओं को पार कर वैश्विकता के स्तर पर प्रसार की बात केई करते हैं। वहीं अगर तासी की स्थापना जिसमें वह 'गाँव के कुछ लोगों द्वारा पढ़ी जाने वाली कथा इसे कहते हैं और स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि वह पढ़ते अवश्य हैं लेकिन समझते नहीं है' के बरक्स रखकर तुलना की जाए तो आलोचना दृष्टि का एक बहुत बड़ा अंतर निकलकर सामने आता है।

तासी इसे **'समझ न आने वाली कविता'** और केई इसे वैश्विक स्तर पर ख्याति वाली कविता कहते हैं। केई ने मानस को रामायण से अलगाया है और कुछ प्रमुख बिंदुओं को रेखांकित कर इसे मौलिक कृति मानने की बात की है। रामचरितमानस रामायण का अनुवाद

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-22

नहीं है, मानस और रामायण के नियोजन में अंतर है, रामायण और मानस के कथाप्रसंग, घटनाक्रम अलग-अलग और अंतरयुक्त हैं, रामायण और मानस में धार्मिक दृष्टि का अंतर है। रामायण में जहाँ राम एक राजा और प्रजा के अभिभावक के तौर पर हैं, वहीं मानस में तुलसीदास ने उन्हें देवत्व प्रदान कर दिया है। मानस पर रामायण का नहीं आध्यात्म रामायण का ज़्यादा प्रभाव लक्षित होता है। यही मौलिकता केई मानस की लोकप्रियता का प्रमुख कारण मानते हैं,और इसे उत्तर भारत की हिन्दू जनता का बाइबिल (धार्मिक ग्रंथ) बताते हैं - **"बहरहाल तुलसीदास की कविता को जो आश्चर्यजनक स्वीकृति मिली वही उसकी श्रेष्ठता का सर्वोत्तम प्रमाण है। आज संस्कृत के कुछ पंडितों को छोड़कर उत्तर भारत के हिन्दू समुदाय के सभी वर्गों में क्या ग़रीब, क्या अमीर, युवा, वृद्ध, पढ़े-लिखे सबके बीच समान रूप से प्रशंसित और समादृत है"[1]।** केई किसी कृति को प्रसिद्धि के आधार पर श्रेष्ठ बताने का काम कर रहे हैं। लेकिन इस आलोचना की एक सीमा है, जो लोकप्रिय है वह श्रेष्ठ ही हो यह सार्वभौमिक सत्य नहीं है। यहाँ भी इस कृति पर स्त्री और शूद्रों के लिए कही गईं कटूक्तियों के लिए कठघरे में खड़ा किया जाता है।

केई रामायण (मानस) की महानता को स्वीकार करते हैं और इसे विश्वसाहित्य की क्लासिक कृतियों के समकक्ष खड़ा कर देते हैं परंतु इसमें व्याप्त साहित्यिक दोषों पर इनकी नजर जाती है। यह उस पर प्रश्न भी खड़ा करते हैं। तुलना करते हुए सूर की कविता में पद योजना और छंद निर्वाह को तुलसी से बेहतर होने की संभावना व्यक्त करते हैं। सूरदास की काव्य कुशलता को सराहा है। इन सबके बावजूद जब वह तुलसी के संबंध में चर्चा करते हैं तो इन प्रमुख बातों को जिनमें तुलसी महान, प्रभावशाली, किसी संप्रदाय की स्थापना न करने वाले और कुछ नया स्थापित करने वाले न होने के बावजूद **"किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्तमान उत्तरी भारत के बहुसंख्यक हिंदुओं में वैष्णव मत को स्वीकार्य बनाने में रामायण की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है"[2]।** इस प्रकार केई वैष्णव धर्म के प्रसार के लिए,उसकी स्वीकार्यता बढ़ाने के लिए रामायण को प्रमुख कारक मानते हैं।

तुलसी के मानस के बाद रामभक्ति शाखा में कोई बड़ी या मानस के समकक्ष कोई रचना नहीं मिलती है। क्योंकि मानस का प्रभाव इतना व्यापक था कि बाद में किसी ने उसका अनुकरण करने का या उस क्षेत्र में कोई रचना करने का प्रयास नहीं किया। **"यह तुलसीदास की महान उपलब्धियों का परिचायक है कि अन्य वैष्णव आंदोलनों की तुलना में**

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ62

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-65

रामानंदपंथियों अथवा रामभक्ति काव्य में असाधारण महत्त्व की कम रचनाएँ मिलती हैं। निःसंदेह इसके पीछे तुलसीदास जी की कृतियों का छा जाने वाला प्रभाव है"[1]।

तुलसी की रचनाओं के पूर्व भी इस भक्तिशाखा में इस तरह जनमानस पर प्रभाव डालने वाली कोई भी रचना नहीं थी और ना ही तुलसीदास के बाद ऐसी किसी कृति की रचना हुई, जिसे तुलसीदास की रचनाओं की तरह लोकप्रियता, स्वीकार्यता और महत्त्व मिला हो। इस प्रकार अगर देखा जाए तो तुलसी और मानस रामभक्ति शाखा का अकेला वह नक्षत्र है जो पूरे भक्ति आंदोलन में रामभक्ति का प्रतिनिधित्त्व करता है।

कृष्णभक्ति साहित्य में नैतिकता का अभाव है लेकिन तुलसी की रामभक्ति कविता में केई इस विशेषता को प्रशंसनीय बताते है और इस शाखा के शुद्ध और दृप्त नैतिक स्वर के कारण कृष्णभक्ति साहित्य की तुलना में श्रेष्ठ मानते हैं। केई के लिए साहित्य की श्रेष्ठता का पैमाना नैतिकता था इसीलिए वह तुलसीदास को विश्वकवियों के मध्य स्थापित करने का प्रयास भी अपनी आलोचना में करते हैं। तुलसीदास का उद्देश्य केवल रामकथा को कहना नहीं था। वह इसके द्वारा नैतिक और सामाजिक जीवनमूल्यों को ऊपर उठाने का काम कर रहे थे। तुलसीदास केई के लिए केवल कथावाचक नहीं बल्कि एक ऐसे उपदेशक थे जो रामकथा के द्वारा रामभक्ति के उदात्त मूल्यों का उपदेश दे रहे थे।

तुलसी के सामने मध्यकालीन धार्मिक समाज था, जो अपने नैतिक मूल्यों को लगातार पतनशील करता जा रहा था। इसी समाज को नैतिक उपदेश और मूल्यों की शिक्षा मानस के द्वारा तुलसीदास देने का प्रयास कर रहे थे। मानस में कई स्थानों पर कथा विन्यास में परिवर्तन अचानक से आ जाता है या फिर अवांतर कथाओं का संयोजन कवि के द्वारा कर दिया जाता है। ये कथ्य विषयांतर और अवांतर कथाएँ कथा और शिल्प को प्रभावित करने का काम कर रही थी। केई के शब्दों में देखें **तो "तुलसी बहुधा जो धार्मिक विषयांतर कर लेते हैं या बीच-बीच में जो प्रार्थनाएँ सन्निविष्ट कर लेते हैं कुछ सीमा तक रामायण की साहित्यिक मूल्यवत्ता को कम करने वाली हो सकती है"[2]।** यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि तुलसीदास मध्यकालीन धार्मिक समाज में कविता लिख रहे थे ऐसे में बिना ईश्वर का सहारा लिए यानी कि यदि मानस को निरा साहित्यिक या उपदेशात्मक ग्रंथ बना दिया जाता तो इसका इतना महत्त्व न रहता।

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-65

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-64

इसीलिए शायद तुलसी भक्त और भगवान के सीधे संबंध को स्वीकार करते हैं और उसके बीच एक अटूट विश्वास जोड़ने का काम करते हैं। **"तुलसी ने वैष्णव आंदोलन के अन्य प्रमुख व्यक्तियों की तरह वेदान्त के सर्वेश्वरवादी दर्शन को तो स्वीकार किया पर हल्का सा परिवर्तन करते हुए उसमें ईश्वर के साथ व्यक्तिगत संबंध के विश्वास का भाव जोड़ दिया"[1]।** अवांतर कथाओं और इस व्यक्तिगत संबंध वाले भाव को जोड़ने के पीछे तुलसीदास के पास एक प्रमुख कारण यह था कि वह कथा तो कहना चाहते थे,लेकिन कथा के साथ-साथ अपनी बात भी कहना चाहते थे। जिसमें उनका चिंतन, उपदेश और दर्शन सब कुछ समाहित था।

तुलसी ने इस उपदेश और दार्शनिक चिंतन से परिपूर्ण कथा को कहने के लिए जनभाषा को चुना इससे एक नया पाठकवर्ग जो नैतिक और सामाजिक रूप से पतित होता जा रहा था उसे भी परंपरा प्रदत्त चिंतन अपनी रोजमर्रा की भाषा में मिला। जनता की भाषा में पुराणों और संस्कृत परंपरा के इस चिंतन को कथारूप में तुलसीदास जब लेकर आये उनकी आलोचना पंडितों के द्वारा की गई **"तुलसी भक्ति आंदोलन के उस प्रवृत्ति के पोषक थे जो काव्य रचना के लिए जनभाषाओं का प्रयोग करती थी, यद्यपि उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि इसके लिए उनकी आलोचना होगी। विशेषकर संस्कृत पंडित, अशिक्षित जनता को दी गई इस सुविधा के नाते उनके ग्रंथ की अवज्ञा करेंगे"[2]।** आभिजात्य मानस केई की नजर में यह स्वीकार नहीं करेगा ऐसा तुलसीदास स्वयं जानते थे। लेकिन फिर भी उन्होनें जनभाषा में इस ग्रंथ की रचना की। अवधी ब्रजभाषा के अलावा अन्य देशज भाषाओं के शब्दों को भी अपने मानस और अन्य रचनाओं में स्थान दिया, उनका प्रयोग अपनी मन-मर्जी से किया, जिसके कारण कविता जीवंत और सहज हो उठी।

[1] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-64

[2] अनुवाद सदानंद शाही, हिंदी साहित्य का इतिहास, एफ.ई. केई, लोकायत प्रकाशन गोरखपुर पृष्ठ-61

5.6 -फादर रेवरेंड कामिल बुल्के की आलोचना और राम भक्ति काव्य-

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने '**रामकथा उत्पत्ति और विकास**' के लिए अपनी टिप्पणी देते हुए कहा है **"यह ग्रंथ रामकथा संबंधी समस्त सामग्री का विश्वकोश कहा जा सकता है"**[1] इस पूरे शोधकार्य को फादर कामिल बुल्के ने 21 अध्यायों में विस्तृत रूप से रामकथा की उत्पत्ति और वैश्विक परिदृश्य पर शोधपूर्ण और तथ्यात्मक विचार किया है।

वैदिक साहित्य में रामकथा का स्वरूप क्या था? उसमें कौन-कौन से पात्र थे? इन कुछ प्रमुख सवालों से वह इस शोध की शुरुआत करते हैं। आरंभ में जनक और सीता की चर्चा करते हुए बुल्के ने लिखा है -**"अर्वाचीन रामकथा साहित्य में वैदिक जनक तथा रामकथा के जनक अभिन्न माने जाते हैं। वास्तव में दोनों की अभिन्नता सिद्ध करने के लिए प्रमाण नहीं दिए जा सकते। स्वीकार करना पड़ता है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता कि सीता, जनक की पुत्री हैं अथवा राम उनके जमाता"**[2]**।** फादर बुल्के रामकथा को कुछ सीमित ग्रंथों के आलोक में नहीं देख रहे थे बल्कि वह रामकथा से संबंधित जहाँ भी कोई पात्र का नाम या कथानक प्राप्त होता था, उसकी हर दृष्टिकोण से गहन जांच-पड़ताल करते थे। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, रामकथा,बौद्ध-जैन रामकथा, जातक कथा में रामकथा, संस्कृत धार्मिक साहित्य में रामकथा, नाटकों आदि में रामकथा, भारतीय भाषाओं जैसे (तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड, सिंहली, असमिया, कश्मीरी, उडिया, हिंदी, मराठी, गुजराती, उर्दू, फारसी)आदि के अलावा भारत के बाहर (तिब्बत, खेतान, हिन्देशिया, हिन्दचीन, श्याम, ब्रह्मदेश) रामकथा के पाश्चात्य वृत्तान्त आदि का अध्ययन करते हुए रामकथा की व्यापकता के हर पहलू पर अपनी आलोचनात्मक रूप से राय व्यक्त करते हैं।

रामकथा की व्यापकता के अलावा इसका विकास कहाँ? कैसे हुआ? कौन सा वृत्तान्त संभवतः कहाँ से लिया गया है? की भी चर्चा करते हैं। यह कह सकते हैं कि धीरेन्द्र वर्मा ने जो टिप्पणी कामिल बुल्के के शोध प्रबंध पर की थी वह वास्तव में इनके शोधकार्य में भी निहित है।

रामकथा के विभिन्न प्रसंगों का तुलनतामक रूप से अध्ययन करते हुए बुल्के एक स्थान पर स्पष्ट करते हैं 'अंगराग वर्णन' का प्रसंग आध्यात्म रामायण में इसका उल्लेख है। रामचरितमानस में इसका उल्लेख नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास संभवतः तैत्तरीय ब्राह्मण के

---

[1] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ- (भूमिका)

[2] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-4

उपाख्यान से परिचित थे और उसे सीता की मर्यादा के विरुद्ध समझकर उन्होनें इस 'अंगराग' के विषय में जानबूझकर कुछ नहीं कहा। वे लिखते हैं-

दिव्य बसन् भूषन पहिराये

जे नित नूतन अमल सुहाए"[1]

फादर कामिल बुल्के आलोचना करते समय पूरी काव्यपरंपरा को ध्यान में रखे हुए थे। कहाँ-कौन कथालेखक क्या लिख रहा है? वह कहाँ से ग्रहण कर रहा है? और उसके ग्रहण करने के पीछे का संभावित कारण क्या हो सकता है? और अगर कोई लेखक कुछ प्रसंगों को ज़्यादा महत्त्व देकर कुछ प्रसंगों को त्याज्य समझ रहा है तो उसका क्या कारण हो सकता है? आशय यह कि रामकथा के विकास की कड़ियों को ध्यान में रखकर अपनी आलोचना दृष्टि से उसका अवलोकन कर रहे थे।

वैदिक साहित्य में जहाँ कुछ नाम साम्य मिलता है रामकथा के पात्रों से उस पर बुल्के ने टिप्पणी करते हुए लिखा है **"इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक रचनाओं में रामायण के एकाध पात्रों के नाम अवश्य मिलते हैं लेकिन न तो इनके पारस्परिक संबंध की कोई सूचना दी गई है और न इनके विषय में रामायण की कथावस्तु का किंचित भी निर्देश किया गया है। जनक और सीता का बार-बार उल्लेख होने पर भी दोनों का पिता-पुत्री संबंध कहीं भी निर्दिष्ट नहीं हुआ है"[2]।** फादर बुल्के गहन विश्लेषण द्वारा यह निश्चित करते हैं कि वैदिक साहित्य में आये उन रामकथा संबंधी नामों का रामायण या मानस के पात्रों से सीधा कोई संबंध नहीं है। वह वहाँ केवल नाम मात्र ही हैं।

इसी प्रकार तुलना करते हुए कामिल बुल्के एम वितरनित्ज का उदाहरण देते हुए लिखते हैं **-"रामायण में राम अपने पिता के देहांत का समाचार सुनकर अत्यंत शोक करते हैं और केवल बाद में भरत को सांत्वना देते हैं। जातक कथाओं में वर्णित रामकथा में 'राम' किंचित भी शोक नहीं करते, इसमें बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है"[3]।** वैदिक, संस्कृत, बौद्ध तथा जैन साहित्य की पड़ताल करने के बाद फादर बुल्के निष्कर्ष रूप में स्थापित करते हैं -कि जो नाम वैदिक साहित्य में रामकथा के पात्रों से मिलते-जुलते हैं वह साम्य और संयोग मात्र है। **"इस सामग्री की अल्पता को ध्यान में रखकर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि समस्त रामायण का आधार पाली गाथाओं में ढूँढ़ना व्यर्थ है, रामायण रामकथा**

[1] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-7

[2] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-19

[3] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-65

संबंधी आख्यान काव्य पर निर्भर है और इस आख्यान काव्य की थोड़ी सी सामग्री पाली गाथाओं में आ गई है"[1]। यानी कि रामकाव्य की किसी भी धारा का सीधा संबंध किसी एक किताब या एक परंपरा से नहीं जोड़ा जा सकता है। बल्कि वह जनसमुदायों की मौखिक परंपरा का ऐसा आख्यान है जो विभिन्न पृथक धाराओं के रूप में अनवरत चलता रहा और कहीं मिलता रहा कहीं अलग होता रहा। लेकिन एक किसी भी बिन्दु पर संपूर्णता में आज भी नहीं मिला है।

'द हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के लेखक 'व्हीलर' भी रामायण की रचना के पीछे बौद्ध- ब्राह्मण संघर्ष को मुख्य रूप से जोड़ते हैं। वह मानते हैं कि रामायण का समस्त काव्य ब्राह्मण और बौद्ध दोनों के संघर्षो का प्रतीक है। राक्षसों से बौद्धों का अभिप्राय है लंका पर जो आक्रमण का वर्णन किया जाता है उसमें सिंहलद्वीप के बौद्धों के प्रति वाल्मीकि का विरोध और द्वेष प्रकट हुआ है। व्हीलर की इस मान्यता को पुष्टि रामायण के प्रसंगों से ही मिलती है, जिनमें बौद्धों के लिए कटूक्तियाँ कही गई हैं।

रामायण की रचना करने के पीछे कौन सी प्रेरणा पूर्णतः या अंशतः काम कर रही थी? इसकी पड़ताल बेबर ने भी की है। बेबर अनुमान लगाते हैं कि **"रामायण में सीताहरण की कथा का मूल स्रोत संभवतः होमर में वर्णित पैरिस द्वारा हेलेन का हरण है और लंका में जो युद्ध हुआ उसका आधार संभवतः यूनानी सेना द्वारा ब्राथ का अवरोध है"[2]।** एक ओर व्हीलर की स्थापना है जो बौद्ध- ब्राह्मण संघर्ष को रामायण की रचना प्रेरणा मानने के पक्ष में है। दूसरी ओर बेबर जो रामायण के प्रसंगों पर होमर की कथा की प्रेरणा के रूप में देख रहे हैं।

बेबर की इस अनुमानित स्थापना के पीछे 'एडवर्ड सईद' द्वारा प्रस्तुत की गई 'प्राच्यवाद' की अवधारणा की झलक मिल रही है। इसमें प्राच्य देश के बारे में कुछ भी विचार करने से पहले यह अनुमान कर लिया जाता है कि यहाँ जो कुछ भी है वह पश्चिम से प्रभावित या अनुकृत है। बेबर की इस सीताहरण वाली स्थापना में भी यही लक्षित हो रहा है।

बुल्के, बेबर से सहमत नहीं होते बल्कि वह इस पर सवाल खड़ा करते हैं - होमर अपनी कविता में नावों को ज़्यादा महत्त्व देते हैं और अगर वाल्मीकि इस कथा से परिचित होते तो वह राम की सेना को समुद्र पार पहुँचाने के लिए नावों का सहारा लेते। सीताहरण या अन्य प्रसंग भी वाल्मीकि होमर से ग्रहण नहीं कर रहे थे, वह इतना सामान्य और साधारण साम्य है

---

[1] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ--77

[2] बेबर,बेबर ऑन दि रामायण -पृष्ठ 11

कि जब तक कोई अन्य विशेषताओं का कोई और महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं मिल जाता तब तक होमर और वाल्मीकि में परस्पर प्रभाव मान लेना एक काल्पनिक बात ही है।

इस प्रकार फादर कामिल बुल्के बेबर के कल्पित मत का खंडन अपने शोध में करते हैं।

ई हापकिंसन् के अध्ययन का उदाहरण देते हुए बुल्के रामकथा के विकास का सूत्र महाभारत के शांति पर्व में मिलने वाली रामकथा में खोजते हैं और लगभग यही मत डॉ. यकोबी का है। इसमें एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है वह यह कि जो राम का चरित्र है वह किसी प्राचीन देवता संबंधी आख्यान पर निर्भर है और इस आख्यान में रामकथा के अन्य पात्र जैसे सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी की कथा बाद में जोड़ दी गई और अंत में वाल्मीकि ने रावण,हनुमान,लंका आदि के वृत्तान्त लेकर उसे और बढ़ाया।

हापकिंसन् रामायण के इस विकास को आख्यानों के संयोजन के रूप में देखते हैं। जिसका आख़िरी और महत्त्वपूर्ण संयोजन वाल्मीकि ने किया था। लेकिन इस विकास का कोई एक सूत्र स्पष्ट नहीं कर पाते हैं औरवह मानते हैं कि यह कथा एक व्यक्ति के मक्षतिष्क की उपज नहीं हो सकती है। यदि इतनी विस्तृत कथा एक मस्तिष्क की उपज नहीं है तो आपस में इसका जो कथाक्रम और चरित्र संयोजन है वह इतना सुगठित कैसे है? तो क्या वाल्मीकि एक संयोजक के रूप में इस कथा को एकरूपता देने में सफल हुए हैं।

अब बेबर की मान्यता को यदि देखे तो वह लिखते हैं**- "रामायण का समस्त काव्य एक रूपक मात्र है जिसके द्वारा दक्षिण की ओर आर्य सभ्यता और कृषि का प्रचार दिखलाया जाता है। प्रधान पात्र सीता जिसका हरण और पुनर्प्राप्ति काव्य की कथावस्तु है कोई एतिहासिक व्यक्ति न होकर खेत की सीता 'लांगल पद्धति' का मानवीकरण मात्र है जिसे आर्य कृषि का प्रतीक मानना चाहिए। वैदिक सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी और रामायण की सीता अभिन्न है"[1]।** फादर बुल्के, सीता को मात्र साम्य और संयोग मानते हैं। वहीं बेबर एक मज़बूत अंतरसंबंध स्थापित कर यह कहते हैं कि, वैदिक सीता और रामायण की सीता एक ही है। लेकिन इसके पीछे वह कोई ठोस तर्क प्रस्तुत नहीं करते बल्कि रामायण को एक **'रुपक काव्य'** बताते हुए रामायण के संघर्ष को दक्षिण भारत में कृषि प्रसार के लिए हुए संघर्ष को मानते है और इन्हीं रूपकों का मानवीकरण करके इस कथा की रचना करते हैं।

रामायण के तीनों पाठों मे अवतारवाद की सामग्री का विश्लेषण भी फादर कामिल बुल्के करते हैं। इसे समझना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि हिंदी रामकाव्य परंपरा में राम के

---

[1] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-50

स्वरूप को देखे तो वह विष्णु के अवतार के रूप में स्थापित एक ईश्वर की छवि हैं, बुल्के को इन तीनों पाठों में अवतारवाद की सामग्री ना के बराबर मिलती है। रामायण के जिस अंश में यह सामग्री मिलती है उसे विद्वानों ने प्रक्षिप्तता की श्रेणी में माना है। इस आधार पर देखा जाए तो रामकथा में अवतारवाद की भावना का आरोपण बाद के कथाकारों का काम है। वाल्मीकि रामायण की रचना के समय तक तो यह एक 'राजा' के रूप में स्थापित थे। अवतारवाद को बाद की भावना मानने के पीछे बुल्के द्वारा दिया गया यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है।

रामायण की कथा में पात्र राम को अवतार नहीं समझते उदहरणार्थ राक्षसों के प्रति राम की हिंसात्मक प्रवृत्ति देखकर सीता, राम के परलोक के विषय में चिंता प्रकट करती हैं। इस प्रकार इस उदाहरण के आधार पर देखें तो अवतार की भावना बाद की है।

रामकथा की प्रेरणा के विभिन्न मतों का विश्लेषण करने के बाद फादर कामिल बुल्के रामकथा के समय को निर्धारित करने का प्रयास करते हैं। सही निर्धारण न कर पाने के बाद वह लिखते हैं कि महाभारत शांति पर्व में जो संक्षिप्त रामचरितमानस मिलता है, वह इस प्राचीन आख्यान काव्य पर ही निर्भर प्रतीत होता है। साथ-साथ महाभारत में रामकथा की उपस्थिति इस बात को प्रमाणित करती है कि राम संबंधी आख्यान काव्य का प्रचार कोशल प्रदेश तक ही सीमित नही था वरन् पश्चिम की ओर भी फैलने लगा था जहाँ महाभारत की रचना हुई थी।

दूसरी ओर वैदिककाल के बाद और चौथी शताब्दी ईसा पहले रामकथा संबंधी आख्यान काव्य की उत्पत्ति हुई थी। वास्तव में इसका रचनाकाल निर्धारित करने के लिए कोई ठोस आधार नहीं मिलता है। इसीलिए कामिल बुल्के किसी एक समय-सीमा के अंतर्गत रामकथा या रामायण की उत्पत्ति नहीं मानते वरन् इस कथा को एक परंपरा से विकसित मानते हैं। यह परंपरा कैसे जन-जन तक पहुंची, इसके पीछे का मुख्य कारण है जिसे बुल्के **वाचन और गायन परंपरा** कहते हैं **"कुलीश्व रामायण को गाते-गाते अपने श्रोताओं की रुचि का भी ध्यान रखते होंगें जिन गायकों में काव्यकौशल था वे लोकप्रिय अंशों को बढ़ाते थे और इसी तरह आदिरामायण का कलेवर बढ़ने लगा"[1]।** किसी कथा की गायन परंपरा में यह संभव है जहाँ श्रोताओं की रुचि के अनुसार गायक कथा को विस्तार और संकोच कर सकता है। यहाँ उन अंशों में प्रसार भी संभव है जिन अंशों में श्रोता या दर्शक ज़्यादा रुचि ले रहे हों।

रामायण में राम राजा के रूप में प्रतिष्ठित है। वह वहाँ ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं है, तो प्रश्न यह है कि, राम के राजा रूप में ईश्वर का आरोपण कब और कैसे हुआ? इस पर बुल्के भी

[1] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-110

अपने विचार रखते हैं **'भक्तिद्राविड उपजी लाए रामानंद'** इस कथन से कामिल बुल्के भी प्रभावित थे। और रामभक्ति के संबंध में फादर बुल्के अपनी राय स्पष्ट रूप से इस प्रकार से रखते हैं- **"ऐसा प्रतीत होता है कि रामभक्ति का पल्लवन दक्षिण भारत में हुआ है तमिल आलवरों की रचना 'नालयिर प्रबंधम' में बहगवां विष्णु तथा उनके अवतारों के प्रति असीम भक्ति तथा आत्मसमर्पण की भावना का हृदयस्पर्शी निरूपण मिलता है"[1]।** इस भक्ति के विकास के साथ ही रामकथा को भक्ति के साँचे में ढालने के प्रयास शुरू हुए जिसके फलस्वरूप बहुत से सांप्रदायिक रामायणों की सृष्टि होने लगी जिनमें मुख्यतः अध्यात्म रामायण, आनंद रामायण,अद्भुत रामायण हैं। बुल्के इसी आध्यात्म रामायण को रामचारितमानस का आधार ग्रंथ होने का गौरव प्रदान करते हैं।

आध्यात्म रामायण को आधार ग्रंथ मानने के पीछे कामिल बुल्के इन कथा प्रसंगों का उदाहरण देते हैं-

1. राम द्वारा माता को विष्णु रूप दिखाना
2. बाललीला वर्णन

विराट रूप दिखाने का प्रसंग भागवत महापुराण में भी वर्णित किया गया है और रामजन्मोत्सव के अवसर पर शिव तथा भुसुंडी का मानव रूप धारण कर अयोध्या का भ्रमण करना आदि प्रसंग रामचरितमानस में अन्य पौराणिक स्रोतों से ग्रहण किए गए हैं। रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना का संबंध प्राचीन साहित्य के श्रृंगारात्मक वर्णनों से नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि राम की मधुरोपासना के संबंध में वहाँ कोई भी रचना नहीं मिलती है।

इसके अभाव में बुल्के अपना मन्तव्य ज़ाहिर करते हैं और लिखते हैं **- "उपासना की यह पद्धति संभवतः 15 वीं शताब्दी में कृष्णभक्ति के अनुसरण पर चलाई गई। अग्रदास के अष्टयाम में राम की रासक्रीड़ा का वर्णन है। इनकी पदावली तथा ध्यानमंजरी में मँझी हुई भाषा के भक्तिपूर्ण पद मिलते हैं। अग्रदास के शिष्य नभादास ने भी रामसीता चरित को लेकर अष्टयाम की रचना की"[2]।** हो सकता है जिस समय कामिल बुल्के अपना शोध प्रबंध लिख रहे थे उस समय कोई अध्येता राम भक्ति में मधुरोपासना का संबंध संस्कृत नाटकों से जोड़ने वाली स्थापना को लाने का प्रयास किया हो। इसी कारण फादर बुल्के ने इतने स्पष्ट शब्दों में अपनी इस बात को सामने रखा ,कि राम से संबंधित किसी भी नाटक में राम-सीता के मध्य मधुरोपासना का भाव नाटककार ने व्यक्त नहीं

[1] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-118

[2] बुल्के, फादर कामिल, रामकथा,हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950, पृष्ठ-200

किया है। इसीलिए इस उपासना पद्धति का मूल रूप इन नाटकों में नहीं मानना चाहिए। लेकिन एक जगह पुस्तक में वह अपनी इसी स्थापना के विरोध में इस प्रभाव को संस्कृत नाटकों से आया हुआ स्वीकार करते हैं- **"उद्दीपन के रूप में पुष्पवाटिका का वर्णन, किसी सखी द्वारा नायक की प्रशंसा, नायक-नायिका के परस्पर दर्शन तथा फलस्वरूप प्रेम का उद्भव यह सब संस्कृत के श्रृंगारात्मक नाटकों का प्रभाव माना जा सकता है। किन्तु मानस की मौलिक विशेषता यह है कि उन नाटकों की भाँति उसमें नायिका का नख-शिख वर्णन नहीं मिलता और सखियाँ निर्लज्ज व्यंग्य नहीं करतीं"[1]।** सीता के पूर्वानुराग चित्रण में शिष्ट मर्यादा का तुलसीदास ने विशेष ध्यान रखा है और विशुद्ध श्रृंगार का ऐसा रस प्रवाह किया है कि वहाँ वासना का एक बिन्दु मात्र भी नहीं है।

मानस रचना के समय रामभक्ति में मधुरोपासना का आविर्भाव होने लगा था इसके कारण रामकथा का जो लोकसंग्रही रूप था उस पर संकट आ गया। इसलिए उस विश्वास को अवांछनीय समझकर तुलसीदास ने लिखा -'**अति खल जे विषयी बन कागा,एहि सर निकट न जमहि अभागा**'।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित देश-काल और वातावरण का संबंध, कवि अनुभव में पाए जाने वाले अंतर को भी कामिल बुल्के ने समझने का प्रयास किया है। रामायण में वर्णित भूगोल के अनुसार जब वास्तविकता में उन स्थलों और कथा वर्णनों का तुलनात्मक अध्ययन किया तो पाया - **"आदिकवि उत्तर प्रदेश को अच्छी तरह जानते थे, किन्तु मध्य और दक्षिण भारत के भूगोल से अपरिचित थे।अतः चित्रकूट निवास के बाद की घटनाओं का भूगोल विषयक साहित्य अनुमान पर आधारित है"[2]।** इस प्रकार अगर कामिल बुल्के की आलोचना को देखें तो वह विभिन्न स्तरों पर कथा का मूल्यांकन करते हुए अनुभव और परंपरा प्रदत्त ज्ञान परंपरा का मूल्यांकन करते हैं, जिसमें यह स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि यह वाल्मीकि का अनुभव है तथा यह परंपरा प्रदत्त ज्ञान में से वाल्मीकि का चयन है।

तुलसीदास के मानस पर विचार करते हुए फादर कामिल बुल्के का मानना है कि उत्तर भारत में रामभक्ति के विकास में इसका महत्त्व अद्वितीय है और यह रचना तुलसी की अन्य रचनाओं से रामचारितमानस सबसे ज़्यादा लोकप्रिय व धार्मिक रूप से मान्यता प्राप्त है।

मानस के अलावा तुलसी की अन्य रचनाओं में भी राम की कथा या इस कथा के अंश मिलते हैं और इस कथा के संयोजन में प्रसंग कहाँ से लिए गए इसका विवरण भी कामिल

[1] कामिल बुल्के ,एक ईसाई की आस्था रामकथा और हिंदी,प्रकाशन संस्थान,पृष्ठ-49

[2] बुल्के,फादर कामिल,रामकथा और तुलसीदास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद पृष्ठ-19

बुल्के प्रदान करते हैं **"ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में तुलसीदास वाल्मीकि रामायण से अधिक प्रभावित थे ,अपनी बाद की रचनाओं में अन्य रामकथा साहित्य से भी। मिथिला की वाटिका में राम और सीता के परस्पर दर्शन का उल्लेख रामाज्ञाप्रश्न तथा जानकी मंगल में नहीं हैं लेकिन वह रामचरितमानस तथा गीतवाली में मिलता है। मिथिला में रावणदूत का आगमन रामाज्ञाप्रश्न में नहीं मिलता है लेकिन रामचारितमानस तथा गीतवाली में पाया जाता है"[1]।** तुलसीदास की कविता की मौलिक विशेषता भी यही है,कि वह किसी का हूबहू अनुवाद नहीं करते हैं। किसी रचना में किसी प्रकार का दोहराव नहीं लाते हैं,प्रसंगानुकूल जहाँ जिस प्रसंग की जितनी आवश्यकता होती है वहाँ उतना ही प्रयोग में लाते हैं।

फादर कामिल बुल्के 'गीतावली' की समस्त रचना में कृष्णकाव्य का प्रभाव लक्षित करते हैं। इसी कारण इसके उत्तरकाण्ड में राम-सीता के बसंतविहार का वर्णान है तथा इसमें वाल्मीकि रामायण के 'गौड़ीय पाठ' के अनुसार राम की शरण लेने के पूर्व विभीषण का अपने भाई कुबेर के पास जाने का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार देखें तो रामकथा का कोई एक पैटर्न तुलसी ने किसी रचना में अनुसरित नहीं किया, बल्कि वह कथाप्रसंग चुनने और उन्हें प्रयोग में लाने को स्वतंत्र थे। जिससे तुलसीदास की सभी रचनाओं का मुख्य कथानक रामकथा होने के बावजूद सभी में कुछ न कुछ अंतर पाया जाता है।

एक ईसाई की आस्था-

रामायण के उद्देश्य के संबंध में फादर कामिल बुल्के का मानना है कि **'रामायण में कला का उद्देश्य चरितार्थ हुआ है'**। कला या साहित्य के उद्देश्य के बारे में लगभाग हर साहित्यकार ने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। बुल्के का इस संदर्भ में मानना है कि 'कला मानव जाति की उच्चतम आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का साधन है अतः कला का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं हो सकता उसके उद्देश्य को मानव जीवन के उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता' यहाँ इस बात की चर्चा इसीलिए आवश्यक हो गई है कि बुल्के जिस ग्रंथ को अपने अध्ययन के लिए चुनते हैं, उसकी विशिष्टता क्या है? वह किन प्रतिमानों के आधार पर उसका मूल्यांकन करते हैं?

रामायण को **भारतीय आदर्शवाद का उज्ज्वलतम प्रतीक** मानते हुए फादर बुल्के इसके पीछे अपनी सुचिन्तित टिप्पणी भी देते हैं **"वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत मानव धर्म में कहीं भी सांप्रदायिकता का स्पर्श मात्र ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा उनके द्वारा अंकित नैतिक**

[1] बुल्के,फादर कामिल,रामकथा और तुलसीदास,हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद पृष्ठ-22

आदर्श विश्वजनीन हैं, यह परवर्ती रामकथा के बारे में भी सच है। वास्तव में आदर्श जीवन का वह दर्पण है, जिसे भारतीय प्रतिभा शताब्दियों परिष्कृत करती रही। इस प्रकार रामकथा भारतीय आदर्शवाद का उज्ज्वलतम प्रतीक बन गई है"[1]। यहाँ पर बुल्के रामचारितमानस नहीं, बल्कि रामकथा की बात इस संदर्भ में कर रहे हैं कि यह कथा विश्वजनीन बन गई है।

वाल्मीकि के बाद परवर्ती कवियों में तुलसीदास के मानस का स्थान फादर कामिल बुल्के ने अद्वितीय माना है क्योंकि इसमें भी वाल्मीकि की रामायण की तरह लोकसंग्रह का निर्वाह किया गया है। तुलसी का प्रतिदान यह है जिसकी चर्चा पहले भी की गई है- इन्होंने रामकथा में भगवतभक्ति को प्रविष्ट करा दिया। तुलसीदास की इस भगवतभक्ति की मुख्य विशेषता है कि, उसमें नैतिक आदर्श, इष्टदेव के प्रति अनन्य समर्पण के साथ-साथ अपने दैन्य की तीव्र अनुभूति भी प्रमुख रूप से है।

लेकिन आज जब इस प्रकार की स्थापनाओं की चर्चा होती है तो विमर्शवादी आलोचक विभिन्न अस्मिताओं के प्रति कही गईं कटूक्तियों के आलोक में प्रश्न खड़ा करते हैं। इन रचनाकारों को कटघरे में खड़ा करते हैं, शंबूक, सीता, मंथरा आदि को कहे गए दुर्वचन शूद्रों, स्त्रियों के प्रति इन रचनाकारों का ब्राह्मणवादी तथा वर्मणाश्रम व्यवस्थाका समर्थक नज़रिया कहाँ तक मानवतावादी या विश्वजनीन हो सकता है?

असमानता की जड़ वर्णाश्रम व्यवस्था का गुणगान करने वाली पंक्तियों की आलोचना किए बिना यदि कोई पूरे ग्रंथ को मानवतावादी घोषित करने की चेष्टा करेगा तो स्त्री और शूद्र हितों के पैरोकार आलोचक, आलोचनादृष्टि पर प्रश्नचिह्न खड़ा करेंगे ही।

तुलसीदास के भक्तिमार्ग की प्रमुख विशेषता यह थी कि वह बहुत सहज, कर्मकाण्ड रहित थी, समकालीन संप्रदायगत संघर्ष और उनके मध्य स्थित मतांतरों से जनता ऊब चुकी थी और इस प्रकार की साधनाएँ जन साधारण की शक्ति से परे थीं। इसी बीच तुलसी मानस के माध्यम से यह संदेश प्रसारित करने में सफल हुए कि भगवान तक पहुँचने के लिए तपस्या, कर्मकाण्ड और रहस्य की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए एकमात्र भक्ति का आवलंबन ही काफी है। इसी सरल, सुगम भक्तिमार्ग को तुलसीदास 'राजडागरो' सा बताते हैं।

इस भक्तिमार्ग में भक्ति और नैतिकता का अन्योन्याश्रित संबंध है। तुलसी नैतिकता के अभाव में भक्ति को असंभव मानते हैं, इसीलिए उन्होनें 'नैतिकता' और 'मर्यादा' पर बल

[1] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-13

दिया तथा रामायण का 'लोकसंग्रही रूप' अपनाया उन्होंने लिखा - **"तुलसी ने एक ओर तो अपनी सभी रचनाओं में परहित की आवश्यकता और महत्त्व का प्रतिपादन किया है दूसरी ओर उन्होनें निर्भीकतापूर्वक कर्मकाण्ड की अनावश्यकता पर बाल देते हुए कहा 'बलि पूजा चाहत नहि, चाहत एक प्रीत'"[1]।**

बुल्के नवधाभक्ति आदि के द्वारा सर्वसाधारण के लिए भक्ति के द्वार खोलने का श्रेय तुलसीदास को देते हुए यह स्थापित करते हैं -**"उन्होंने कहीं भी कर्मकांड पर बल नहीं दिया, कहीं भी मंदिर में होने वाली पूजा के लिए अनुरोध नहीं किया, भक्तिमार्ग की नींव नैतिकता है और अपनी उपर्युक्त विशेषता के कारण वह सब संप्रदायों से ऊपर उठकर मानव मात्र के लिए उपर्युक्त है"[2]।** बुल्के बार-बार तुलसीदास की कविता को 'मानवता का पोषक', 'नैतिकता का रक्षक' घोषित करने का प्रयास करते हैं। लेकिन उक्त प्रश्न अब भी वही है, कि क्या वर्णाश्रम व्यवस्था में शूद्र कह दिए गए लोगों को भक्ति का अधिकार नहीं था? क्या वह मानव नहीं थे? अगर थे तो फिर उनके लिए इतने सारे बंधन लगा देने वाले तुलसी मानव मात्र के पक्ष में कैसे हैं।

बुल्के ने इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में लिखा **"तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत कलियुग के वर्णन में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिंब देखा जा सकता है,तुलसीदास के विचार में पतन का मूल कारण वर्णाश्रम धर्म का त्याग है"[3]** यानि कि तुलसीदास के सामने वर्णाश्रम धर्म को बचाने कि चुनौती कविता के माध्यम से थी।

लोकप्रियता के संबंध में तुलसीदास के जीवनकाल में कोई भी यह कल्पना नहीं कर सकता था कि बनारस के असी घाट के आश्रम में रहने वाले वयोवृद्ध बाबा को अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त होगी। भारत में मुद्रण की व्यवस्था हो जाने के बाद तुलसी की रचनाओं की लाखों प्रतियाँ बिकेगीं। तुलसीदास कवि और भक्त दोनों थे इन दोनों तत्त्वों को अगर अलग करके देखेंगे तो उस कवि और अनन्य भगवतभक्त के प्रति अनन्याय होगा। बुल्के इस संबंध में **"फलस्वरूप तुलसी काव्य का सर्वस्व भक्ति ही है उन्होनें अपने काव्य में न केवल भक्तिमार्ग के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन किया, किन्तु साथ-साथ अपने हृदय की अनन्य भक्ति को भी अभिव्यक्त किया है। वास्तव में विनयपत्रिका विश्व भर और युगों-युगों की साधना साहित्य की सर्वोतकृष्ट रचनाओं में अग्रगण्य है। तुलसी के भक्तिमार्ग के मूलतत्व**

---

[1] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-39

[2] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-16

[3] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-59

विश्वजनीन है और यह विश्वजनीनता उसकी स्थायी लोकप्रियता का रहस्य है। फिर भी यदि वह कवि नहीं होते तो करोड़ों लोगों को भक्ति का रसास्वादन नहीं करा पाते"[1]। विद्यापति, कबीर और रीति कवियों के संबंध में इस तरह के प्रश्न आलोचक उठाते रहे हैं कि यह कवि थे या भक्त? आचार्य थे या कवि ? लेकिन तुलसी की कविता के संबंध में जो राय देते हैं उसके पीछे एक चिंतन है। जो उनके कवि और भक्त दोनों के समन्वित रूप से निकला है।

जनभाषा में रचना करने के कारण तुलसीदास को बुल्के भी जनकवि मानते हैं। वाल्मीकि ने पुराणों की वैदिक संस्कृत की परंपरा को छोड़कर जनकाव्य लिखा। जिसकी भाषा **लौकिक संस्कृत** थी। इसी तरह तुलसीदास 'अवधी' और 'ब्रजभाषा' में अपनी रचनाएँ लिख रहे थे। उनमें वाक्य विन्यास की सरलता है, जो गद्य से भी ज़्यादा बोधगम्य हैं। अकृत्रिम अलंकार, सजीव वर्णन, मनोवैज्ञानिक चरित्र- चित्रण, मार्मिस्थलों की पहचान, सूक्तियाँ, असंख्य नीतिवाक्य, सरल स्वाभाविक अनुवाद यह सब इतना लोकप्रिय हुआ कि साधारण जनता और पंडित सभी को एक समान मोहित करने में सक्षम हुआ।

फादर बुल्के इन्हीं आधारों पर घोषणा करते हैं कि **"तुलसीदास संसार के उन गिने-चुने कवियों में से हैं जिनकी रचनाएँ शताब्दियों तक लाखों मनुष्यों द्वारा पढ़ीं जाती हैं"[2]।** इन पंक्तियों को लिख फादर कामिल बुल्के स्पष्ट करते हैं कि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में समाज के प्रत्येक प्राणी के लिए एक जीता-जागता आदर्श प्रस्तुत किया है। राम का आज्ञापालन, सीता का पातिव्रत्य, लक्ष्मण का भाई के प्रति प्रेम, भरत का स्वार्थ त्याग, कौशल्या का वात्सल्य और हनुमान की स्वामीभक्ति। **"तुलसीदास ने यह सब इतने आकर्षक तथा मोहक रूप में प्रस्तुत किया है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार रामचरितमानस उत्तर भारत की जनता के लिए मेरुदंड साबित हुआ"[3]**। जिन आदर्शों की बात ऊपर कही गई है वह उस समय में किसी अन्य आख्यान पात्र में दुर्लभ थे। तुलसी ने राम का आदर्श गढ़कर उनके आस-पास के सभी चरित्रों के द्वारा एक आदर्श समाज के नमूने को मानस में प्रस्तुत किया, जिसकी अपनी समयगत और व्यक्तिगत पूर्वग्रहों के कारण कुछ सीमायें अवश्य हैं लेकिन वह पूर्णरूपेण त्याज्य नहीं हैं।

---

[1] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-37

[2] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-38

[3] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ

अन्य भारतीय भाषाओं की रामकथाओं के बरक्स कामिल बुल्के मानस की तुलना करते हुए निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **"अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की रामकथाओं से रामचरित मानस से तुलना करने पर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि तुलसी का काव्य प्राचीन काल से चली आ रही लोक संग्रही परंपरा का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है"[1]।** फादर कामिल बुल्के तुलसीदास को लोकसंग्रही परंपरा और वाल्मीकि को जनकवि मानते थे, उनके मानस में व्यापक लोक का अनुभव भी मिलता है। नीति, सूक्ति और लोक ने अनुभव से संचित ज्ञानमानस में जगह-जगह मिल जाता है। इसका संयोजन इस प्रकार है कि पढ़ने वाले को मालूम ही नहीं चल पाता कि कहाँ पौराणिक आख्यान के बीच में लोक द्वारा स्थापित कोई महत्त्वपूर्ण बात को रख दिया गया है।

बुल्के वर्तमान में मानस की लोकप्रियता की चर्चा करते हैं और निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **"मानस के पाठकों की संख्या निरंतर घटती जा रही है। विदेश में अनुवाद पढ़ने वालों की संख्या और कम है। वास्तव में भारतीय संस्कृति में तुलसी की रचनाओं के ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही उनका अनुवाद किया जाता है और होता रहेगा। उत्तर भारत का सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास समझने के लिए तुलसी साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है"[2]।** यहाँ पर पाठक, अध्ययन, संस्थान और इतिहास ये महत्त्वपूर्ण घटक हैं जिनको केंद्र में रखकर कामिल बुल्के मूल्यांकन कर रहे हैं। धार्मिक समाज में पाठकों की संख्या ज़्यादा होती थी। लेकिन आज की व्यस्त जीवनशैली में भक्त और भक्ति दोनों के स्वरूप में लगातार परिवर्तन हो रहा है, ऐसे में मानस के पाठकों की संख्या में गिरावट साधारण सी बात है।

जहाँ मानस का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, वह साहित्य से संबंधित पाठ्यक्रमों के अंतर्गत ही हो पा रहा है। लेकिन यदि उत्तर भारत के मस्तिष्क के सांस्कृतिक इतिहास और उसके धार्मिक चरित्र को समझना है, उसके सामाजिक ताने-बाने को समझना है तो मानस का अध्ययन आवश्यक है।

मानस के कई प्रसंगों पर वर्णवादी, शूद्र विरोधी, स्त्री स्वतंत्रता विरोधी यह कुछ प्रमुख आक्षेप विमर्शकार आलोचकों के द्वारा लगाए गए हैं। फादर कामिल बुल्के इन सभी प्रकार के आक्षेपों पर विचार करते हैं और उनके संभावित कारणों और कारकों की तरफ ध्यान देते हुए इन आरोपों से तुलसीदास को बरी करने का प्रयत्न करते हैं। समग्रता में देखने पर वह एक

[1] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-69

[2] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-83

स्थान पर अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए इन कटूक्तियों के लिए मानस के लेखक को नहीं बल्कि 'संस्कृत नीतिपरंपरा' को इसके लिए जिम्मेदार मानते हैं - **"वास्तव में रामचरितमानस की कटूक्तियाँ अपनी न होकर संस्कृत नीतिवाक्यों का अनुवाद है"[1]।** अगर इसे समग्रता में न देखकर केवल स्त्री और दलित विषयक संदर्भों में ही देखने का प्रयास करें तो, स्त्री विषयक अनुदारता और पूर्वग्रहों से युक्त-युक्तियों के लिए बुल्के तुलसीदास के बचाव की मुद्रा में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं **"मातृ जाति के बारे में उनकी अनुदारता व्यक्तिगत ना होकर तत्कालीन विचारधारा (लोकमत) का प्रतिबिंब मात्र है। जो शताब्दियों से चली आ रही थी। यदि तुलसी को दोष देना है तो समस्त भारतीय परंपरा को दोषी ठहराना चाहिए और समस्त विश्वसाहित्य को भी। क्योंकि दुनिया भर के साहित्य में मातृजाति विषयक निन्दात्मक उक्तियाँ पाईं जातीं हैं। भगवतगीता में भी स्त्री को पापयोनि कहा गया है"[2]।** फादर कामिल बुल्के अपने प्रिय कवि के बचाव में उतरते हैं तो किसी की परवाह नहीं करते। एक तरफ पहले वह तुलसीदास को मौलिक चिंतन के लिए सराहते हैं, तो दूसरी ओर उनकी आलोचना का यह पक्ष भी है जिसमें वह विभिन्न प्रकार के आरोप जो तुलसीदास की छवि को कम मानवीय और कम लोकतान्त्रिक बना रहे हैं। वहाँ पर वह परंपरा और समस्त विश्वसाहित्य का उदाहरण देकर तुलसीदास को सही साबित करने का भरकस प्रयास करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि दुनिया भर के साहित्य में स्त्रियों के लिए ऐसा लिखा गया है, इसीलिए तुलसीदास ने भी ऐसा लिख दिया। इस प्रकार का भाव व्यंजित हो रहा है। इसका आशय तो यह हुआ कि तुलसीदास परंपरा का अनुसरण मात्र कर रहे थे, अपने विवेक से काम नहीं ले रहे थे।

लेकिन कविता का एक एक पद तुलसीदास के मस्तिष्क की बिना सहमति के मानस में आना संभव नहीं था, इसीलिए बुल्के द्वारा इस प्रकार इन पक्षों पर तुलसी का बचाव किए जाने से उन्हें तटस्थ आलोचक नहीं अपितु एक पूर्वग्रह युक्त आलोचक सिद्ध कर रहा है।

बुल्के के इसी संदर्भ में एक और तर्क को देखें तो वह लिखते हैं "मेरी धारणा यह है कि इसका वास्तविक कारण मनोवैज्ञानिक है। तुलसी बचपन से ही अनाथ थे। यदि बालक तुलसी को एक साध्वी माता का लाड़-प्यार मिला होता तो उन्होंने मातृजाति विषयक कटूक्तियों को अपनी रचना में स्थान नहीं दिया होता"[3]। कामिल बुल्के अपने प्रिय कवि के वह पक्ष जिससे

---

[1] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-61

[2] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-62

[3] बुल्के,कामिल,एक ईसाई की आस्था:रामकथा और हिन्दी,हिन्दुस्तानी अकेडमी,इलाहाबाद, पृष्ठ-63

उनकी महानता पर प्रश्नचिन्ह लग सकता था, वहाँ पर बचाव की मुद्रा में खड़े हो जाते हैं और कभी समकालीन परिस्थितियाँ, कभी काव्य परंपरा तो कभी मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं। यानी कि आलोचक में जब जो आया उसी प्रतिमान को अपना हथियार बना लिया और कवि की प्रतिष्ठा को इन आक्षेपों से बचाने का भरकस प्रयास किया।

5.7- शार्तोल वोदिविल की आलोचना और रामभक्ति काव्य-

शार्तोल वोदिविल ने **'तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचना विषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन'** विषय पर 'इंस्टिट्यूट द इंडोलोजी फ्रांसीसए' पॉन्डिचेरी में अनुसंधान किया जो पुस्तक रूप में सन् 1959 ईसवी में सामने आया। यह अनुसंधान मूल रूप से फ्रांसीसी में लिखा गया था। इसका हिंदी अनुवाद 'जगबंश किशोर बलवीर' ने किया। जिसको इस अध्याय में मूल ग्रंथ के रूप में उपयोग में लेंगे। शार्तोल वोदिविल ने अनुसंधान के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए शोध में लिखा है कि वह इस अध्ययन से यह मालूम करना चाहती थीं कि रामचरितमानस के रचयिता तुलसीदास के दार्शनिक विचार क्या थे? और तुलसी का मत क्या था? अध्ययन इन दो उद्देश्यों के साथ जारी किया था। लेकिन अंतिम परिणति में यह तुलसीदास के जीवन, कथानक, कथाक्रम, मानस के मूलाधारों के साथ-साथ अन्य विविध पक्षों की शोधात्मक दृष्टि से पड़ताल करता है।

तुलसीदास के जीवन के संबंध में शार्तोल वोदिविल को भी कोई बहुत ज़्यादा प्रामाणिक जानकारी नहीं प्राप्त हो पाई थी। उन्होनें जीवन प्रसंगों के लिए 'भक्तमाल' और 'किंवदंतियों' का सहारा लिया था। **"महान कवि की जीवन कथा का हमें बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। तुलसीदास व उनके समकालीन शेक्सपियर में बस यही एक बात समान है- यद्यपि भारत में इन दोनों कवियों की तुलना की जाती है"[1]।** शार्तोल वोदिविल, शेक्सपियर और तुलसीदास की तुलना करते हैं और तुलसीदास को '**भारतीय शेक्सपियर**' कहते हैं। भक्तमाल धार्मिक इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है लेकिन उसकी स्थापनाएँ अस्पष्ट हैं। इन स्थापनाओं को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। इसके अलावा शार्तोल वोदिविल ने 'रघुवरदास' के 'तुलसीचरित' और 'भवानीदास' के 'मूल गोसाईंचरित' का भी तुलसी के जीवन विषयक तथ्यों को जानने के लिए उपयोग में लिया था।

कुछ प्रश्न जो इस कवि के जीवन विषयक तथ्यों को मालूम करने के लिए शार्तोल वोदिविल ने यहाँ उठाए उनमें प्रमुखतया 'तुलसी रामानंदी थे या नहीं?', 'मानस का रचनाकाल?', 'मानस का रचना स्थान?' आदि थे। कार्पेंटर अपने शोध में अन्य रामानंदियों से तुलना करके तुलसी को अधिक स्वतंत्र व्यक्तित्व मानते है, लेकिन शार्तोल वोदिविल का मुख्य प्रश्न इनके रामानंदी होने और न होने के मध्य का है।

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी, पृष्ठ-5

शार्तोल वोदिविल मानस की लोकप्रियता के लिए भारतीयों के मूलचरित्र 'समन्वयवाद' का इसमें प्रतिबिंबित होना मानती हैं **"भारतीय बुद्धि के लिए समन्वयवाद स्वाभाविक है और यही तुलसीदास की धार्मिक प्रतिभा का विशेष लक्षण है। साहित्यिक कला के साथ-साथ रामचरितमानस की अद्वितीय सफलता और समग्र हिन्दूजाति पर उसके प्रभाव का मूल कारण है"**[1] लोकप्रियता और प्रभाव के लिए समन्वयवाद को शार्तोल वोदिविल प्रमुख कारक मानते हैं, जो कि तुलसीदास के मानस में लक्षित भी होता है।

तुलसीदास के समग्र काव्य में यह 'समन्वयवाद' शार्तोल वोदिविल ने लक्षित किया है। पार्वती मंगल की रचना के पीछे इनका मानना है कि इसकी रचना शैवों को रामधर्म के प्रति आकृष्ट करने के लिए की गई थी। यानि कि शार्तोल वोदिविल पार्वती मंगल को वैष्णव-शैव समन्वय की दृष्टि से देखने की वकालत कर रही हैं। **"तुलसी ने इस सारांश अथवा संक्षिप्त संस्करण की प्रथक रचना क्यों की? इसका कारण स्पष्टतया ज्ञात नहीं। एक समालोचक के अनुसार इसकी रचना करके तुलसी ने शैवों को रामधर्म के प्रति आकृष्ट किया"**[2]**।** शार्तोल वोदिविल उस समालोचक से यहाँ सहमत होते हुए, यही मत स्थापित करती हैं।

तुलसीदास 'शिव का रामाश्रयी' और 'राम का शिव संस्करण' अपनी इस कथा में प्रस्तुत करते हैं। कितने ही प्रसंग हैं जहाँ राम आदिशक्ति, शिव, पार्वती आदि की पूजा करते हुए दिखाए गए हैं और शिव राम की हर सफलता पर पुष्पवर्षा करने को तत्पर मिले। यह तुलसी का कथा संयोजन ही था कि वह इस प्रकार के समन्वय को मानस में बखूबी कर पाए। **"शिवचरित का यह रमाश्रयी संस्करण स्पष्टतया तुलसीदास की मौलिक देन है। यह उनकी शक्तिशाली प्रतिभा का परिचायक है और सभी भागवतों को माननीय और प्रशंसनीय है। क्योंकि शैवमत और असाम्प्रदायिक हिन्दूधर्म की तुलना में इसमें भागवतों की धारणाएँ पुष्ट होतीं हैं। मानस के इस भाग में तुलसी पर पौराणिक मूलाधार का प्रभाव बहुत ही घनिष्ठ है, विशेषकर रामचारितमानस में शिवपुराण का अधिक अनुकरण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुकरण कवि की सुनिर्धारित कल्पना के अनुकूल है। उनकी प्रतिभा की न्यूनता के कारण नहीं- क्योंकि वे शैव कथानकों को रामचारितमानस में समाविष्ट करना चाहते थे"**[3]**।** यहाँ पर शार्तोल

---

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉण्डिचेरी,पृष्ठ-22

[2] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉण्डिचेरी,पृष्ठ-53-54

[3] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉण्डिचेरी,पृष्ठ-57

वोदिविल हिन्दू धर्म के विभिन्न संप्रदायों का मानस में आना उनका राम के प्रति आदर और भक्ति का भाव रखना इन सभी के लिए कवि की एक सुचिन्तित रणनीति का हिस्सा मानती हैं।

इस समन्वय चेष्टा से यह हुआ कि रामचरितमानस किसी एक विशेष संप्रदाय में लोकप्रिय न होकर उत्तर भारत की समस्त हिन्दू जनता चाहे वह किसी भी संप्रदाय में आस्था रखती हो में लोकप्रिय हुआ। तुलसीदास न तो मानस में कोई सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे थे और न ही किसी मत की स्थापना करते हुए उसके धर्मगुरु बनने का प्रयास कर रहे थे। इसीलिए ईश्वर के विविध रूप और नाम मानस में कई स्थानों पर मिल जाते हैं। **"स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपने भावों को सिद्धांतबद्ध करने की चिंता नहीं की, राम परमेश्वर हैं और इसीलिए अवसरानुसार उन्हें भागवतों द्वारा स्वीकृत 'हरि' व 'भगवान' नामों से बुलाया जाता है। परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि तुलसीदास ने उन्हें सर्वदा विष्णु से अभिन्न माना हो, माना भी है तो कभी-कभी या गौण रूप से"[1]।** ईश्वर को किसी भी नाम से बुलाया गया हो लेकिन अभिप्राय उसका मानस में एक ही है विष्णु (राम) जो कि तुलसी के आराध्य थे।

इस प्रकार शार्तोल वोदिविल लोकप्रियता के विभिन्न पक्षों का बारीक़ी से अध्ययन करतीं हैं, जिनमें अवतार, समन्वय, भागवत, कृष्ण, ब्रह्म, राम, विष्णु, सती, शिव, सीता आदि का समन्वय कर तुलसीकालीन सम्प्रदायगत मतैक्य को कम करने का प्रयास मानस के माध्यम से किया है। उदाहरण के तौर पर देखें तो 'लिंग थापि विधिवत कर पूजा, शिव समान मोहि कोई न दूजा' या 'शिव द्रोही मम भगत कहावा सो नर मोहि सपनहुँ नहिं भावा' अथवा पार्वती सीता को आशीर्वाद देते हुए कहतीं हैं 'सुन सिय सत्य असीस हमारी, पूजहि मनकामना तुम्हारी'आदि पंक्तियों को देखा जा सकता है।

लोकप्रियता का एक अन्य प्रमुख बिन्दु शार्तोल वोदिविल सामंजस्य को इंगित करती है। कथा में पात्रों उनके भावों और संवादों का सामंजस्य कथा की लोकप्रियता में सहायक सिद्ध हुआ है। कथा प्रसंगों में करुणापूर्ण दृश्य के बाद जहाँ वाल्मीकि रामायण में शत्रुधन, कुब्जा और मंथरा को अपशब्द कहते हैं वहीं मानस में तुलसी ने इस प्रसंग का स्थानांतरण कर दिया है। इस स्थानांतरण के पीछे यही सामंजस्य की चिंता थी क्योंकि पिता की मृत्यु से दुखी पुत्र अगर किसी पर गुस्सा कर रहा है तो यह सामंजस्य तुलसी को अच्छा नहीं लगा और इसका स्थानांतरण कथा में अन्यत्र कर दिया गया। **"बल्कि कैकेयी के प्रति भरत के**

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉण्डिचेरी,

झुंझलाहटपूर्ण वार्त्तालाप के पश्चात यह प्रसंग स्वाभाविक प्रतीत होता है"[1]। कथा के इस सामंजस्य से 'रसदोष' नहीं हो पाया है, जो कि वाल्मीकि रामायण में हैं। इसी कारण तुलसी की मानस को ज़्यादा लोकप्रियता प्राप्त हुई, अगर वहाँ पाठक एक बार जुड़ता है तो कथा को पढ़ते हुए उसका रसभंग नहीं होता है।

शार्तोल वोदिविल ने कथानक की दृष्टि से भी मानस पर विचार किया है,कथानक में किन कथाओं को समाहित किया? किनमें परिवर्तन किया? और इन परिवर्तनों के पीछे क्या कारण हो सकते हैं? इन सभी पक्षों पर शार्तोल वोदिविल अपने इस अनुसंधान में विचार करतीं हैं। मानस को मानसरोवर की संज्ञा देते हुए शार्तोल वोदिविल **"इस मानसरोवर में भिन्न प्रकार के कथानक हैं जो सभी एक समान सच्चे हैं और सभी शंभू के होंठों से निकली सनातन रामायण का भाग है, वास्तव में राम अनंत हैं और राम की कथा अपार है। भागवत पुराण में जैसे कृष्ण की लीला है वैसे ही यहाँ,राम का मानवीय चरित्र उनकी माया की लीला है"[2]** यहाँ पर भागवत की तरह राम की लीला को मानस में कहा गया है,और यह उनकी माया की लीला है।

मानस के कथानक में कई स्थानों पर विरोधी बातों को स्थान मिल गया है इससे मानस के आमुख के दूसरे भाग का अर्थ लगाना शार्तोल वोदिविल को कठिन प्रतीत हुआ ,सम्पूर्ण ग्रंथ को उत्तरकाण्ड के साथ पढ़कर ही इसका अर्थ स्पष्ट हो पाया है,ऐसा इसीलिए हुआ क्योंकि ग्रंथ में मौजूद विभिन्न भागों के विरोधों का परिहार करने का कवि का चरम प्रयास उत्तरकांड में दिखाई देता है,और यह प्रयास इसीलिए किया गया जिससे कि यह ग्रंथ सामंजस्यपूर्ण दिखाई दे। विचार और स्थापनाओं के स्तर पर इसमें विखराव और विरोधाभास ना दिखाई दे,लेकिन मानस का कथानक विरोधाभासों से भरा हुआ है।

रामचरितमानस के कथानक में शार्तोल वोदिविल शिव-पार्वती कथा की दो विभिन्न धाराओं की बात स्थापित करते हैं एक दिव्य और एक मानवीय, दिव्य शिव-पार्वती के प्रिय गुरु राम हैं वास्तव में कथावस्तु दिवयधारा के अंतर्गत प्रवाहित है। इसी आधार पर सीता को भी दिव्यता का स्वरूप बताया गया और सीता हरण के प्रसंग में सीता अग्नि में समाहित हो गईं थी। और जो सीता हरण की गईं थीं,वह दिव्य सीता थीं जिन्हें अग्नि परीक्षा के बाद दोबारा प्राप्त कर लिया गया था।

[1]अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉण्डिचेरी, पृष्ठ-171

[2] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉण्डिचेरी,पृष्ठ-29

कथा की लोकप्रियता के संबंध में शार्तोल वोदिविल जिस सामंजस्य और कथा की एकरूपता की बात पर ज़्यादा जोर देते है,वह कथानक पर विचार करते-करते अपनी स्थापनाओं के उलट तुलसीदास के मानस के बारे में स्थापनाएं देने लगते हैं **"पारंपरिक घटनाओं में तुलसीदास ने जो क्रम-व्यतिक्रम किया है उससे कथा थोड़ी-बहुत विकृत भी हो गई है। और कई अनावश्यक बातों को भी स्थान मिल गया है । तारकासुर के अत्याचार और उसके बाद की घटनाएं वास्तव में कथा के सूत्र में नहीं लगतीं और कुछ विदेशी सी प्रतीत होती हैं ;और इसी से कथा के संक्रमण स्थलों में अनौचित्य हो गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ की सुग्राह्यता को हानि पहुँचाए बिना इन घटनाओं के विवरण को हटाया जा सकता था। यद्यपि योजनाओं का सम्मिश्रण कथा की स्पष्टता के लिए बाधक है तथापि इस प्रकार कवि के मनोनीत उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है"**[1] शार्तोल वोदिविल मानस के कई कथा प्रसंगों को अनावश्यक मानते इन्ही अनावश्यक प्रसंगों के कारण कथा में अस्वाभाविकता, अनौचित्य और विकृति आ जाने का संदेह शार्तोल वोदिविल ने प्रकट किया है लेकिन स्पष्टता के लिए इन कथा प्रसंगों को जरूरी भी समझा है।

इन बदलावों में शिव विवाह के प्रसंग को देखे तो शिव पुराण में यह प्रसंग वर्णनातीत है लेकिन तुलसीदास ने मानस में इस प्रसंग को रखते हुए इसमें आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया है। उन्होंने इस प्रसंग को अप्रिय, विकराल और डरावना बना दिया है। शार्तोल वोदिविल ने कई अन्य प्रसंगों का उदाहरण दिया है जिनमें प्रमुख रूप से शिव विवाह के प्रसंग में 'कुमारसंभव' में विलसलीला का वर्णन है लेकिन तुलसी की नैतिकता ने इस प्रसंग को मानस में स्थान नहीं देने दिया है। मानस में शिव-पार्वती और राम-सीता पर अवतार और देवत्व का आरोपण तुलसीदास ने ज़्यादा किया है। वह हर एक प्रसंग के समापन के बाद यह याद दिलाना नहीं भूलते हैं, कि भगवान लीला कर रहे हैं इन्हें साधारण मनुष्य समझने की भूल मत कर लेना।

वैष्णव धर्म की सामान्य मान्यताओं से इतर तुलसीदास स्वतंत्र रूप से कई स्थानों पर सीता के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्थापित करने का प्रयास करते हैं और स्पष्ट रूप से नहीं लेकिन कहीं-कहीं सीता को श्री या लक्ष्मी नहीं मानते हैं।

शार्तोल वोदिविल इसी बदलाव के क्रम में अन्य पात्रों के कथानक के साथ किए गए बदलावों की चर्चा अपने अनुसंधान मे करती हैं जिसमें रावण जैसे खल पात्र का वर्णन जब

[1]अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ-49

तुलसीदास अपने मानस में करते हैं तो उसके स्थान को ऊंचा उठा देते हैं। शार्तोल वोदिविल ने इसका कारण **"मानस में रावण का अपेक्षाकृत ऊंचा स्थान अवाल्मिकीय परंपरा के प्रभाव के कारण नहीं अपितु भागवतधर्म के प्रभाव के कारण प्रतीत होता है"[1]।** भागवतधर्म में यह मान्यता है कि जो भी व्यक्ति हरि या हरि के अवतार के द्वारा नष्ट होकर परमगति पाता है, उसकी इस प्रकार की मृत्यु किसी पूर्व जन्म की भक्ति का फल है। यह भावना आध्यात्म रामायण में भी सुव्यक्त है और और यह रामायण भी सभी मध्ययुगीन रमायणों की तरह भागवतपुराण से प्रभावित है। इस प्रकार रावण को जो ऊँचा स्थान रामचरितमानस में दिया गया है शार्तोल वोदिविल के अनुसार वह 'भागवत' और 'आध्यात्म रामायण' का प्रभाव है।

इन सभी कथानकों में परिवर्तन या कुछ जोड़ देने के कारण विकृति और अनौचित्य का प्रश्न शार्तोल वोदिविल ने खड़ा किया है लेकिन मानस के आयोध्याकांड को ज़्यादा सुगठित कांड माना है। इसके पीछे शार्तोल वोदिविल का तर्क है कि इसकी रचना एक बार में हुई है " **बालकाण्ड की अपेक्षा आयोध्याकाण्ड अधिक सुगठित है। इसमें रामकथा के बाह्यस्थ उपाख्यान अथवा विस्तृत अप्रासंगिक कथानक न होने से प्रतीत होता है कि इसकी रचना अविच्छिन्न रूप से एक बार में ही हुई"[2]।**

मानस के कथानक की मौलिकता इसमें निहित है कि तुलसीदास ने कई प्रसंगों को आदर्श के अनुकूल और नैतिक दृष्टि से समृद्ध बनाकर प्रस्तुत किया है। कई नवीन प्रसंगों की उद्धावना और कथा में पूर्वापर संबंध बना रहे इसके लिए वह उसकी एक सुनियोजित पृष्ठभूमि का भी निर्माण करते हैं। ऐसे ही एक प्रसंग की ओर शार्तोल वोदिविल ने ध्यान आकृष्ट कराया है " **'रामहि बंधु सोचु दिन राती' तुलसी की इस नवीनता का ध्येय भरत के प्रति राम के स्नेह को रेखांकित करना और एक प्रकार से उत्तरार्ध के कारण दृश्यों की तैयारी करना है"[3]।** इसी तरह राम के देवत्व को और ऊपर उठाने के लिए 'केवट का प्रसंग' मानस में जोड़ा गया है, यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण में नहीं है। केवट द्वारा राम की चरण रज की दैवीय शक्ति की प्रशंसा भी 'आध्यात्म रामायण' का प्रसंग है। वह भी वाल्मीकि रामायण में नहीं है। तुलसीदास ने दोनों प्रसंगों के नवीनता के साथ प्रस्तुत किया और केवट द्वारा राम की दैवीय

---

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी, पृष्ठ-88

[2] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी पृष्ठ-142

[3]अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी पृष्ठ-145

चरणधूलि की प्रशंसा करवाकर इस प्रसंग को सहज और स्वीकार्य प्रसंग बना दिया। जो कथा में स्वाभाविक भी लगता है।

आयोध्याकाण्ड के कथानक में वर्णात्मक अंश की प्रमुखता है, इसका विकास सामंजस्य पूर्ण रूप से हुआ है। लेकिन उत्तरकांड रामकथा से सम्पूर्ण बाह्य और उपदेशात्मक है शार्तोल वोदिविल ने मानस के कथानक में तुलसीदास ने क्या-क्या बदलाव किए? और इस बदलाव से कथाक्रम पर क्या असर पड़ा? इन सब पक्षों की पड़ताल की है।

शार्तोल वोदिविल ने मानस के कथाक्रम पर विस्तार से विचार किया है। बालकाण्ड के संबंध में उनका मत है- **"यह विस्तृत खंड बहुत ही रोचक है और वाल्मीकि रामायण व आध्यात्म रामायण का इसमें कोई प्रभाव नहीं है"[1]।** यानी कि बालकाण्ड तुलसीदास की मौलिकता की उपज है। बालकाण्ड के रामावतार की कथा में शिव की वाणी को भागवतों की तरह शार्तोल वोदिविल ने बताया है। भागवत धर्म में जिस प्रकार विष्णु के समस्त अवतारों में समान विश्वास किया जाता है उसी प्रकार रामजन्म पर तुलसीदास शिवजी के द्वारा यह कहलवाते हैं कि रामजन्म का एक प्रमुख कारण भक्तों का हित भी है और तुलसीदास की पूरी कविता के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि राम अवतार का वास्तविक कारण यही है। इस बात में मानस भागवतपुराण से मिलता-जुलता है।

भागवतपुराण में वर्णित जयविजय आख्यान को तुलसीदास भी मानस में स्थान देते हैं। हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप के द्वारा रावण और कुंभकरण का अवतार मानस में माना गया है, जो भागवत पुराण में नहीं मिलता है। मिथिला जाने पर नगर भ्रमण का प्रसंग भी इसी पुराण से लिया गया है। भागवत में कृष्ण बलराम मथुरा जाने पर भ्रमण करने जाते हैं, उसी कथा का अनुसरण यहाँ पर भी किया गया है। शार्तोल वोदिविल पुष्पवाटिका में 'पूर्वानुराग मिलन' तुलसी की मौलिक देन मानती हैं और एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु प्रस्तुत करते हैं जैसे रामाश्रयी नाटकों जैसे भवभूति का 'महावीर चरित', 'प्रसन्नरघाव' में यह प्रसंग है बाकी जगह यह प्रसंग अनुपस्थित है। सिल्वा लेवी मानतीं हैं **" यह प्रसन्नराघव के द्वितीय अंक से लिया गया है"[2]।** इस प्रकार पद्य परंपरा में एक महाकाव्य में इस प्रसंग को लाने के कारण शार्तोल वोदिविल इसे तुलसीदास की मौलिक देन के रूप में स्थापित करती हैं।

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी पृष्ठ-67

[2] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी पृष्ठ 116

पद्मपपुराण से ली गई 'जलंधर की कथा' का विस्तार से वर्णन है। कथाक्रम की विभिन्न कथाएँ जैसे 'नारद मोह' महाभारत और अद्भुत रामायण से मिलती-जुलती है। 'प्रतापभानु की कथा' वहीं लौकिक साहित्य जैसे बृहतकथामंजरी, कथासारित्सागर, अगस्त्य रामायण, मंजुल रामायण आदि से ली गई है। इस प्रकार शार्तोल वोदिविल उन सभी कथानकों तक पहुँचने का प्रयास करतीं हैं जो मानस में किसी भी रूप में आये हैं। बेताल पच्चीसी, संस्कृत नीतिशास्त्र, लौकिक सुभाषित, सदाचार के नियम, आचार-व्यवहार आदि मानस में बहुतायत हैं, जो तुलसीदास अपने किसी पात्र द्वारा कथा में प्रस्तुत कराते हैं।

शार्तोल वोदिविल ने रामचरितमानस में आईं स्तुतियों को भी भागवतपुराण के ज़्यादा क़रीब माना है अहिल्या स्तुति और पहली दो स्तुतियों के संदर्भ में उनका मत है- **"इस अहिल्या स्तुति और पहली दो-ब्रह्म तथा कौशल्या स्तुतियों में समानता है, तीनों ही एक प्रकार के छंद में रचित हैं। तीनों ही आध्यात्म रामायण से प्रेरित हुई हैं। यद्यपि इनमें दार्शनिक विचारों का अभाव है तथा आकार व सामान्य शैली की दृष्टि से ये तीनों स्तुतियाँ भागवतपुराण की स्तुतियों के अधिक क़रीब हैं"[1]।** मानस के हर प्रसंग की रचनाधारा की ओर ध्यान दिलाते हुए शार्तोल वोदिविल वास्तव में उस सूत्र को प्रस्तुत करने का प्रयास करतीं हैं, जो इस रचना की रचाव की प्रक्रिया में सहायक कृतियों और उस परंपरा को स्पष्ट कर देती है।

शार्तोल वोदिविल खल पात्रों के द्वारा हुए कृत्यों के लिए तुलसीदास द्वारा उस युक्ति को अपनाया जाना मानते हैं, जिसमें यह प्रसंग है कि किसी के सदचरित्र, तपस्या के प्रभाव से जब देवता चिंतित होते थे तो 'सरस्वती को उसकी जिह्वा पर निवास' करने के लिए बोल देते थे और छल से उससे वह कहलवा लिया जाता था। जो उसके मन्तव्य के बिल्कुल उलट होता था। मंथरा, कैकेयी आदि के संबंध में इसी कथाप्रसंग का सहारा लेने की बात शार्तोल वोदिविल ने कही है। **"तुलसीदास ने आध्यात्म रामायण की उपयुक्त नवीन युक्ति को अपना लिया और मंथरा के दोष का कारण देवताओं की इसी कुढ़न को बताया, फिर भी मानस में देवताओं की प्रार्थना को एकदम स्वीकार नहीं किया देवताओं ने उससे आग्रह किया और सरस्वती को अपने कल्याण के लिए प्रेरित करते देवताओं ने राम को अनंत पारब्रह्म का रूप बताया"[2]।** इस प्रकार देखा जाए तो किसी भी खल पात्र को सीधे उसके किसी भी कृत्य के लिए तुलसीदास ज़िम्मेदार नहीं मानते है, बल्कि वह पूर्वजन्म

---

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी पृष्ठ-113

[2] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ 147

या किसी अन्य कथा के अलावा सरस्वती द्वारा मति से अपने अनुरूप काम न ले पाने कि स्थिति उत्पन्न कराकर देवताओं का कार्य सिद्ध कराने की युक्ति भी उपयोग में लाते हैं।

मूलाधार-

शार्तोल वोदिविल अनुसंधान में मुख्य रूप से इस बात की पड़ताल करने की कोशिश करतीं हैं कि हमारे सामने मौजूद रामचरितमानस की कथा का मूल आधार क्या है? या यह कथा अपने विकास के क्रम में कहाँ-कहाँ से प्रभावित है? सर्वप्रथम इस दिशा में अध्ययन के लिए टेसीटोरी (इटली) का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। शार्तोल वोदिविल के अनुसार इन्होनें यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अविशिष्ट रामचरितमानस में तुलसीदास ने वाल्मीकि रामायण का अनुकरण किया है। अतएव वही रामचरितमानस का मुख्य मूल आधार है। टेसीटोरी एकमात्र आधार रामायण को मानतीं हैं लेकिन ग्रियर्सन अवल्मीकीय आधारों को भी मानस की रचना के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करने वाला एक स्रोत मानते हैं। ग्रियर्सन, टेसीटोरी की उस आलोचना दृष्टि की समालोचना करते हैं, जिसके द्वारा मानस का मूलआधार 'वाल्मीकि रामायण' को माना गया था। उन्होंने अवल्मीकीय आधारों को अनदेखा करने का आरोप लगाते हुए लिखा **"रामचरितमानस का अध्ययन करने से वाल्मीकि की रामायण और मानस की विषमताओं को टेसीटोरी के प्रयास की अपेक्षा, अधिक सरलता से समझा जा सकता है"[1]।** ग्रियर्सन का आशय स्पष्ट था कि मानस की रचना में अवल्मीकीय आधारों को भी महत्त्व देना चाहिए था जो कि टेसीटोरी द्वारा नहीं दिया गया। इसीलिए उनकी इस स्थापना को मानने की बजाय, मानस और रामायण को एकसाथ रखकर पढ़ने से ही उनकी समता और विषमता को ठीक से समझा जा सकता है।

ग्रियर्सन के पश्चात भारतीय समीक्षकों ने मानस के मूल आधार की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। अधिकतर आलोचकों और समीक्षकों ने तुलसीदास के विस्तृत अध्ययन और ज्ञान पर आश्चर्यचकित होकर अपनी स्थापनाएं दीं और संस्कृत के प्रभाव को दर्शाते रहे। आधुनिक भारतीय समीक्षकों ने इसपर आध्यात्म रामायण का प्रभाव स्वीकार किया,लेकिन अन्य किसी और स्रोत की ओर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया।

टेसीटोरी की स्थापनाओं की समीक्षा करते हुए शार्तोल वोदिविल मानस के मूलाधारों पर अपनी राय व्यक्त की है, जितने भी स्थलों में में वाल्मीकि की छाया पाई है। उनमें से आधे स्थलों से अधिक आध्यात्म रामायण व वाल्मीकि रामायण दोनों में मिल जाते हैं। अब

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ़्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ-14

तुलसीदास ने कौन से ग्रंथ का आश्रय लिया यह निश्चित नहीं किया जा सकता है? टेसीटोरी के अध्ययन की सीमा यह है कि वह किसी प्रसंग के संदर्भ में जब वाल्मीकि रामायण में मूलआधार खोजने का प्रयत्न कती हैं तो रामायण के किसी भी संस्करण मे यदि वह मिल जाने पर वह मान लेती हैं कि तुलसीदास ने इसी का आश्रय लिया है। वही प्रसंग लेकिन जब आध्यात्म रामायण में देखने को मिलता है तो शार्तोल वोदिविल का मानना है कि तुलसीदास ने प्रत्यक्ष वहीं से उसका आदान किया हो। वह अनुसंधान के बाद निष्कर्ष देती हैं **"प्रतीत होता है कवि ने अपनी कथा का ढाँचा आध्यात्म रामायण से ग्रहण किया"[1]।** इस कथाढाँचे में शिव-पार्वती संवाद आध्यात्म रामायण से लिया गया है।

शार्तोल वोदिविल ऐसा नहीं मानती कि रामायण या आध्यात्म रामायण से ही पूरी कथा ली गई है बल्कि वह इस संदर्भ में प्रत्येक प्रसंग की ओर दृष्टि डालती हैं और उसके मूल में पहुँचने का प्रयास करती हैं। जबकि इसके पहले सिर्फ 'रामायण' या 'अध्यात्म रामायण' की ही चर्चा इस संदर्भ में ज़्यादा की जाती थी।

कथा का ढांचा शिव-पार्वती संवाद (आध्यात्म रामायण) से लिया गया है। गीति प्रधानता, उपदेशात्मकता, स्तुतियाँ, भाव प्रवाहता(भागवत), सबलदेवतावाद(भागवत) आदि से लिया गया है। तुलसीदास पर कोई एक प्रभाव नहीं है, बल्कि उनपर कभी एक तो कभी दूसरा प्रभाव पड़ा है। इसी प्रभावभेद को शार्तोल वोदिविल ने लक्षित किया है - **"इस प्रकार के प्रभावभेद के फलस्वरूप कथावस्तु के शैली और गति में और कभी-कभी शब्दावली तथा अभिव्यक्ति के साधनभूत वाक्यों में भी; कुछ परिवर्तन व्यक्त हो गए हैं। अधिकतर ये परिवर्तन मानस के आकार में विशेषकर कथा के प्रस्तुतकर्त्ता के द्योतक स्थलों में, जहाँ कहीं तो कवि ही प्रस्तुतकर्त्ता है और कहीं पर कोई पुरातन पात्र -और पद्य व्यवस्था में सुव्यक्त होते हैं। इस प्रकार परिवर्तनों से हमें कवि की रचनाप्रणाली का ज्ञान होता है"[2]।** शार्तोल वोदिविल उन विशेषताओं की ओर विशेष रूप से ध्यान देती हैं जो मानस की रचना प्रक्रिया के समय रहे जैसे कहाँ पात्र या कवि स्वयं बोल रहा है? मानस को विभिन्न समयों में लिखने के कारण कवि कि मनःस्थिति में भेद रहा होगा? इन सबके बावज़ूद कवि ने कथा के संयोजन में एकरूपता लाने का भरकस प्रयास किया है। उसे इतनी प्रवीणता के साथ सूत्रबद्ध किया है कि मानस के मूलाधारों को खोजने में और ज़्यादा समस्या सामने आती है।

---

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ-16

[2] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी, पृष्ठ-21

अयोध्या और बनारस में लिखी कथा में भाव के स्तर पर अंतर है और तुलसीदास के इसी पक्ष को देखकर शार्तोल वोदिविल ने अनुमान किया है कि 'कालांतर में कवि के भावों का विकास हुआ'। अन्य मूलाधारों के संबंध में मानस की कथाओं में उनका उपयोग कर लिया गया है लेकिन संदर्भों सहित नाम नहीं दिया गया है। ऐसा शार्तोल वोदिविल ने अपने अनुसंधान में पाया है इनमें मनु, भृतहरि, महानाटक आदि का कोई संदर्भ मानस में देखने को नहीं मिलता है, जबकि कथाप्रसंगों का उपयोग तुलसीदास ने किया है। जो सीधे यहीं से आयातित प्रतीत होते हैं। मानस के आमुख के प्रमुख भाग में तुलसीदास ने कालिदास के रघुवंश (प्रथम सर्ग) के समान, एक प्रकार से अपने पक्ष की वकालत की है। मानस में आये विनम्रता के प्रसंग कालिदास के रघुवंश का प्रभाव है।

रामचारितमानस में शिव-पार्वती संवाद के लिए 'आध्यात्म रामायण' और 'पदमपुराण' के अलावा शार्तोल वोदिविल ने अनुमान लगाया है कि यह भाव तुलसीदास ने तंत्रों से लिया है। इसे लिखते हुए यह शंका भी व्यक्त की कि इस प्रणाली को कई और ग्रंथ पहले ही अपना चुके थे। **"तुलसीदास तांत्रिक साहित्य से परिचित थे और इस साहित्य का प्रभाव मानते थे। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि रामचरितमानस की रचना के लिए उन्होंने इस साहित्य का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग किया अथवा तांत्रिक धर्म पर नितांत आश्रित वाममार्गी कहलाने वाले शाक्त संप्रदायों के प्रति तुलसीदास ने अरुचि की भावना अभिव्यकत की है"[1]।** शार्तोल वोदिविल इस बात के प्रति सजग भी हैं कि एक ओर वह वाममार्गी साधकों की अपने साहित्य में निंदा करते हैं, एक हद तक उन उपासना पद्धतियों से अरुचि व्यक्त कर जनता में उनके प्रति अविश्वास पैदा करते हैं, तो वह इससे किसी प्रणाली को कैसे ग्रहण कर सकते हैं?

शार्तोल वोदिविल तुलसी के धार्मिक सिद्धांतों में जो अस्थिरता इंगित करती हैं उनके मूल में 'समन्वयवाद' को प्रमुख कारक मानती हैं। यह समन्वयवाद एक ओर भागवतपुराण से प्रभावित होने के कारण कुछ बढ़ा हुआ है और कुछ बातों में कबीर और कबीर पंथियों के भी निकट है। देखा जाए तो कबीर का प्रभाव तुलसी पर काफी है। वह मानस में कबीर की कई स्थापनाओं को ख़ारिज करने का अप्रत्ययक्ष रूप से प्रयास करते हैं। लेकिन शार्तोल वोदिविल का मानना है कि गुरु की दिव्यता, नाम-जाप, कबीरपंथ के ही प्रमुख लक्षण हैं, जो तुलसीदास ने इसी पंथ से ग्रहण किए हैं। लेकिन वह स्पष्ट करते हैं कि कबीर ने अवतार के सिद्धांत को नहीं माना और भगवान को राम या हरि कहकर पुकारा। वह राम या हरि जिनका वर्णन कबीर

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी, पृष्ठ-17

करते हैं, तुलसीदास ने नहीं अपनाया बल्कि उनके अपने राम अलग है, जो विष्णु के अवतारवाद की एक कड़ी के रूप में सामने आते हैं।

अन्य मूलाधार के संबंध में शार्तोल वोदिविल शिवपुराण से लिए गए प्रसंगों और मानस में उनके परिवर्तित रूपों का उदाहरण सहित वर्णन करती हैं। वह स्पष्ट करती हैं कि **"तुलसीदास ने शिवपुराण का इतना अधिक अनुकरण किया है कि दोनों ग्रंथों में कुछ वाक्य तक एक समान हैं"[1]।** वह इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं-

(1)

शिवाज्ञया सती तत्र गत्वाचिंत्यद ईश्वरी।

कुर्यात पारीक्षाम च कथं रामस्य वनचारिणी।। (शिवपुराण 2.24.25)

चली सती शिव आयुस पाई। करहि विचार करौ का भाई। (मानस में)

(2)

अथतां दुखिताम दृष्टा पप्रच्छ कुशलम हरः ।

प्रोवाच वचनं प्रीत्या तत्परिक्षा कृता कथं ।। (शिवपुराण 2.52.2)

गई समीप महेश तब हँसि पूंछि कुशलात। लीन्ह परीक्षा कबन विधि करहु सत्य सब बात। (मानस)

शार्तोल वोदिविल ने इस प्रकार के आठ उदाहरणप्रस्तुत किए है, जिनमें पार्वती द्वारा की गयी तपस्या प्रमुख है। उन्होंने स्पष्ट किया कि, मानस पर 'शिवपुराण' का व्यापक प्रभाव है। शायद ऐसा लगता है कि इसी प्रभाव के चलते ही तुलसीदास वैष्णव-शैव समन्वय मानस में करते हैं।

मानस में दक्ष के यज्ञ की कथा बिना किसी संक्रमणावस्था के सती की कथा से जुड़ी हुई है जो पार्वती के रूप में उनके पुनर्जन्म और शिव से उनके विवाह की कथा की प्रस्तावना भी है। बिना दक्ष के यज्ञ के पार्वती शिव का विवाह संभव नहीं था। तुलसी मानस में इस कथा का संयोजन इसीलिए करते हैं।

मानस में इसको संक्षिप्त कर दिया गया है और इस कथा की प्रमुख रूपरेखा को ही प्रस्तुत किया गया है। शार्तोल वोदिविल इस कथा के आधार ग्रंथ को निश्चित नहीं कर पाईं और

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ-33

उन्होंने लिखा **"यह कहना कठिन है कि कवि ने इस कथा के लिए किस ग्रंथ का आधार लिया। कुछ विशेषताएँ भागवत पुराण और शिव उपपुराण से ली गईं प्रतीत होतीं हैं"[1]।** तुलसीदास ने यज्ञ में आमंत्रण की कथा का परंपरागत अनुसरण नहीं किया, यहाँ पर शिव को छोड़कर शिव के साथ-साथ ब्रह्म और विष्णु भी दक्ष के यज्ञ से अनुपस्थित थे। लेकिन परंपरागत पौराणिक कथा में केवल शिव ही अनुपस्थित थे।

तुलसीदास ने 'कालिदास के मांसल वर्णनों' से परहेज किया है, शिव-पार्वती विवाह और कार्तिकेय के जन्म की कथा में कालिदास के श्रृंगार और रति का वर्णन किया है। लेकिन तुलसीदास ने मानस उन **'काव्यात्मक चित्रणों'** का अभाव रखा। शार्तोल वोदिविल के अनुसार तुलसीदास ने इन प्रसंगों में कालिदास से कोई उपमा ली हो तो ली हो ,लेकिन कालिदास उनकी प्रेरणा नहीं थे उनकी मूल प्रेरणा का स्रोत सर्वथा भिन्न है।

रामचरितमानस में तुलसीदास आदर्श की स्थापना कर रहे थे, और वह आदर्श मध्यकालीन समाज का आदर्श था। जिसमें वर्णन ग्रहस्थों के लिए किया जा रहा हो तब किसी भी प्रसंग का चित्रण करते हुए विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। 'मांसल वर्णनों' को इसी एक नैतिक आधार के कारण मानस में स्थान नहीं दिया गया **"मानस में जैसे सीता के सौन्दर्य का वर्णन नहीं हुआ उसी प्रकार पार्वती के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णान नहीं किया गया। न ही पार्वती को शिव के पास उनकी सेवा के लिए अथवा उनको अपनी मदभरी दृष्टि से आकर्षित करने के लिए पिता ने भेजा है"[2]।** इन वर्णनों को प्रस्तुत करने में तुलसी ने अपने विवेक और नैतिकता के आधार पर परिवर्तन किया है, जो भक्त और तत्कालीन आदर्श के लिए आवश्यक थीं।

विष्णु के अवतार वर्णन में तुलसीदास ने वाल्मीकि का अनुकरण किया है लेकिन रामजन्म की कथा पर तनिक भी वाल्मीकि का प्रभाव लक्षित नहीं होता है, इस पर वैष्णव संप्रदायों का प्रभाव है (जहाँ आराध्यदेव की बालक रूप में उपासना का विधान है) इसमें भागवतपुराण और अध्यात्म रामायण प्रमुख हैं। शार्तोल वोदिविल ने इस संदर्भ में लिखा है - **"राम के जन्म तथा शैशव की कथा बहुत मौलिक नहीं है कुल मिलाकर तुलसीदास ने आध्यात्म रामायण का आश्रय लिया है और आध्यात्म रामायण ने स्वयं भागवतपुराण से बहुत**

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ-38

[2] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ-47

कुछ लिया है”[1]। इस प्रकार शार्तोल वोदिविल रामजन्म और बालकांड की बाललीला के लिए भागवतपुराण को मूल ग्रंथ मानती हैं। जिसका अनुसरण ‘आध्यात्म रामायण’ में और ‘आध्यात्म रामायण’ से तुलसीदास ने किया है।

[1] अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल,तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ़्रांसीसए,पॉन्डिचेरी,पृष्ठ-98

निष्कर्ष-

सन् 1828 ईसवी में 'रिलीजस सेक्टस ऑफ हिंदूस' के अध्ययन से शुरू हुआ तुलसीदास का अध्ययन आज लगभग 200 वर्ष पूर्ण कर चुका है। पश्चिम के लगभग 40 अध्येताओं का अध्ययन आज हमारे सामने है। जो विभिन्न भाषाओं तथा विभिन्न देशों में किया गया। इसमें समीक्षक, अनुसंधानकर्ता, अनुवादक आदि भूमिकाओं में तुलसीकाव्य के विद्वानों ने अपनी राय व्यक्त की है। विल्सन, तासी, एडविन ग्रीब्ज, ग्राउस, जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, फादर कामिल बुल्के, आई एन कारपेंटर, विंसेंट स्मिथ, एफ ई केई, शर्तोल वोदिविल, ई जे बेविन्यू आदि की एक समृद्ध परंपरा काव्यालोचकों की प्राप्त होती है। इनके सामान्य परिचय तथा कृतित्त्व के सामान्य परिचय से हमने इस समृद्ध परंपरा को समझने का प्रयास किया।

इतिहासकार गार्सा-दा-तासी ने अपने ग्रंथ में तुलसीदास की कविता के काल को उर्दू कविता के उत्कर्षकाल के साथ 17 वीं शताब्दी का माना है। उनका हिंदी पर कोई अधिकार नहीं था इसीलिए वह इसके शिल्प को बोझिल मानते हैं और यूरोपीय मानस के लिए कम ग्राह्य मानते हैं। लेकिन भारत में उसकी लोकप्रियता की चर्चा करते हुए सामान्य लोगों द्वारा न समझे जाने वाला ग्रंथ 'रामचरितमानस, को मानते हैं। लोकप्रियता के कारणों की पड़ताल करते हुए तासी इसे 'कुछ व्यक्तियों द्वारा प्रसाद वितरण कर किए जाने वाले एक पाठ के रूप में' देखते हैं। जिसे गांव के कुछ ही लोग समझकर या रटकर पढ़ते हैं। विल्सन के एक लेख के आधार पर वह रामचंद्रिका को रामायण का संक्षिप्त अनुवाद मानते हुए 'रीड' की स्थापना जिसमें वह इसे रामायण से भिन्न मानते हैं, को भी उद्धृत करते हैं।

परंपरा प्रचलित सूर, तुलसी, केशव की स्थापना को उलटकर ग्रियर्सन, तुलसी को काव्य में प्रथम स्थान दिलाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। अपनी आलोचना में ग्रियर्सन 'लोक व्यवहार' और 'मर्यादा बाध्यता' के कारण तुलसीदास की कविता को प्रमुख स्थान देते हैं तथा तुलसी की कविता को ईसाई मूल्यों की निकटता के कारण यूरोपियनों के ज़्यादा निकट तथा ग्राह्य मानते हैं।

ग्रियर्सन की दृष्टि में 'नैतिकता' तथा 'विलासिता' दो पैमाने थे जिस पर वह इस कविता का मूल्यांकन करते हुए उत्कृष्ट मान रहे थे। संप्रदायबद्ध कृष्णभक्ति कविता में विलासिता का स्वर तुलसी से ज़्यादा था, इसीलिए ग्रियर्सन ने इस काव्य धारा को ज़्यादा महत्त्व नहीं दिया है। वह सदियों से राम की उस मूर्ति जो भारत में 'मर्यादा' तथा 'नैतिकता' का पाठ पढ़ा रही थी, को हिंदुस्तान के रक्षक तथा पथप्रदर्शक के रूप में देखते हैं और तुलसीदास को 'बुद्धदेव के अनंतर' खड़ा करने का काम करते हैं।

लोकप्रियता के स्तर पर यह ग्रंथ 'झोपड़ी से लेकर राजभवन तक' अपनी पहुँच को बनाए हुए हैं और सबमें इसकी बराबर लोकप्रियता है। वह क्षेत्रीय भाषा में रचित होने के कारण रामचरितमानस को 'भाषा रामायण' के नाम से स्थान देते हैं। मानस की शैली, प्रवाहपूर्ण वर्णन आदि को समझकर 'सरलता से समझ आने वाला काव्य' मानते हैं। भाषाई रूप से तुलसी के काव्य की समृद्धता को ग्रियर्सन द्वारा रेखांकित किया गया है तुलसीदास की कविता में वर्णों की जो सूक्ष्म दृष्टि है, उस पर ग्रियर्सन की आलोचना दृष्टि गई है।

तुलसी को जीवन के गहरे अनुभवों का व्यवहारिक ज्ञान था। इसी कारण उनका काव्य प्रामाणिक तथा कवि के रूप में विनम्रता देखने को मिलती है। यूरोप में मानस के समकक्ष कोई ग्रंथ ना पाकर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन तुलसी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्हें विश्वकविता में स्थान प्रदान करने की बात करते हैं। इनके गहन जीवनानुभव सीधे प्रकृति या समाज से ग्रहण किए गए हैं, यह जीवनानुभव किसी कविता की पुनःप्रस्तुति नहीं है।

एडविन ग्रीब्ज, तुलसीदास की कविता का मूल्यांकन प्राच्य मापदंडों से करने की माँग अपनी आलोचना में करते हैं। ग्रीब्ज, राबर्ट बर्न्स की कविताओं के कथ्य से इस ग्रंथ की साम्यता को स्थापित करते हैं। ग्रीब्ज, तुलसीदास की रामचरितमानस के कारण अवधी के लोकप्रिय तथा काव्यभाषा के रूप में आगे के कवियों द्वारा अनुसरण किए जाने की बात को अपनी आलोचना में स्पष्ट रूप से करते हैं।

पाश्चात्य आलोचकों में लगभग हर आलोचक ने 'तुलसी की लोकप्रियता' की बात कही है। लेकिन ग्रीब्ज उनके 'भाषाई संयोजन' में 'प्रसंग की जो संयोजन शैली' है उसे लोकप्रियता का प्रमुख कारण मानते हैं। क्योंकि इसी विशेषता के कारण वह कठिन धार्मिक प्रसंगों को अवधी में प्रस्तुत कर सके। वह मानस में राम को मनुष्य की पदवी से उठाकर 'ईश्वरत्व' प्रदान करने का काम करते हैं। वर्णन में 'अतिशयोक्ति' तथा कहीं-कहीं 'चमत्कृत कर देने वाली ऊब' देखने को मिलती है। ग्रीब्ज उनकी ब्राह्मण पक्षधरता को नकारते नहीं बल्कि इस दृष्टि से मूल्याँकन करते हुए कबीर से बहुत पीछे तुलसीदास का स्थान निर्धारित करते हैं।

केई अपनी आलोचना में रामानंद के प्रभाव के कारण रामभक्ति के विस्तार की बात करते हुए तुलसीदास को 'विश्वकवि' के रूप में वर्णित करने का काम करते हैं। वह कवि तथा कविता की आश्चर्यजनक स्वीकृति की और सभी वर्गों में लोकप्रियता की बात को प्रमुख रूप से उठाते हैं। तुलसीदास का प्रभाव इतना व्यापक था कि, केई इनके बाद किसी रामभक्ति शाखा में इतने बड़े कवि का आविर्भाव न हो पाने के पीछे एक मात्र कारण इसी को मानते थे। कविता में

आयी धार्मिक मूल्यवत्ता की अधिकता केई की नजर में काव्य की मूल्यवत्ता को घटाने वाली हो सकती है। हालांकि यह जरूरी शर्त नहीं है।

इसके बाद अध्याय में फादर कामिल बुल्के को स्थान दिया गया उनका मानस कथा रामकथा के प्रति अनुराग ने उन्हें संस्कृत, हिंदी आदि सीखने के अलावा रामकथा मर्मज्ञ बना दिया। रामकथा की वैश्विक तथा भारतीय परंपरा का मूल्यांकन करते हुए विभिन्न प्रसंगों में रामकथा के पात्रों के वर्णनों का विश्लेषण फादर कामिल बुल्के ने द्वारा किया गया है। देखा जाए तो वह तुलनात्मक रूप से रामकथा के विकास की प्रक्रिया को वैश्विक स्तर पर पहचानने का प्रयास कर रहे थे,जो हमारी नजर से ओझल थी।

वह मानसकथा में रामकथा के कई प्रसंगोद्भावनाओं का तुलनात्मक वर्णन करते हुए ग्रंथ में वाल्मीकि के इतर कथानकों की पहचान कर उनके मूलस्रोत और मानस निर्माण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करते हैं।

रामायण को फादर कामिल बुल्के 'भारतीयता का उज्जवल आदर्श प्रतीक' और 'सांप्रदायिकता रहित' मानते हैं। मानस के रचनाकार पर शूद्रों, स्त्रियों के प्रति कही गयीं काटूक्तियों के प्रति परंपरा, समकाल या पात्रों को जिम्मेदार मानते हुए, तुलसीदास को बचाने का प्रयास करते दिखते हैं। वह तुलसी के बचपन, उनकी मातृत्वहीनता आदि को इस वर्णन के पीछे का कारण मानकर तुलसीदास को बरी कर देते हैं। मानस के पाठकों की वर्तमान में घटती संख्या के बावजूद भारत के 'सांस्कृतिक' और 'धार्मिक इतिहास' की जानकारी प्राप्त करने के लिए मानस के अध्ययन को कामिल बुल्के अनिवार्य मानते हैं।

रामकथा के आधारों की खोज विषयक अपने शोध में शर्तोल वोदिबिलमानस के हर प्रसंग के मूलाआधारों, उद्भव, संवादों आदि के उद्गम की पड़ताल करती हैं। वह पात्रों की मनःस्थिति के कारण अन्य उपदानों की गहन पड़ताल करतीं हैं। रामायण से लेकर भगवतगीता तथा पुराणों में जहाँ से भी मानस के कथा प्रसंगों को लिया गया है, उन सभी मूलाधारों तक पहुंचकर उनकी व्याख्या करने का काम शर्तोल वोदिविल द्वारा किया गया और उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया।

उपसंहार

शोधकार्य को शुरू करते समय कई प्राक्कल्पनाएं मस्तिष्क में थीं और कोई पूर्व शोधकार्य तथा एक सुचिंतित विद्वान की राय न होने के कारण मुश्किल भी लगा। एक निष्कर्ष तक भक्तिकविता की आलोचना को पश्चिम के नज़रिए से मूल्यांकित करना, यूरोपीय विद्वानों के कई पक्ष, जिनमें व्यापारी, प्रशासक, अन्वेषी के अलावा सबसे मुख्य पक्ष उनकी 'विजेता मानसिकता' रही। जो हमेशा इस बात के लिए चिंतित किए रही कि, कहीं मूल्यांकन करते हुए किसी एक विचारक/आलोचक से ज़्यादा प्रभावित न हो जाऊँ।

सन् 1784 ईस्वी में विलियम जोंस द्वारा स्थापित 'एशियाटिक सोसाइटी' के उद्देश्यों में-

1. हिंदू धर्म और मुस्लिम कानून
2. प्राचीन विश्व इतिहास का अध्ययन
3. स्थापत्य भारतीय
4. परंपराएँ
5. भारत का आधुनिक राजनीति और भूगोल
6. बंगाल के शासन के लिए बेहतर उपाय
7. ज्यामिति/अंक गणित और विज्ञान(एशियाई)
8. भारत में औषधि, रसायन और सर्जरी
9. भारत के प्राकृतिक उत्पाद
10. पूर्वी देशों में संगीत
11. एशिया में कविता और नैतिकता
12. तिब्बत और कश्मीर
13. व्यापार उत्पादन कृषि तथा अर्थव्यवस्था
14. मुग़ल न्याय शास्त्र और विधि
15. मराठा न्याय शास्त्र और विधि

विस्तृत रूप में एक कार्य योजना के तहत 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' को शुरू किया गया था। भारत-विद्या के विद्वान 'प्रशासक' के साथ 'रंग तथा नस्लीय उच्चता' के शिकार थे और अपने को उच्च तथा अन्य एशियाई लोगों को हीन समझते थे। इनमें पुर्तगाली, फ्रांसीसी, ब्रिटिश, रूसी, जर्मन आदि सभी लोग समान रूप से एक सोच से संचालित ज़्यादा थे। वहाँ पर व्यक्ति/ विचार/ देश/ जाति आदि का स्वतंत्र रूप से अध्ययन कम किया गया, बल्कि सामूहिक पद में अध्ययन और अवधारणा निर्मिति का काम ज़्यादा किया जा रहा था।

भारत-विद्या या प्राच्यवादियों के इस नज़रिए को विलियम जोंस, एलफिंस्टन और लॉर्ड मैकाले की स्थापनाओं द्वारा प्रस्तावना में विस्तार से वर्णित किया गया। अरस्तू, हीगेल की अवधारणाओं से पुष्ट होता हुआ यह श्रेष्ठताबोध पूरे 3000 साल तक एशिया के बारे में दावों को प्रस्तुत करता रहा। इन्हीं दावों को समझने के क्रम में जो महत्त्वपूर्ण पड़ाव हमारे सामने

आता है, वह है मैक्स मूलर की पुस्तक 'भारत हमें क्या सिखा सकता है' जिसमें व्याख्यान के माध्यम से एक अन्य धारा का हमें पता चलता है।

वह निराधार भारत के साहित्य/ संस्कृति/ लोगों के चरित्र के विषय में जो पूर्वग्रह थे उनको तोड़ने तथा भारत को एक प्रयोगशाला के तौर पर उपयोग कर उससे सीखने की अपील देश के भावी प्रशासक अधिकारियों से करते हैं।

एडवर्ड सईद 'प्राच्यवाद' की स्थापना देते हुए जिन पदों को प्रमुख रूप से स्थापित करते हैं, जिनमें 'विवादी पाठन विधि', 'प्रस्तुतीकरण की राजनीति', 'संपादन की राजनीति' 'विजितों की मानसिकता', 'अपनी हिंसा को मानवता स्थापना की आड़ में वैध बनाने की चाल', 'सामूहिक चिंतन', 'पूर्व प्रस्तुत मत/ आग्रह की लगातार पुष्टि', 'प्रतिनिधि विमर्श' आदि पारिभाषिक शब्दों को अपने आलोचकीय लेखों में स्थापित करते हैं। एम.एन.श्रीनिवास का 'सांस्कृतिकरण का सिद्धांत' इस सिद्धांत इन मायनों में अलग होता है, क्योंकि वहाँ किसी समुदाय/ जाति/ देश के द्वारा श्रेष्ठता का आरोपण नहीं किया जाता। बल्कि वहाँ पर संस्कृतिकरण के माध्यम से उस श्रेष्ठता को स्वयं को कमतर समझने वाली जाति अनुकरण कर विकसित बनाने का प्रयास करती है। इस प्रकार इन दोनों अवधारणाओं को एक नहीं माना जा सकता है। क्योंकि प्राच्यवाद जहाँ स्थापनाएँ थोपने काम करता है, तो संस्कृतिकरण एक ऐसी आंतरिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज/ देश/ साहित्य/ व्यक्ति स्वयं उसको अपना कर गर्व महसूस करता है।

मिल की जिस इतिहास की किताब को मैक्स मूलर 'भारत विद्या' के लिए दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं, उसके पीछे उनके अपने तर्क यह हैं कि, उस पुस्तक को पढ़ने वाला कोई भी यूरोपीय व्यक्ति निष्पक्ष रूप से भारत को न तो देख पाएगा और न ही मूल्यांकित कर पाएगा।

उस समय में भारत के अध्ययन से संबंधित ऐसी कई पुस्तकें प्रकाश में आईं, जिनमें भारत की छवि को 'मिल' की पुस्तक के आधार पर देखा गया था। मैक्स मूलर इसी कारण किसी भी पूर्वग्रह को अध्ययन के लिए बाधा मानते हैं। भारत की महानता और उससे सीखने की चर्चा अवश्य करते हैं लेकिन वह मध्यकाल या वर्तमान समय से कुछ सीखने की अपील न करते हुए 2000-3000 वर्ष पूर्व के भारत को देखकर महानता घोषित करते हैं। मैक्स मूलर का ज़ोर उस समय पर ज़्यादा था जब ग्रंथों की रचना संस्कृत में की जा रही थी और उसी समय के भारत की साहित्य/ संस्कृति/ अध्यात्म के अलावा नैतिक मूल्यों से सीखने का प्रस्ताव यूरोपियन लोगों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

इस भारत विद्या के अध्येताओं में जो संस्कृत या वैदिक साहित्य के प्रति प्रेम और जिज्ञासा दिखाई पड़ती है, उसके मूल में प्रमुख कारण यह रहा कि आर्यों का मुख्य निवास स्थान यूरेशिया माना गया। जिसका वर्णन अपने इतिहास में प्रोफ़ेसर रोमिला थापर ने भी किया है।

प्रस्तावना में इस प्राक्कल्पना पर भी ज़्यादा ज़ोर दिया गया था कि, मैकाले की नीति प्राच्यवाद से ज़्यादा प्रेरित थी। सईद की मान्यताओं का साहित्य तथा सभ्यता के संबंध में यदि

कोई प्रतिनिधित्तव करता है तो वह मैकाले के द्वारा ज़्यादा किया गया है। क्योंकि वह उन सभी मान्यताओं पर दृढ़ रहता है जो उसके पूर्वग्रह से युक्त तथा पश्चिम के हितों के अनुकूल थीं। जिस पश्चिमी महानता के क़सीदे लगातार मैकाले के द्वारा पढ़े जा रहे थे, वहाँ वर्णनों तथा स्थापनाओं में सम्यक विवेचन न होकर एक प्रकार की पक्षधरता देखने को मिलती है।

लेकिन मैकाले को शिक्षा के क्षेत्र में लाए गए क्रांतिकारी बदलाव के लिए भी श्रेय देना आवश्यक है। उसने शिक्षा के क्षेत्र को ज़्यादा लोकतांत्रिक तथा सभी वर्णों विशेषकर शूद्रों और गरीबों के लिए उपलब्ध कराने की नीति का निर्माण किया। उस दौर में 'एक समान शिक्षा प्रणाली' के बारे में सोचने का प्रथम प्रयास मैकाले द्वारा ही किया गया था।

लेकिन मैकाले का जो मत पूरे एशियाई साहित्य को यूरोप के साहित्य की एक शेल्फ के बराबर भी नहीं मानता, वह औपनिवैशिक ज्ञानकांड की उपज है। वहाँ कोई तर्क, कोई व्याख्या या विश्लेषण की गुंजाइश नहीं। बल्कि 'चिनुआ आचीबी' के इस कथन के संदर्भ में देखा जा सकता है "जब तक हिरण अपना इतिहास खुद नहीं लिखेंगे हिरणों के झुंड में शेरों की गौरव गाथायें गाई जाती रहेंगी"। 'औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति' पुस्तक में भी थ्योगों इन्हीं प्रश्नों के साथ विजेताओं की भाषा को जोड़ देते हैं। वह चिंतन किस भाषा में? किसके द्वारा किया जा रहा है? इस पहलू पर ज़्यादा ध्यान देते हैं और भाषा की राजनीति के माध्यम से उपनिवेशवादी विचारों की बात को अपनी पुस्तक में रखते हैं।

प्रस्तावना लिखते हुए फ्रेन्ज़ फैनन को भी उद्धृत किया गया था। पूरे दक्षिणी ध्रुव पर यूरोप के आधिपत्य की विवेचना करते हुए उन कारणों की पड़ताल करते हैं जिनसे उपनिवेशवाद को बल मिलता है। इस प्रकार पूरे ग्लोब में दो धाराएँ हैं। एक अरस्तू, हीगेल, विलियम जोन्स, एल्फिनस्टन, लार्ड मैकाले की धारा हैं, तो दूसरी ओर मैक्समूलर (कुछ संदर्भ छोड़कर), एडवर्ड सईद, चिनुआ अचीबी, न्गुगी वा थ्योन्गों व फ्रेन्ज फैनन जैसे अध्येता हैं। इन्हें शासक तथा शासित के फ्रेम में भी बाँटकर देखा जा सकता है।

विस्तार से इन बातों का दोबारा वर्णन करने का आशय यह स्पष्ट करना है कि, जिस दिशा में प्रत्येक अध्याय में शोध निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास किया गया उसमें इन सभी पूर्व अध्येताओं की अवधारणाएँ प्रत्येक आलोचक/ इतिहासकार के चेतन-अवचेतन मन में किसी न किसी रूप में मौजूद थीं।

प्रथम अध्याय में भारत संबंधी ऐतिहासिक मतों का विवेचन करते हुए प्रमुख रूप से यह बिंदु सामने आए-

1. 'भारत में ऐतिहासिकता का अभाव है'-पार्जिटर,
2. 'हिंदुओं में ऐतिहासिक चेतना नहीं पाई जाती है'- अलबरूनी,
3. 'ऐतिहासिक विवेक का अभाव है'- मैकडोनाल्ड

इन सभी स्थापनाओं का प्रभाव इतिहास लेखन में बाद के लेखकों में दिखाई देता है। जिस 'पुष्टिकरण' की बात को एडवर्ड सईद बार-बार 'वर्चस्व और प्रतिरोध' पुस्तक में उठाते हैं,

वह प्रथमतया इतिहास ग्रंथों में देखने को मिलती है। हिंदी साहित्य के इतिहास के व्यवस्थित लेखन से पूर्व साहित्य में अन्तःसाक्ष्य,बाह्यसाक्ष्य आदि रचनाकारों द्वारा कुछ-कुछ जीवन संबंधित तथ्य दे दिए जाते थे। भक्तमाल, वार्त्तासाहित्य, हजारा और कविवृत्तसंग्रह जैसी रचनाओं में कई ऐतिहासिक तथ्य देखने को मिलते हैं। लेकिन पश्चिमी आलोचक विवेचना करते हुए इन सभी देशज स्रोतों पर संदेह प्रकट कर इस सामग्री पर अविश्वास प्रकट करते हैं।

यह भक्तिसाहित्य के रचनाकारों के साथ बहुतायत में किया गया है। यहाँ विद्यापति, कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास आदि के जीवन तथा किंवदंती और प्रचलित जनश्रुतियों को इतिहास लेखन में जीवन संदर्भ तथा कृतित्त्व का वर्णन करते समय नोटिस मात्र लेकर छोड़ दिया गया है। प्रथम अध्याय में जिन इतिहास ग्रंथों का वर्णन किया गया है उनकी विवेचना प्रणाली पर भी विस्तार से चर्चा करते हुए कुछ निष्कर्ष प्राप्त किए गए। भाषाई दृष्टिकोण से गार्सा-दा-तासी उर्दू या अरबी/ फारसी मिश्रित हिंदुस्तानी को ज़्यादा प्रचलित तथा लोकप्रिय भाषा मानते हैं। हिंदी या हिंदुई को लगभग विलुप्त या जिसमें बहुत कम साहित्य लिखा जा रहा था, ऐसी भाषा मानते हैं। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि वह खड़ी बोली हिंदी के बनने का समय था। लेकिन यह किसी भी अर्थ में ठीक नहीं कि हिंदी को बोलने वाले कम थे या इनकी बोलियों का साहित्य उर्दू की अपेक्षा कम था। गार्सा-दा-तासी अपने ग्रंथ का समर्पण जिन शब्दों में 'साम्राज्ञी के प्रति' करते हैं, उससे उनका ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति समर्पण बहुत ज़्यादा प्रतीत होता है। वह उपनिवेशवाद के ऐसे प्रस्तोता हैं, जो कभी भारत आए ही नहीं थे और हिंदी साहित्य के प्रति,उनके लेखकों के प्रति कई अवधारणाएं प्रस्तुत कर देते हैं।

जिस प्रश्न को मैक्समूलर और सईद बार-बार उठाते हैं उसका सबसे अच्छा उदाहरण तासी का इतिहास और उसमें दी गईं साहित्य विषयक स्थापनाएँ हैं। तासी न तो हिंदी भाषा ठीक से जानते थे और न ही उन्होंने भारत देखा था। लेकिन जो तर्क और स्थापनाएँ प्रस्तुत करते थे उसमें एक विश्वास झलकता था। वह दूर देश में संगृहीत की गई साहित्यिक सामग्री से अपनी स्थापनायें प्रस्तुत और पुष्ट कर देते थे। "साम्राज्ञी का अत्यंत तुच्छ और आज्ञाकारी दास" भारत के साहित्य ख़ासकर हिंदी साहित्य का तो अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता है और उन मान्यताओं का प्रतिनिधिकरण या कहें पुनर्प्रस्तुतीकरण करता है जो जोन्स द्वारा प्रस्तुत की जा रहीं थीं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का इतिहासबोध जहाँ इतिहास की सामग्री के प्रत्येक रूप को ऐतिहासिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण मानता है, तो एक ओर तासी की इतिहासदृष्टि है जो हिंदी साहित्य की मौजूदगी को ही नकार देती है। वस्तुतः दोनों की अवधारणाओं का अंतर उनकी दृष्टि का अंतर है। द्विवेदी जी का अपनी भाषा, साहित्य के प्रति प्रेम उन्हें साहित्य के छोटे से बीज के प्रति आसक्त करता है शायद इससे कुछ सूत्र प्राप्त हो और हमें कोई समृद्ध परंपरा का पता चल सके, जिससे हम अपने साहित्य का मूल्यांकन करने में ज़्यादा सफल हो सकें। वहीं दूसरी ओर तासी जैसे विद्वान हैं जिनका काम मात्र किसी देश के साहित्य का

अध्ययन करना था। वहाँ किसी प्रकार के ‘गौरव प्रतिष्ठा’ या ‘प्रेम’ का प्रश्न नहीं था। वहाँ निष्कर्ष से कोई व्यक्तिगत लगाव नहीं बल्कि यदि वह निष्कर्ष गौरवपूर्ण होता तो पाश्चात्य गरिमा और श्रेष्ठता को ठेस लगने की संभावना थी। इसीलिए तासी जब रामचरितमानस के संदर्भ में लोकप्रियता के पक्ष पर चर्चा करते हैं तो हास्यास्पद सी टिप्पणी देते हैं। कुछ मामलों में वह सही हो सकती है लेकिन उसकी लोकप्रियता के मूल में धार्मिक लाभ ज़्यादा प्रमुख था ना कि ‘मुट्ठी भर प्रसाद’।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन अपनी पुस्तक में हिंदी साहित्य के इतिहास का विभाजन प्रस्तुत करते हुए ‘भाषाई-भूगोल’का निर्माण करते हैं। वास्तव में वह ‘लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया’ के द्वारा हिंदी की उपभाषाओं का ही नहीं, बल्कि भारत भर में बोली जा रही भाषाओं का विस्तृत अध्ययन कर रहे थे। उनके समक्ष एक पूरा भाषाई परिदृश्य था जहाँ पूर्वअध्ययनों में गार्सा-दा-तासी हिंदी और उर्दू में विभाजित कर साहित्य इतिहास को देख रहे थे, तो वहीं ग्रियर्सन द्वारा इसे भाषा, बोली, उपबोली में पूरे हिंदी क्षेत्र को वर्गीकृत कर देखा गया। इन्होंने हिंदी का भूगोल, बोलियाँ तथा साहित्यिक क्षेत्र-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने सिर्फ भाषाओं का ही वर्गीकरण नहीं किया बल्कि हिंदी साहित्य के इतिहास को भी वर्गीकृत कर अध्ययन की उस परिपाटी को भी विकसित किया। जिससे बाद के इतिहासकारों को भी सुविधा हुई।

ग्रियर्सन भारत को अन्य किसी यूरोपियन विद्वान से ज़्यादा जानते थे। वह लंबे समय तक भारत में रहे। इसलिए इनके निर्णय तासी की तरह अतिवादी नहीं बल्कि उनमें एक संतुलन प्राप्त होता है। ग्रियर्सन के पास अध्ययन की विराटता तथा जनसंवाद का अनुभव था। इसलिए जब वह साहित्य विषयक कोई टिप्पणी देते हैं तो वह प्रामाणिकता के ज़्यादा क़रीब होती है। भक्तिकविता विषयक ग्रियर्सन के विवेचन को आगे अध्यायवार विवेचित किया जाएगा। लेकिन यहाँ सिर्फ़ इतना कह देना काफी है कि भक्तिकविता के ‘उदय पर ईसाइयत के प्रभाव’ वाली व्याख्या, जिसे बाद में उन्होंने बदल दिया था या ‘तुलसीदास की कविता पर नेस्टोरियन ईसाई धर्म का प्रभाव’ लक्षित करने वाली व्याख्या रही हो। वह अपने अध्ययन में पूर्वग्रह तथा ईसाई नैतिकताओं से पूर्ण रुप से मुक्त नहीं है।

वह चिंतन करते हुए जब तुलना करते हैं तो किसी इंग्लैंड के कवि को प्रतिमान के रूप में जगह-जगह अपनी आलोचना में स्थान देते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो औपनिवेशिक मानसिकता से जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन मुक्त नहीं है। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन एक अधिकारी के रूप में भारत आए थे और एडविन ग्रीब्ज एक पादरी के रूप में। दोनों के सरोकार अलग थे लेकिन इनका महत्त्व इस एक बात से लगाया जा सकता है कि इनके लिखे एक लेख का उपयोग गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा बाद में मानस के व्याकरण को समझने के लिए उपयोग में लाया गया था।

इतिहास के विभाजन को ग्रीब्ज और ज़्यादा वैज्ञानिक बनाते हुए उसे ठोस आधार प्रदान करते हैं। वह उस आलोक मैं साहित्य का मूल्यांकन का प्रतिमान अपने इतिहास में देते हैं जिसमें प्रमुख रूप से 'आदर्श' या 'कोई मूल्य' साहित्य द्वारा समाज में दिया जा रहा हो। वहाँ पर वह निरा कला प्रदर्शन को मूल्यहीन साहित्य की कोटि में रखते हैं। एडविन ग्रीब्ज साहित्यकार और इतिहासकार दोनों की सीमाओं की चर्चा अपने इतिहास में करते हैं। वहाँ पर वह इतिहास में 'पूर्ण विवेचन' न कर पाने की असमर्थता को भी स्वीकार करते हैं। यह एक संयोग ही है कि ईसाई पादरी होने के बाद भी ग्रीब्ज जब आलोचना करते हैं तो उनका झुकाव ईसाई नैतिकता की तरफ ज़्यादा नहीं रहता बल्कि वह समन्वित तथा संतुलित व्याख्या और विवेचना प्रस्तुत करते हैं।

एडविन ग्रीब्ज से दो वर्ष बाद एफ़.के.ई.का इतिहास प्रकाशित हुआ। यह संक्षिप्त इतिहास भी अपनी सीमा और विवेचना के बारे में पहले ही विवेचना प्रस्तुत कर देता है। के.ई., मैकाले और उसकी परंपरा के तमाम आलोचकों/ इतिहासकारों से उलट एक विचार अपने इतिहास में प्रस्तुत करते हैं। वह मानते हैं कि भारत को समझने के लिए देशी भाषाओं से निकट का परिचय होना आवश्यक है। एक प्रकार से ग्रियर्सन के बाद प्रथमतया इन देशी भाषाओं के महत्त्व को प्रतिपादित करने का काम वह करते हैं। वह हिंदी की बोलियों के मध्य एक प्रकार की घनिष्ठता की बात को दोहराते हुए उसमें लिखे साहित्य को हिंदी साहित्य की कोटि में मूल्यांकित करते हैं। यह ग्रियर्सन का अनुसरण करते हुए एफ. ई. केई. मध्यकालीन समय को अपने इतिहास में 'स्वर्णकाल' की संज्ञा देते हैं।

एक महत्त्वपूर्ण स्थापना जिसे बार-बार इस शोध में दोहराया गया है, 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनकी बहुत ही स्थापनाओं की हू-बहू नकल अपने इतिहास में बिना नाम लिए उतार ली और इनका नामोल्लेख तक नहीं किया' भक्ति कविता के संदर्भ में एक प्रश्न हमेशा अध्ययन के केंद्र में रहा है कि विभाजन क्यों? कैसे? और किस आधार पर? विभाजन या वर्गीकरण ज़्यादा वैज्ञानिक होगा। देखा जाए तो ग्रियर्सन ने सबसे पहले मध्यकाल के साहित्य को प्रवृत्तिगत आधारों पर विभाजित करते हुए 11 अध्यायों में अपने इतिहास को बांटा था। वह पूरब, पश्चिम, मध्य आदि भाषाई क्षेत्रों का इतिहास में वर्णन करते हुए प्रवृत्तिगत आधार पर किए गए वर्गीकरण को भी महत्त्व प्रदान करते हैं।

ग्रीब्ज प्रवृत्ति नहीं बल्कि विस्तार या समय सूचक वर्गीकृत सरिणी में साहित्य को देखते हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उभरकर सामने आया है कि क्या भक्त कवि जब इस कविता की रचना कर रहे थे तब वह अपने मस्तिष्क में ऐसा किसी भी प्रकार वर्गीकरण ध्यान में रखे हुए थे? या यह बाद की उपज है? इसमें तमाम विद्वानों की अपनी राय है। लेकिन अध्ययन के उपरांत जो निष्कर्ष अध्याय-2 में प्रस्तुत किए गए उसमें यही बात मुख्य रूप से आती है कि, जिन आधारों पर बाद में विभाजन करने का प्रयास किया वह तर्कसंगत और वैज्ञानिक नहीं है। एक तो भक्त

कवियों की भावभूमि एक थी जिसमें वह लगातार आवाजाही कर रहे थे उनमें कोई दृढ़ या अपारदर्शी विभाजन नहीं पाया जाता है। वह अपनी मान्यताओं के साथ संवादधर्मी थे। एकेश्वरवादी भी राम-ब्रह्म आदि का वर्णन कर रहे थे और अपने आराध्य का भजन करते हुए सगुण राम तथा कृष्ण के उपासक भी कविता में नाथ पंथ, निर्गुण आदि की शब्दावली का भरपूर उपयोग कर रहे थे।

हौली इन परंपराओं के ऊपर तथा 'भक्ति के भावबोध' के आधार पर एकता स्थापित होने की बात को अपनी आलोचना में स्थापित करते हैं। डेविड लारेंजन जब विभाजन विषयक प्रश्न पर विचार करते हैं तो वहाँ वह कवियों के जीवन की घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त कवियों में कोई विशेष अंतर नहीं पाते हैं। लारेंजन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दोनों का जीवन लगभग समान ही था। वह आज के संदर्भ में जब इसकी तुलना करते हैं तो पाते हैं कि यह आश्चर्यजनक है कि जो चमत्कार या जीवनवृत्त निर्गुण कविता के लेखक का है वही सगुण भक्ति परंपरा के लेखक का,इसमें थोड़ा बहुत अंतर अवश्य पाया जाता है।

कैरीन शोमर 'वैष्णव संप्रदाय' तथा 'आध्यात्मिक संत परंपरा' के रूप में दो भागों में भक्ति साहित्य को विभाजित अवश्य करतीं हैं, लेकिन समग्रता में भक्ति कविता के संदर्भ में कोई आलोचक एकमत नहीं है। इसी मत भिन्नता के कारण किसी भी तरह का मत आलोचना में प्राप्त नहीं होता है।

टायलर वाकर विलियम्स का अध्ययन इस पक्ष के संदर्भ में विचारणीय है। वह पांडुलिपियों के अध्ययन के आधार पर अपने शोध में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- जो विभाजन भक्ति कविता में इतिहासकारों तथा आलोचकों के मध्य बाद में प्राप्त होता है। वह बाद के संकलनकर्त्ताओं की विभाजित मानसिकता की उपज है वह शताब्दी के आधार पर प्राप्त पांडुलिपियों और निर्गुण-सगुण विभाजन की स्थिति का विश्लेषण करते हैं और पाते हैं यह विभाजन साहित्य में आधुनिक काल तथा मत-मतांतरों के प्रति निरंतर कट्टरता के दृढ़ होते जाने के परिणाम स्वरूप देखने को मिलता है।

विभाजन के उपरांत अगर हम सूफी कविता के विश्लेषण और आलोचना की ओर नज़र डालते हैं तो तासी सर्वप्रथम जायसी के संबंध में अपनी राय व्यक्त करते हुए हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। वह जायसी की भाषा को 'उत्तर की उर्दू' या 'मुसलमानी हिंदुस्तानी' मानते हैं। हो सकता है कि,तासी को जो प्रति प्राप्त हुई हो उसमें लिपि फारसी हो, इस कारण वह इसकी भाषा यह मानते हैं। या फिर उनका जो उर्दू के प्रति मोह था वह जानबूझकर ऐसा करने पर मजबूर कर रहा हो। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि बहुत बाद तक पद्मावत की मूल लिपि के बारे में भ्रम की स्थिति आलोचकों के मध्य बनी रही।

ग्रियर्सन, जायसी की कविता तथा व्यक्तित्त्व की असाधारणता को रेखांकित कर उनके वंश आदि का निर्धारण करने में अपनी दृष्टि डालते हैं। वह आलोचना में दार्शनिकता,

महाकाव्यात्मकता, रूपक, समास आदि की चर्चा विस्तार से करते हैं और जब कभी कविता के भाव पक्ष की बात करते हैं तो वह विशेष रूप से उनकी उदारता की चर्चा करते हैं। वह उस सद्भाव तथा सांस्कृतिक एकता को पद्मावत में पाते हैं,जो उस समय का समाज खोजने का प्रयास कर रहा था। जहाँ तासी 'पद्मावत' को फारसी भाषा में लिखित मानते हैं, वहीं ग्रियर्सन इस ग्रंथ की लिपि मात्र 'फारसी भाषा' की मानते हैं। जिस ग्रामीण भाषा में जायसी ने अपनी रचना की उसके बाद ग्रामीण भाषाओं में रचना करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसके बाद बहुत से कवि जायसी के अनुकरणकर्त्ता हुए। हालाँकि यह बात पूर्व में भी जा चुकी है, लेकिन यहाँ भी फिर से कहनी आवश्यक है, कि जायसी की तुलना करते हुए तुलसीदास की कविता को प्रतिमान के रूप में अपने सामने रखते हैं। इसीलिए जब स्थापना या निष्कर्ष देने का समय आता है तो ग्रियर्सन संगीतहीनता, पाठक की भाषा अभ्यस्तता और कल्पना तथा इतिहास के मिश्रित कलेवर आदि को रेखांकित करने के कारण कुछ कमतर पाते हैं।

रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज, मलिक मुहम्मद जायसी के जीवन तथा रचनाओं पर विचार करते हुए किसी भी 'प्राच्यवादी टूल्स' का अपनी आलोचना में उपयोग नहीं करते हैं। वह उनकी प्रसिद्धि, कथा में पाए जाने वाले रुचिपूर्ण वर्णनों, ग्रामीण जन की भाषा के कारण लोकप्रियता तथा जनता में पहुंच आदि को विस्तार से सामने लाते हैं। आज के पाठक को पुरानी 'ठेठ अवधी भाषा' होने के कारण यह काव्य समझने में थोड़ी कठिनाई का सामना अवश्य करना पड़ सकता है। लेकिन वह इस पर ग्रियर्सन की तरह क्लिष्टता तथा संगीतहीनता का आरोप नहीं लगाते हैं। वह इनकी कविता को 'मधुर-छंद युक्त' तथा 'संगीतात्मक मानते हैं।

एफ.ई.केई चारण कविता और धार्मिक पुनरुत्थान का मिश्रित रूप पद्मावत में देखते हैं। उनके इतिहास में किसी काव्य प्रवृत्ति का अचानक उदय या विलोपन नहीं होता। वह एक धारा के सतत प्रवाह के रूप में साहित्य को देख रहे थे। इसी कारण वह जायसी में 'चारण' तथा 'भक्ति कविता' दोनों की ही प्रवृत्तियों को लक्षित करते हैं। जायसी के कथा संयोजन तथा मूलकथा की ओर केई की आलोचना ध्यान आकृष्ट कराती है और एक 'असाधारण काव्य' के रूप में पद्मावत का स्थान अपने साहित्य में निर्धारित करने का काम करती है।

इतिहासकारों के अलावा भी जायसी तथा सूफी कविता के अन्य पक्षों का अध्ययन स्वतंत्र रूप से पुस्तकों और लेखों में किया गया है। अध्ययन के इस हिस्से में जायसी के उन आलोचकों का मूल्यांकन किया गया है, जिन्होंने स्वतंत्र रूप से आलोचना-पुस्तक लिखी है। पहला नाम ए जी शिर्रेफ का है जिन्होंने ग्रियर्सन द्वारा किए जा रहे अनुवाद के काम को पूरा किया था। शोध की भूमिका में दिए गए पद्मावत तथा जायसी से संबंधित आलोचना का उपयोग किया गया है। शिर्रेफ ने जायसी को 'सबसे पुराना देशी कवि' माना है। इनकी स्थापनाओं पर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन का प्रभाव ज़्यादा दिखता है। शिर्रेफ, ग्रियर्सन से कई स्थानों पर अलग भी हैं। वह जायसी के कवि पक्ष पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं तथा उन्हें सूफी संत नहीं मानते हैं।

यहाँ पर जायसी जिस साझी/ मिश्रित संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं उस कविता में दोनों धर्मों का आकर्षक तथा सुंदर जायसी द्वारा चयनित कर लिया गया है। कई मायनों में वह 'एकता के पैगंबर' के रूप में जायसी को स्थापित करते हैं। यहाँ यह दृष्टव्य है कि आलोचक जब स्वतंत्र रूप से किसी कवि की आलोचना करता है, तो कवि के बहुआयामी व्यक्तित्त्व को अपनी आलोचना में स्थान देता है। यहाँ पर विभिन्न पक्षों के विश्लेषण में विस्तार देखने को मिलता है। वह पद्मावत के व्यापक सामाजिक प्रभाव को भी लक्षित करते हैं तथा इसे 'सांप्रदायिकता का विरोधी पाठ' के रूप में कारगर ग्रंथ मानते हैं।

जिस प्राच्यवाद का प्राक्कल्पना में विचार किया गया था वह न तो शिरेफ के पास मिलता है और न ही थॉमस ब्रूइंज के पास। थॉमस ब्रूइंज उस प्रक्रिया पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं जिसमें जायसी के उदय की पृष्ठभूमि को निर्मित किया। वह दरबारी जीवन, भक्ति परंपरा, नाथ पंथ आदि की तात्कालिक तरलता में जायसी की कविता का प्रस्फुटन मानते हुए पद्मावत के लिपिकाल और रचना काल में 135 साल का अंतर लक्षित करते हैं। 'पद्मावती' से पश्चिम का परिचय और उसके विभिन्न स्वरूप पहले से ही मौज़ूद थे, लेकिन थॉमस ब्रूइंज और शिरेफ जायसी के पद्मावत को भारतीय परंपरा का प्रतिनिधि तथा समृद्ध लेखन के रूप में स्थापित करते हैं।

पद्मावत में जो मॉडल हमको मिलता है वह उस सूफी परंपरा के पूर्व ग्रंथ 'चंदायन' का अनुकरण है। लेकिन सूफी ग्रंथों में जिस तरह 'नाथ संप्रदाय' के तत्त्व तथा गोष्ठी/ वार्त्ता के संघर्ष को दिखाया गया है, आलोचकों की नजर में वह प्रच्छन्न संघर्ष था। बिंबों और कहावतों के अलावा कथारूपों का साम्य इन्हें एक-दूसरे के ज़्यादा क़रीब लाता है।

थॉमस ब्रूइंज जिस दोहरी उपेक्षा का शिकार जायसी को मानते हैं, वह जायसी के व्यक्तित्त्व तथा कविता का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वहाँ वह उनके समकाल में 'सूफी न होने' तथा आज की आलोचना में 'सूफी मान लिए जाने' के कारण उपेक्षित हुए हैं। थॉमस ब्रूइंज जायसी के पद्मावत में रामकहानी के संस्मरणात्मक उपदेशों के उपयोग की चर्चा करते हुए तुलसी की 'भाषा में कविता' और कई अन्य संदर्भों में प्रेरणा के रूप में देखते हैं। वह जायसी को कथातत्त्वों के संयोजक के रूप में देखते हुए एक सुसंगत संपूर्णता की बात को अपनी आलोचना में ज़्यादा महत्त्व देते हैं। सूफी कवि न तो किसी सूफीवाद का अनुसरण कर रहे थे और न ही किसी एक मॉडल का। थॉमस ब्रूइंज इस बात पर जोर देते हैं और कहते हैं भारत की सूफी कविता का प्रत्येक कवि अपना अलग-अलग मॉडल प्रस्तुत करता है। इस प्रकार फारसी के सूफीवाद से जायसी को बाहर निकालने का काम थॉमस ब्रूइंज करते हैं। कविता में विरह/ बारहमासा यह भारतीय कथातत्त्व के वह रूप हैं जो हिंदी कविता में बहुतायत में प्रयोग में लाए जाते रहे हैं।

अन्य अध्येताओं ने भी सूफीवाद तथा जायसी पर अपना चिंतन प्रस्तुत कर अपने आलोचकीय पक्ष को सामने रखा है - चार्ल्स एस.जे. व्हाइट सूफीवाद को इस्लाम की मान्यताओं के विरोध में विकसित हुई एक परंपरा के रूप में देखते हैं तथा इसके उद्भव के

विभिन्न कारणों की पड़ताल करते हैं। मध्यकाल सांस्कृतिक संक्रमण का होने के कारण सूफीवाद में भारतीय काव्य परंपरा, कथा परंपरा तथा साहित्यिक सामग्री का संलयन आसानी से हो गया। इसी का परिणाम यह हुआ कि सूफी कविता का जो कलेवर तैयार हुआ उसमें कोई 'एक पैटर्न प्राप्त' नहीं होता है।

इसका प्रसार मालाबार के तट से शुरू होकर उत्तर भारत तक पाया जाता है। चार्ल्स एस. जे. व्हाइट उन केंद्रों की चर्चा करते हुए, जिन्होंने सूफीवाद के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया 'जौनपुर की अटाला मस्जिद' को प्रमुखता से महत्त्व प्रदान करते हैं। उस अंतर्विरोध को अपनी आलोचना में प्रस्तुत कर देते हैं जिसमें एक ओर 'कट्टर धर्म' और दूसरी ओर केंद्र में 'धर्म विमुख या कहें धर्म से विद्रोह करने वाले सूफी' थे।

रिचर्ड एम. ईटन सूफियों के भाषाई पक्ष पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो वह दो अवधारणाएँ सामने लाते हैं एक सूफी कविता 'धार्मिक मत में दीक्षित लोगों' को सांप्रदायिक शिक्षा देने के लिए लिखी गई तथा दूसरा 'लोक की भाषा' में लिखी गई। क्योंकि वह कविता में जिस दार्शनिक पक्ष को देखते हैं वह आम-आदमी की समझ में आने वाला नहीं है। वहाँ पर साधना के जिन पदों का उपयोग किया गया वह सूफीपंथ में दीक्षित लोगों के लिए की गई काव्य रचना मानते हैं।

वहीं रिचर्ड एम ईटन 17 वीं सदी में दक्षिण भारतीय केंद्रों में विकसित सूफी कविता तथा उसके व्यापक प्रसार के लिए वहाँ की निम्न जाति की महिलाओं को ज़िम्मेदार मानते हैं। कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कविता का भूगोल बदलने पर रिचर्ड एम. ईटन उसके प्रसार तथा हेतु को बदल देते हैं।

प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल इसे ही 'मनचीती राजनीति' कहते हैं जो यहाँ लक्षित हो रही है। समन्वय, आकर्षण और प्रसार के लिए यह दो पैमाने एक ही काव्य परंपरा के मूल्यांकन के लिए अनावश्यक प्रयास हैं। जॉन मिलिस ने हिंदी साहित्यकारों में 'एकमात्र मुसलमान कवि' के रूप में जायसी को अपने शोध आलेख में स्थान दिया है और उन्हें सूफी मानते हुए पद्मावत को धार्मिक आख्यान माना है। वह 'शिक्षित कबीर' की उपमा जायसी को देते हुए उनका मूल्यांकन करते हैं। कहना न होगा कि जायसी के परिदृश्य पश्चिमी आलोचना में हमारे सामने आए हैं। जिनमें से किसी एक पर दृढ़ नहीं हुआ जा सकता है। लेकिन प्राच्यवाद की अतिरेकी अवधारणाओं का आरोपण सूफी कवियों की कविता के संबंध में देखने को नहीं मिलता है।

शोध के अध्याय 3 में निर्गुण कवियों तथा कविता विषयक आलोचना का अध्ययन किया गया है। प्रमुखता से संत कवि रविदास और कबीर की कविता की आलोचना हमें निर्गुण कविता में प्राप्त होती है। अन्य कवियों पर पश्चिमी आलोचकों ने कम ही दृष्टि डाली है। सूफी कविता के अध्याय में जब निर्गुण-सगुण विभाजन के आधारों पर चर्चा की गई तो वहाँ यह निष्कर्ष के रूप में हमारे सामने आता है कि यह विभाजन उस समय का नहीं बल्कि बाद की शताब्दियों के अध्येताओं द्वारा किया गया कार्य है। इस विभाजन में कई स्तरों पर लगातार

काम होता रहा। परंतु इतिहास लेखन में ग्रियर्सन ने जिन पांच आधारों पर विभाजन किया वहाँ शासन, कविता की प्रवृत्ति और कवि का स्वयं का प्रमुख रूप से योगदान था। पश्चिमी आलोचक बाद में इन्हीं में से कुछ आधारों का ग्रहण-त्याग करके विवेक के आधार पर विभाजन करते हैं।

वाणी संकलन जो पंथों द्वारा किया गया है उसमें निर्गुण संतों की कविता हमें प्राप्त होती है। यहाँ इनमें बार-बार आलोचकों द्वारा प्रक्षिप्तता और प्रामाणिकता का प्रश्न भी उभरकर सामने आया है। रविदास, कबीर के अलावा अन्य निर्गुण संतों की वाणी में प्रसार, समय के साथ प्रक्षिप्तता का समावेशन हुआ। इसमें मौखिक गायकों, लिपिकारों ने प्रसंग और विवेक से बहुत कुछ जोड़-घटा दिया है।

गार्सा-दा-तासी, रविदास को 'रविदासी संप्रदाय' के प्रवर्तक तथा उनके संपूर्ण जीवनवृत्त में प्रचलित किंवदंतियों का सहारा लेकर अपने स्थापनायें देते हैं। एडविन ग्रीब्ज भी कविता और कवि की योग्यता को स्वीकार करते हुए उस समय में 'बनारस के रूढ़िवाद और रविदास की प्रसिद्धि' इन दोनों ध्रुवों को एक साथ रखने का प्रयास करते हैं। रविदास की रचनाओं को 'औसत' तथा 'निम्न नैतिकता' का मानने वाले एडविन ग्रीब्ज अपनी आलोचना में अंतर्विरोधों से पूर्ण स्थापना देने का काम करते हैं।

इतिहासकारों ने रविदास के प्रसंग में ज़्यादा चर्चा नहीं की। ख़ासकर उनके कवि पक्ष पर तो बहुत कम बात की गई है। 'भक्ति के तीन स्वर' पुस्तक में जॉन स्ट्रेटन हौली द्वारा प्रामाणिकता के संबंध में रविदास की कविता और पंथ को पैमाना मानकर अध्ययन किया गया। इसमें वह असंगतता पाते हैं और वाणी के 'देशज स्रोतों के प्रति अविश्वास' होने के कारण वह रविदास के बहुत से पदों को प्रक्षिप्तता की श्रेणी में मान लेते हैं। पूर्व के आलोचक रामानंद और रैदास का गुरु शिष्य संबंध स्वीकार करते हैं, लेकिन हौली इसे पंथ के अनुयायियों की दृष्टि से विश्लेषित और मूल्यांकित करते हुए रामानंद-रविदास के संबंध को 'एक काल्पनिक उपज' तक सीमित कर देते हैं।

'सीकिंग बेगमपुरा' में गेल ओमवेट कबीर की जाति/ कविता के विषय में एक लेख के द्वारा विचार करती हैं और पाती हैं कि रविदास की कविता सगुण-निर्गुण की नहीं बल्कि 'उभयभाव की कविता' है। वह इस ब्राह्मणवादी अप्रोच को बार-बार एक साज़िश बताती हैं, जिसमें रविदास और रामानंद को शिष्य-गुरु के रूप में देखा गया। इस थोपी गई व्याख्या का वह अपनी आलोचना में विरोध करती हैं।

पश्चिमी विद्वानों में रैदास के जीवन, कविता, कविता प्रसार, पंथ, उसकी प्रामाणिकता और आदि संदर्भों में समग्रता में कार्य प्रथमतया विनांद एम कैलवर्त्त ने किया है। इन्होंने प्रामाणिक पदों का संकलन कर उनका अनुवाद भी किया है। विनांद एम कैलवर्त्त रविदास के जीवनवृत्त से संबंधित सभी आधारों तथा संकलित वाणियों की अपनी पुस्तक में सघनता से पड़ताल करते हैं। शोध में उन सभी संदर्भों को विस्तार से उल्लिखित किया गया है।

विनांद एम कैलवर्त्त विभिन्न भाषा क्षेत्रों में रविदास का नाम और उनकी वाणी में आए परिवर्तनों को प्रमुखता से स्थान देते हैं। देखा जाए तो वह अपने शोध की परिधि हिंदी भाषा तक ही सीमित नहीं रखते हैं, बल्कि विभिन्न भाषाओं में प्राप्त किंवदंतियों तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन कर विभिन्न 'रविदासी वर्जनों' पर चर्चा भी करते हैं। रविदास की कविता को जिन भक्ति परंपराओं के संयोजन का उपजीव्य विनांद एम कैलवर्त्त मानते हैं उनमें नाथ, पतंजलि का योग और करुणापूर्ण वैष्णव कथाएँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। वह सगुणी परंपरा को केवल 'करुणा के दृश्यों' और 'नामजप' तक ही अपनी भक्ति में स्वीकारते हैं और मनन तथा सुमिरन को प्राथमिकता देते हैं।

कबीर अन्य कवियों की अपेक्षा पश्चिम में सबसे पहले पहुँच गए थे। इस प्रकार कबीर की कविता पश्चिमी विद्वानों के लिए एकदम अपरिचित नहीं थी। वहाँ के लगभग दो दर्जन अख़बारों में कबीर विषयक लेख प्रकाशित हुए थे। भारत की भक्तिकविता की किसी भी संदर्भ में व्याख्या हो वह कबीर के बिना पूर्ण नहीं होती थी। तासी अपने इतिहास में नाभादास के 'भक्तमाल' से सामग्री प्राप्त करते हैं तथा कविता का मूल्यांकन करते हुए वह उनकी भाषा, जीवन, रचनाएँ तथा उन में पाई जाने वाली विविधता पर चर्चा करते हैं।

गार्सा-दा-तासी, रविदास का कम तथा कबीर का वर्णन ज़्यादा करते हैं इसके मूल में प्रमुख कारण यह हो सकता है कि कबीर से पश्चिमी दुनिया अनुवाद तथा आलोचना के माध्यम से किसी न किसी रूप में परिचित थी। तासी, कबीर की कविता के प्रभावोत्पादक कारकों का वर्णन कर उनके सामाजिक सरोकारों के कारण 'ब्राह्मण-भारत के सुधारक' के रूप में स्थान देते हैं।

भक्तमाल के वर्णनों के आधार पर ग्रियर्सन ने कबीर विषयक अपनी स्थापनायें प्रस्तुत कीं और किंवदंतियों का सहारा लेकर वह कबीर के जीवनवृत्त तथा उसमें रामानंद का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। जिस प्रकार भक्ति के उदय में वह 'ईसाईयत का प्रभाव' लक्षित करते हैं, उसी प्रकार कबीर की शिक्षाओं पर 'नेस्टोरियन धर्म' का प्रभाव मानते हैं। कबीर के संदर्भ ग्रियर्सन प्राच्यवाद के उस अध्येता के रूप में सामने आते हैं जो जीवन और कविता संबंधी वर्णनों पर भरोसा करते हुए व्याख्या को अपने पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं करते हैं।

निर्गुण परंपरा में ग्रियर्सन, कबीर को उनके सिद्धांतों को आचरण के अनुसार 'सिद्धांत मात्र' मानते हैं। आधुनिक आलोचक, कबीर में जहाँ 'जागरण का एक प्रमुख स्वर' तथा 'विचारों में आधुनिकता की झलक देखते हैं' वहीं के 'सिद्धांतों की ऊसरता' की बात करते हैं। इसका प्रभाव बाद के आलोचकों विशेषतया आचार्य रामचंद्र शुक्ल में लक्षित होता है।

एडविन ग्रीब्ज, कबीर के संबंध में जीवनवृत्त का निर्माण करते हुए यह मानते हैं कि कबीर को हिंदू धर्म का जितना भी ज्ञान है वह रामानंद की समीपता के कारण है। एक तरफ आलोचना इस संबंध की प्रामाणिकता पर अभी संदेह व्यक्त कर रही है, वहीं पश्चिम के अधिकतम

आलोचकों द्वारा इस संबंध पर अपनी सहमति की मुहर लगाकर लगातार वैधता प्रदान की गई है।

एडविन ग्रीब्ज, कबीर के स्वकथनों को आलोचना के लिए महत्त्व प्रदान करते हुए किंवदंतियों से ज़्यादा प्रमाणिक मानते हैं। और उनके कथनों में रूढ़िवादिता, पाखंड, आडंबर आदि के विरोध के कारण समाज में 'सत्यता के पक्षधर कवि' के रूप में मानते हैं। कबीर के दार्शनिक विचार किसी एक लीक का अनुसरण न कर उलझे हुए ज़्यादा थे। प्रक्षिप्तता का प्रश्न जितना कबीर की कविताओं के संबंध में देखने को मिलता है, उतना अन्य कवियों के संबंध में कम मिलता है। क्योंकि कबीर के साहित्य की मौखिकता उसमें प्रक्षिप्तता के अंश को शामिल करने का अनुकूल माहौल प्रदान करने में सहायक रही है।

केई द्वारा किंवदंतियों और जनश्रुतियों का उपरोक्तानुसार आधार ग्रहण कर कबीर को 'बुनकर मुसलमान' माना गया है। इसको वह इन अर्थों में स्थापित करते हैं कि उनपर इस्लाम का प्रभाव था। लेकिन स्पष्ट रूप से खुले शब्दों में वह इस व्याख्या को आरोपित न कर संभावना मात्र जताते हैं। कबीर को 'हिंदी का अग्रदूत' और 'पिता' मानते हुए उनकी भाषा की अस्पष्टता को प्रमुख बाधा के रूप में देखते हैं। जिसके संदर्भ में मेरा अनुमान है कि उलटबाँसी, यौगिक तथा पंथगत साहित्य को देखकर केई ने यह राय व्यक्त की होगी।

गुई सोरमन, कबीर को 'राष्ट्रकवि' की उपाधि से विभूषित करते हैं। कबीर पर विभिन्न आलोचकों ने स्वतंत्र रूप से विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है। कबीर की कविता में जो 'रहस्यवाद',कठिनता, अकृत्रिमता के पक्ष खोजे गए उनमें मुख्य रूप से तृप्ति श्रीवास्तव उस 'विक्टोरियन मानसिकता' को ज़िम्मेदार ठहराती हैं, जो अनुवादकों द्वारा 'भाषाई प्रतिस्थापन' की निर्मिति है। वेस्टकॉट आदि ने जिस कबीर का 'ग्रामीण जन' पर प्रभाव माना तो डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर ने उनकी तुलना 'लूथर' से की। लूथर के संबंध में प्रस्तावना में ही तथ्य प्रस्तुत कर इस पक्ष पर ज़ोर दिया गया कि यह तुलना निराधार है तथा 'कबीर ज़्यादा मानवतावादी और लोकतांत्रिक' हैं।

केई इतिहास के अलावा 'कबीर तथा कबीर पंथ' स्वतंत्र पुस्तक में मध्यकालीन शासन व्यवस्था की परिस्थितियों और संक्रमण के कारण उभरे असुरक्षा बोध तथा क्षोभ को कबीर जैसे व्यक्ति के उदय के लिए आवश्यक कारक मानते हैं। जन्म, मृत्यु तथा परिवार आदि की प्रामाणिकता की पड़ताल उनके द्वारा की जाती है। लेकिन जब वह कविता की अलोकप्रियता के कारणों को गिनाते हैं तो उसमें धर्म, मान्यताओं तथा कटुता को प्रमुख रूप से ज़िम्मेदार मानते हैं। पाठानुसंधान का प्रश्न तथा रचनाओं की संख्या विषयक विवाद कबीर के आलोचकों के मध्य आज भी देखने को मिलता है। लेकिन कुछ ठोस मान्यताएँ जो 'कबीर के मूल स्वर' से मेल खाती हैं। उनको कबीर की रचनाएँ मानने का समर्थन कर बाकी को अलग कर देने का सुझाव प्रस्तुत करते हैं। कबीर की लोकप्रियता में भाषा स्पष्ट रूप से एक प्रमुख उपादान के रूप में मानी गई है और केई को कबीरपंथ पर आज जो ब्राह्मण रीति-रिवाजों तथा सांस्कृतिक

मान्यताओं का प्रभाव देखने को मिलता है उसे 'संस्कृतिकरण' के प्रभाव के कारण आये हुए बदलाव के रूप में देखते हैं।

जॉन स्ट्रेटन हौली समकाल में कबीर के ज़बरदस्त प्रभाव को रेखांकित करते हुए शोधपूर्ण कुछ नया न हो पाने के लिए अकादमिक दुनिया की 'अजगरी अकर्मण्यता' को ज़्यादा ज़िम्मेदार मानते हैं। घिसी-पिटी पुरानी लीक पीटने के कारण हौली हिंदी विद्वानों को नए विचार अस्वीकार करने वाला घोषित करते हैं।

पांडुलिपियों के प्राप्ति स्थान तथा संकलनकर्त्ताओं के मूल स्थान के कारण पांडुलिपियों में आक्रोश, भाषा, मान्यताओं का बहुत ज़्यादा बदलाव देखने को मिलता है। वह 'कटुवाग्मिता' कहीं धीमी 'वैष्णव भक्ति' तो कहीं 'निर्गुण क्रांतिकारी' रूप धारण कर लेती है। रामानंद-कबीर संबंध की कल्पित की गई हास्यास्पद कहानी को हौली मान्यता प्रदान नहीं करते हैं। जबकि इनके पूर्व के आलोचकों द्वारा इस मान्यता को लगातार पुष्ट किया गया। हौली अपनी पुस्तक में कबीर के राम को 'विश्व हिंदू परिषद के राम से' अलगाते हैं तथा उनका मूल्यांकन वर्तमान के धरातल पर करते हैं। हौली इस मूल्यांकन में कबीर की 'वर्तमान में उपयोगिता' को भी मूल्याँकित करते हुए निष्कर्षतः उन्हें आज के 'लोकतंत्र और सद्भाव के ब्रांड एंबेसडर' के रूप में स्थापित करने का कार्य करते हैं।

कबीर के बीजक का अनुवाद और संपादन लिंडा हेस और सुखदेव सिंह द्वारा किया गया। उसकी भूमिका में कबीर पर एक सुचिन्तित आलोचना हमें प्राप्त होती है। वह कबीर की समन्वयकारी छवि को स्वीकार नहीं करतीं, बल्कि वह कबीर की पहचान एक 'स्वतंत्र धार्मिक चेतना' की निर्मिति करने वाले कवि के रूप में करती हैं। वह सभी धर्मों की मूर्खता पर कटाक्ष करते हैं, उस पर प्रश्न खड़ा करने का काम करते हैं, इसी कारण समन्वयकारी छवि के इतर हेस, कबीर को 'कट्टरपंथी ईमानदार' के रूप में देखती हैं और उस प्रक्रिया को समझने का प्रयास अपनी आलोचना में करती हैं जिसमें वह कहन शैली प्रभावशाली बन जाती है। यही 'कट्टरपंथी ईमानदारी' ही कबीर का कबीरपन है, जो उन्हें समन्वयवादी के साँचे से बाहर निकालता है।

हेस अपनी दूसरी पुस्तक में मौखिक परंपराओं में कबीर गायन की परंपराओं से आज तक चली आ रही मान्यता को प्रमुख स्थान प्रदान करती हुई उसका विश्लेषण कर, विभिन्न समयों में आए बदलावों को अपने अध्ययन का केंद्र बनाती हैं। इस प्रकार वह अपने अध्ययन में वर्तमान स्वरूप के माध्यम से कबीर को समझने की माँग करती हैं। जो कबीर में पाया जाता था। वाणी की समाजिकी, जाति, वर्ग, धार्मिक आदि स्तरों पर जाने के लिए इनसे संबंधित स्थानों, गायकों तथा पंथ के लोगों के माध्यम से कबीर को समझना कारगर मानती हैं।

डेविड लॉरेन्जन 'मध्यकालीन सहिष्णुता' तथा कबीर की कविता के आलोक में आज के समाज को असहिष्णु मानते हैं और 'औपनिवेशिक ज्ञानकांड' की उस चाल पर प्रश्न खड़ा करते हैं जहाँ 'देशज स्रोतों' पर संदेहात्मक दृष्टि से विद्वानों के द्वारा देखा गया है। लोकप्रियता-

अलोकप्रियता के प्रकरण में वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि यदि कबीर की कविता लोकप्रिय और प्रभावशाली न रही होती तो वह समाज के रूढ़िवादी लोगों को इतना परेशान नहीं करती, न ही वह इसका इतना मुखर विरोध करते। कबीर-गोरखनाथ के उपासना धर्म किसी एक धर्म का अनुसरण नहीं कर रहे थे, न ही इसकी वाणी में किसी एक की पक्षधरता देखने को मिलती है। इसीलिए जितने भी निष्कर्ष प्राप्त किए गए हैं उनके ठोस आधार प्राप्त नहीं होते हैं।

लारेंजन में हिंदू-मुसलमान, योगी,शाक्त परंपरा का सम्मिलित प्रभाव वाले एक पंथ के रूप में कबीरपंथ को देखा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी इसी प्रकार की निर्मिति को कबीर की कविता मानते हैं। शर्तोल वोदिविल के 'संत चरित विन्यास' की विस्तृत व्याख्या, लारेंजन कबीर के संबंधों/ जन्म/ मृत्यु /गुरु/ किंवदंतीपरक विश्लेषण आदि के साथ अन्य निर्गुण कवियों की एक तुलनात्मक सारणी बनाकर अध्ययन करते हैं और संतोंचरितों का एक 'टिपिकल जीवन विन्यास' पाते हैं। संतो के जीवन की चमत्कारी घटनाएँ लगभग एक जैसी थीं। इनमें अगर अंतर पाया भी गया तो बहुत ही कम पाया गया। इसी मूल विन्यास के आधार पर भक्तिकविता और उसके ऐक्य की ओर लारेंजन अपनी पुस्तक में ध्यान आकृष्ट कराने का कार्य कर रहे थे।

रविदास और कबीर पर पाश्चात्य आलोचकों ने कलम चलाई और अपनी आलोचना प्रस्तुत की। लेकिन अन्य निर्गुण संत जिनमें नामदेव, पीपा, नानक, दरियादास, वीरभान, सेना तथा कबीर के अन्य उत्तराधिकारियों के बारे में केवल जन्म, रचना, पंथ, गुरु आदि का वर्णन मात्र इतिहास ग्रंथों में इतनी ही जानकारी मिलती है। वहाँ किसी गहन तथ्य या कवि/ कविता पक्ष की पड़ताल नहीं की गई। इसी कारण उपअध्याय में सामान्य परिचय मात्र देकर ऐतिहासिक क्रम में इन कवियों का वर्णन कर दिया गया है।

शोध-अध्याय 4 के अंतर्गत 'कृष्णभक्ति काव्य परंपरा' को अध्ययन की सुविधा के लिए छह प्रमुख उपाध्यायों में विभाजित कर निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। इसमें विद्यापति, सूरदास, मीरांबाई के बारे में विद्वानों की जो राय प्राप्त हुई है उसे सगुण भक्तिकृष्ण काव्य की आलोचना के आलोक में व्याख्यायित किया गया है। पूर्व विवेचन में विभाजन के आधारों की चर्चा की जा चुकी है। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन जिस भक्तिकाल को 'पुनरुत्थान युग' की संज्ञा देते हैं, उसके एक काव्यपक्ष 'कृष्ण भक्ति कविता' को यौनपूजा, वासना, भावावेग आदि से जोड़ते हैं। जिस कृष्णभक्ति कविता में सूरदास की कविता उपस्थित है उसमें शाक्तों की अनाम वीभत्सनाओं का मिश्रण ग्रियर्सन द्वारा देखा गया है। इस प्रकार जिस साहित्य को ग्रियर्सन द्वारा देखा गया, वह नैतिक रूप से अत्यंत पतनशील साहित्य था। जिन प्रभावों को यह लक्षित करते हैं उनमें शाक्त, नाथ, बंगाल की पूजा पद्धतियों का प्रभाव प्रमुख रूप से था। कहाँ कृष्ण का सूरदास, मीरां वाला स्वरूप और कहाँ यह वृंदावन,कहाँ मुरली बजाते, रास-रचाते कृष्ण और कहाँ वीभत्सता जैसे शब्द। इस पक्ष की पड़ताल ग्रियर्सन द्वारा

ठीक से नहीं की गई तथा वह तत्कालीन बंगाल में प्रचलित पूजा-पद्धतियों के आलोक में कृष्ण संप्रदाय को देखते हैं।

एडविन ग्रीब्ज इसमें ब्रजभाषा के महत्तव को 'अमर बनाने' के रूप में सूरदास को याद करते हैं। शुक्ल जी की व्याख्याओं को आधार प्रदान करने का काम करते हैं। ग्रीब्ज की सूर विषयक स्थापनायें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना को प्रभावित करने का काम करती हैं।

केई इसमें ऐंद्रिक बिम्ब और मांसलता के साथ-साथ आवेग को भी देखने का काम अपनी आलोचना में करते हैं। प्रस्तावना में विलियम जॉन्स तथा लॉर्ड मैकाले जिस क्लासिक साहित्य के न होने की बात का वर्णन करते हैं। हौली उसका खंडन कर भगवतगीता को पश्चिम का परिचित तथा क्लासिक ग्रंथ मानते हैं। हो सकता है यह बाद की निर्मित व्याख्याएँ हों तथा समय के साथ स्वीकार्यता बढ़ने और सकारात्मक बदलाव की उपज हों।

ग्रियर्सन फारसी कविता-पैटर्न को कृष्णभक्ति साहित्य में मानते हुए उसे इसी मॉडल का अनुसरण करने वाली धारा मानते हैं। कृष्ण द्वारा की जा रही बाललीला को वह किशोर नायक से जोड़ देते हैं जो फारसी की कथाओं में पाया जाता है। हौली इस साहित्य को 'लैंगिकता' के दृष्टिकोण से भी देखते हैं। क्योंकि जितनी स्वतंत्रता कृष्ण के रूप में वर्णन करते हुए एक पुरुष खुद को प्रदान करता है, क्या उतनी ही स्वतंत्रता राधा या मीरां का लेखन करते हुए एक स्त्री को प्राप्त हो सकती है?

विद्यापति के साहित्य को हिंदी साहित्य के इतिहास में 'भक्तिकविता' में स्थान नहीं दिया गया। पश्चिम में बीम्स द्वारा लिखे गए निबंधों का प्रभाव भी विद्यापति विषयक आलोचनाओं में प्राप्त होता है। ग्रियर्सन, विद्यापति के जीवन के संबंध में शोधपूर्ण कार्य करते हुए जीवन तथा कविता की प्रमाणिकता पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करने का काम करते हैं। इन्होंने अपनी आलोचना में शारदाचरण मित्र द्वारा किए गए संकलन के उपरांत दिए गए निष्कर्ष जिसमें वह विद्यापति को 'बांग्ला कवि' के रूप में स्थापित करने का उपक्रम कर रहे थे, उन्होनें विद्यापति विषयक अपने अध्ययन में इस स्थापनाओं को उलट दिया और विद्यापति को 'मैथिल कवि' के रूप में हिंदी साहित्य में स्थापित किया। विद्यापति को 'पूर्वी भारत का सबसे प्रसिद्ध कवि' बताते हुए ग्रियर्सन द्वारा उन्हें 'वैष्णव कवि' बताया गया। इनकी कविता में पाई जाने वाली श्रृंगारिकता और विकृति का समावेशन इनके बाद प्रचलित परंपरा द्वारा किया गया मानते हैं। लोकप्रियता के कारण इनकी परंपरा का अनुसरण करने वाले लोगों द्वारा प्रेमगीतों में अपने गीतों को मिला दिया गया या विद्यापति की छाप का प्रयोग कर गीतों की रचना की गई। इसी कारण ग्रियर्सन गीतों में पाई जाने वाली विकृतियों के लिए अनुसरणकर्त्ताओं की परंपरा को ज़िम्मेदार मानते हुये, इनके गीतों में अभिव्यक्त स्वर को 'जनता का धर्म' कहते हैं। गीतों को राधा-कृष्ण के कथानक से सम्बद्ध मान कृष्णभक्ति परंपरा में स्थान देने का काम करते हैं। ग्रीब्ज अपनी आलोचनात्मक स्थापनाओं में ग्रियर्सन का ही अनुसरण ज़्यादा करते हैं।

केई भी किसी मौलिक उद्धावना/व्याख्या न प्रस्तुत कर इन गीतों के व्यापक प्रसार क्षेत्र और चैतन्य महाप्रभु द्वारा गीतों को लोकप्रिय बनाने को महत्तव देते हुए रेखांकित करते हैं।

सूरदास की आलोचना के संदर्भ में देखने पर मिलता है कि तासी द्वारा जिस अंधे संतों की 'सूरदासी परंपरा' को कल्पित कर लिया गया वह बाद में कहीं भी प्राप्त नहीं होती है। यह इन्हें 'ब्राह्मण' मानते हैं तथा संप्रदाय मान्यता जिसमें यह 'अक्रूर के अवतार' माने जाते हैं उसका समर्थन करते हैं। इनकी रचनाओं को 'विशन पद' और ग़ज़ल की तरह 'रागपद' कहते हुए, उर्दू कवियों का प्रभाव सूरदास की कविता पर मानते हैं।

ग्रियर्सन, वल्लभाचार्य के प्रयासों से विकसित संप्रदाय के प्रमुख कवि सूरदास का वर्णन अपनी आलोचना में करते हैं। प्रमाणों के अभाव में ग्रियर्सन जिन मिथ्या धारणाओं को कल्पित करते हैं, उनमें सुधार किया। लेकिन सूर को 'अकबर का दरबारी गवैया' ग्रियर्सन द्वारा माना गया और उनके वंश के संबंध वह किसी राजवंश में सूरदास के होने की पुष्टि करते हैं। सूर की कविता के संबंध में भी मूल्यांकन करते हुए ग्रियर्सन कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। भगवतगीता के सहारे निर्मित कथ्य तुलसी के बाद काव्यकला के क्षेत्र में स्थापित करने का काम सूरदास ने किया।

एडविन ग्रीब्ज इस संप्रदाय तथा सूर की निर्मिति में वल्लभाचार्य की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और उनके अनुसरण पर ही सूरसागर को भागवत के कथानक के आधार पर उसकी 'पुनर्रचना' मानते हैं। पदों की संख्या की बहुलता को देखते हुए एडविन ग्रीब्ज प्रक्षिप्तता के प्रश्न पर विचार करते हुए इस काव्य की लोकप्रियता के पक्षों पर विचार कर तुलसीदास के बाद सूरदास को स्थान प्रदान करते हैं। साथ ही सूर की कविता में संगीतात्मकता के तत्त्व को रेखांकित करते हैं।

जॉन स्ट्रेटन हौली अपनी आलोचना में पाठानुसंधान पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। इसके पीछे वह पांडुलिपियों की अनुपलब्धता और उस 'बिचौलिए वर्ग' की बात करते हैं, जिसने पदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए जिसने जाली पांडुलिपियों की रचना की। लेकिन इसके बावजूद हौली ने भक्ति कविता और गहरे मानवीय सरोकारों की व्यापकता की बात की है। हौली भक्तकवियों की कविता के लिए पश्चिमी पाठानुसंधान प्रविधि को अपनाने की बात करते हैं। सूर की कविता को हौली एक क्रमवार कोश के रूप में देखते हैं, जिसमें एक प्रकार की क्रमबद्धता और पूर्वापर संबंध मानते हुए भक्तमाल के आधार पर उन्हें नेत्रहीन नहीं मानते हैं।

सूर के बाद मीरां के जीवन संबंधी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ तासी के इतिहास ग्रंथ में प्राप्त होती हैं। उनके इस वर्णन पर कर्नल टॉड का प्रभाव है। हौली ने मीरां की कविता को जयदेव की परंपरा से जोड़ने का काम किया। वह टॉड द्वारा दी गई स्थापना को ही प्रस्तुत करने का काम कर रहे थे। ग्रियर्सन, मीरां के जीवन के संबंध में ज़्यादा विवरण अपने इतिहास में नहीं देते, बल्कि उपासना और कृष्ण से संबंधित उनकी भक्ति को ज़्यादा विवेचित करते हैं।

ग्रीब्ज, मीरां की कविता का स्थान निर्धारित करते हुए प्रथम स्थान निर्धारित करते हैं। वहीं केई मात्र अनुमान प्रस्तुत करते हैं और मीरां को अभूतपूर्व लेखिका तथा ‘सर्वाधिक प्रसिद्ध कवयित्री’ के रूप में स्थान देते हैं। केई गुरु-शिष्य परंपरा जिसमें मीरां-रैदास का संबंध है, उसको मीरां के 'विचार परिवर्तन' के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारक मानते हैं।

अन्य आलोचकों में कर्नल टॉड अपने रोमांटिसिज़्म संस्कारों के कारण मीरां की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उनके व्यक्तित्त्व पक्ष की अनदेखी कर देते हैं। हौली, मीरां की आलोचना करते हुए उसे ‘लैंगिक विमर्श’ से जोड़ देते हैं। टॉड, मीरां को ‘एक योग्य राजकुमारी’ के रूप में देखते हुए एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्त्व के रूप में प्रतिस्थापित करने का काम करते हैं। टॉड, मीरां की कविता को उत्कृष्ट कविता मानकर कवयित्री के रूप में विशेष स्थान देने का काम करते हैं। टॉड उस राजनीति को उजागर करते हैं जिसमें मीरां के नाम पर ईर्ष्यापूर्वक गीतों की रचना की गई। गुस्ताव गोएत्जे अपनी पुस्तक में मीरां के जिस जीवन विवरण को प्रस्तुत करते हैं, उसे माधव हाड़ा 'विभाजित मस्तिष्क' की संज्ञा देते हैं। गोएत्जे इतिहास के देशज स्रोतों को मूर्खतापूर्वक कही गयी भावावेगपूर्ण किंवदंतियाँ मानते हैं। वह ‘मीरां की प्रेम दीवानी’ प्रतिमा से इतर एक नई मीरां को रचते हुए, उसे ‘अकबर के साम्राज्य की वैचारिक रचनाकार’ के रूप में महत्त्व प्रदान करते हैं। मीरां को ईसा मसीह से तुलना कर संत तथा पवित्रात्मा कहते हैं। उनके चरित की पुनर्रचना में रविदास का प्रभाव लक्षित करते हैं और मीरां के प्रवास के द्वारा भक्ति कविता के अखिल भारतीय स्वरूप की निर्मिति का प्रयास करते हैं। उनका जीवन दो विषम ध्रुवों जिसमें एक राजपरिवार से लेकर संतसंगति तक के विराट अनुभव थे। मीरां की जो आलोचना गोएत्जे ने प्रस्तुत की, माधव हाड़ा उसे 'मनमानी व्याख्या' कहते हुए विवेचित करते हैं।

फ्रांसिस टैफ़्थ लिंगगत भेदभाव के उस परिप्रेक्ष्य को आलोचना में आधार के रूप में ग्रहण करते हैं, जहाँ पर महिला रचनाकारों की रचनाओं का संकलन और लिप्यंतरण बहुत समय बाद किया गया। वहाँ पर चयन करते हुए अपनी नैतिकताओं का ध्यान रखते हुए विद्रोहात्मक स्वर को कम स्थान दिया गया। लेकिन मीरां के गीत महिलाओं के कंठों से प्रसारित तथा संरक्षित हुए। लेकिन संपादन की राजनीति ने उसके मुख्य स्वर को हमारे सामने नहीं आने दिया।

हौली चरितलेखन या कहें आत्मकथन की व्याप्ति मीरां की कविता में अन्य से ज़्यादा पाते हैं और इन पर संपूर्णता में विश्वास न करते हुए एक संशयात्मक अविश्वास इनके प्रति प्रकट करते हैं। जॉन स्ट्रेटन हौली वर्तमान में मीरां की स्वीकृति को अन्य कवियों से ज़्यादा मानते हुए उनकी विभिन्न शताब्दियों में व्याप्त छवियों की चर्चा करते हैं और उनमें अंतर पाते हैं। मीरां के संबंध में जो भूमिगत धाराएँ उन्हें प्राप्त होती हैं, वह समय-समय पर स्थापित व्याख्याओं को बदलने का काम करती हैं।

मीरां का व्यक्तित्त्व जिन अज्ञात महिला रचनाकारों द्वारा उनकी छाप का उपयोग कर रचना करने की प्रेरणा बना, उसमें मीरां नाम की छाप का उपयोग किया गया। वह प्रक्षिप्तता के साथ-साथ प्रामाणिकता का प्रश्न लेकर आलोचना में हमारे सामने उपस्थित होता है।

रामभक्ति कविता के पश्चिमी आलोचक संख्यात्मक रूप से सबसे अधिक हैं तथा इस कविता पर पश्चिम में विचार-विमर्श सबसे ज़्यादा हुआ है। इसमें तुलसीदास की कविता उसमें भी रामचरितमानस विशेष रूप से अध्ययन के केंद्र में रही। 'द रिलीजस सेक्ट्स ऑफ़ हिंदूज़' में तुलसीदास के वर्णन से शुरू हुआ यह अध्ययन आज तक जारी है। तासी, ग्रीब्ज भक्तमाल के आधार पर तुलसी विषयक किंवदंतियों का आधार ग्रहण कर अपनी आलोचना प्रस्तुत करते हैं। तासी प्रथम संस्करण में सुंदरकांड के अनुवाद को प्रस्तुत करने की बात करते हैं। लेकिन हिंदी की अल्पज्ञता के कारण वह ज़्यादा अच्छा अनुवाद नहीं कर पाए। वह अपनी धार्मिक नैतिकताओं के कारण उसके कुछ भाग को छोड़ देते हैं। तासी संस्कृत साहित्य की पुस्तकों से ज़्यादा भारतीय मानस को प्रभावित करने वाली पुस्तक रामचरितमानस को मानते हैं। उसके प्राचीन रूपों की समझ ज़्यादा लोगों में न मानकर वह इस ग्रंथ की लोकप्रियता को कुछ ख़ास लोगों तक सीमित कर देते हैं, जो धार्मिक भावना से अलग उसे कंठस्थ या रटकर पाठ करते हैं।

ग्रियर्सन कविता-श्रेष्ठता, कवि-श्रेष्ठता की तुलना करने के लिए तुलसी को प्रतिमान मानते हैं। वह तुलसी के लोक व्यवहार, मर्यादा तथा लोकभाषा में रचना के कारण और मानस में 'वसुधैव कुटुंबकम' व 'अतिथि देवो भव' के मूल्यों के कारण ज़्यादा लोकप्रिय मानते हैं। कृष्णभक्ति कविता में जो विलासिता का तत्त्व पाया जाता है वह राम भक्ति काव्य में नहीं है। रामकाव्य शताब्दियों से हिंदुस्तान के 'लोकरक्षक और पथप्रदर्शक' के रूप में भारतीय मानस को निर्देशित करता रहा है। इस प्रकार ग्रियर्सन इस कृति का अक्षुण्ण प्रभाव अपनी आलोचना में लक्षित करते हैं। इसी के कारण वह तुलसीदास को 'बुद्ध के समकक्ष' मानते हुए इस ग्रंथ को अपनी आलोचना में बाइबल के समान पवित्र मानते हैं।

रामचरितमानस की लोकप्रियता के भूगोल को जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन संपूर्ण हिंदी प्रदेश में विस्तृत करते हुए उसके व्यापक प्रभाव को संपूर्ण हिंदू जाति की 10 करोड़ आबादी पर मानते हैं। ग्रियर्सन मानस को 'भाषा रामायण' कहते हुए उसके भाषाई महत्त्व को निर्धारित करते हैं। वह मानस की शैली को प्रवाहपूर्ण, सरलतम पद्य में रचित मानते हुए श्रुति परंपरा द्वारा किए गए बदलाव की आशंका व्यक्त करते हैं, लेकिन यह आशंका निराधार है। मानस के रचनाकार के समक्ष वह अंग्रेज़ी भाषा और पूरे यूरोप में कोई रचनाकार तुलसीदास के समकक्ष नहीं पाते हैं और ग्रियर्सन तुलसी का विश्वकवियों में स्थान निर्धारित करने का काम करते हैं। विराट अनुभव को समेटे तुलसी की कविता अपने अनुभव सीधे प्रकृति से ग्रहण करती है और स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि वह प्रकृति के संबंध में अपने टीकाकारों से ज़्यादा जानते हैं।

एडविन ग्रीब्ज कविता को समझने के लिए भारतीय मापदंडों की माँग करते हैं। वह तुलसी विषयक रचनाओं का आस्वादन पाश्चात्य नैतिकताओं और बिंबों के माध्यम से करने में बाधा मानते हैं। आदर्श दांपत्य प्रेम, लोकप्रिय भाषा-शैली, विनीत धार्मिक चेतना, गढ़न की शैली की परिपक्वता के साथ ब्राह्मण उच्चता और पक्षधरता की बात को अपनी आलोचना में प्रस्तुत करते हैं। वह तुलसी के इस पक्ष के लिए अन्य की तरह बचाव मुद्रा नहीं अपनाते।

केई सबसे महिमामय तथा लोकप्रिय नाम तुलसीदास का मानते हैं और इसकी ख्याति को विश्व विख्यात की श्रेणी में ले जाते हैं। मानस की स्वीकृति को केई श्रेष्ठता का प्रमाण मानते हुए उत्तर भारत में वैष्णव मत के प्रतिष्ठापक के रूप में देखते है।

फादर कामिल बुल्के रामकथा की विश्व व्यापकता पर अपनी आलोचना प्रस्तुत करते हुए 'रामकथा उत्पत्ति और विकास' तथा 'एक ईसाई की आस्था' पुस्तक में निबंधों के माध्यम से रामकथा, रामचरितमानस और तुलसीदास पर विचार करते हैं। उस पूरी परंपरा की पड़ताल करते हैं जिसमें राम कथा धीरे-धीरे विकसित हुई। आलोचना करते हुए बुल्के उन मूल्यों तक अपनी पहुँच बनाने का काम करते हैं जिसका उपयोग रामचरितमानस की निर्मिति में हुआ।

याकोबी, ई.हापकिंसन्, बेबर , होमर आदि की आलोचना और काव्य का अध्ययन कर वह रामकथा के विकास की पृष्ठभूमि को निश्चित करने का काम करते हैं। रामायण के पाठों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए बुल्के उनके कथाक्रम तथा कथा-विन्यास को विवेचिन करते हैं। अवतारवाद का आरोपण वह बाद की रामकथाओं की उपज मानते हैं। प्रथमतया इस कथा को अवतारवाद से अलग मानकर चलते हैं और कुलीश्वों द्वारा गायन के कारण इसके कई पक्षों का विस्तार और संकोचन मानते हैं।

बुल्के द्राविड़ देश से भक्ति की उत्पत्ति के संबंध में आलोचना से अपनी सहमति दर्ज कराते हैं। रामकथा में भागवत के प्रभाव से बाल लीला, संस्कृत नाटकों से पुष्प वाटिका प्रसंग रामकथा में आया है तथा कुछ प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति से परिचित न होने के कारण मानस के वर्णन में सामंजस्य नहीं प्राप्त होता है। फादर बुल्के मानस को 'भारतीय आदर्शवाद का उज्ज्वलतम प्रतीक' मानते हैं और इसका कारण सरल, सहज भक्ति को मानते हुए निर्भीकता पूर्वक भक्ति की अनावश्यकता पर ज़ोर देना मानते हैं। नैतिकता को भक्ति का एक आवश्यक तत्त्व घोषित करते हुए फादर बुल्के मानस के रचयिता पर लगाए गए वर्णाश्रमधर्म समर्थक व शूद्रों और स्त्रियों के प्रति की गई कटूक्तियों के लिए बचाव करते हैं। बुल्के इसके लिए परंपरा, पूर्व लिखित साहित्य, विश्व साहित्य की प्रवृत्तियों को आदि ज़िम्मेदार मानते हैं तथा पूरी रामकाव्य परंपरा में लोक संग्रही प्रवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ मानस को मानते हैं।

शार्तोल वोदिविल अपने शोध में मानस के मूलाधारों की खोज करने का काम करती हैं। वह तुलसी के जीवन के संबंध में ज़्यादा प्रामाणिक जानकारी नहीं जुटा सकीं और लोकप्रचलित किंवदंतियों को अपने शोध में स्थान दिया। कथा में व्याप्त समन्वयवाद इनकी नज़र में लोकप्रियता के पीछे का प्रमुख कारक है। शिवचरित्र को रामाश्रयी संस्करण कहते हुए

मानस को तुलसीदास की मौलिक देन माना है। तुलसीदास पर भागवत, शिव पुराण, कुमारसंभवम और अन्य राम कथाओं के अलावा सभी स्रोतों की पड़ताल करती हैं। तुलसीदास द्वारा सामंजस्य, एकरूपता तथा समन्वय द्वारा कथा-निर्मिति की गई। तुलसी के संबंध में शार्तोल द्वारा मानस के कांड, कथा प्रस्तुति, प्रसंगोद्भावना, नाटकीय तत्त्व, स्तुतियों आदि पर विस्तार से विवेचन करते हुए उनके उद्गम पर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची[1]

1. एक ईसाई की आस्था रामकथा और हिंदी, कामिल बुल्के, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली
2. अकथ कहानी प्रेम की, अग्रवाल,पुरुषोत्तम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. बैदहि औखद जाणै, हाड़ा, माधव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
4. भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण विभाजन का ऐतिहासिक आधार, विलियम्स,टायलर वाकर, एम. फिल. लघु शोध प्रबंध,(2007)जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
5. भक्ति के तीन स्वर, अनुवाद- अशोक कुमार, जॉन स्ट्रैटन हौली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
6. भक्ति परंपरा का प्राच्यवादी पाठ,श्रीवास्तव, तृप्ति ,नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
7. भारत हमें क्या सिखा सकता है, मैक्स मूलर,अनुवाद- सुरेश मिश्र,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
8. भारतीय साहित्य की भूमिका, शर्मा, रामविलास, राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली
9. दो सौ वैष्णवन की वार्ता ,सटीक, सटीक
10. डॉ ग्रियर्सन के साहित्येतिहास, गुप्ता,आशा (1948), आत्माराम एंड संस, दिल्ली
11. इतिहास और राष्ट्रवाद, सिंह, वैभव, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा
12. इतिहास क्या है, कार, ई एच (1987), मैकमिलन इंडिया लिमिटेड
13. हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन, पारीक, डॉ. रूपचन्द
14. हिंदी के यूरोपीय विद्वान (व्यक्तित्व और कृतित्त्व), मुरलीधर श्रीवास्तव, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना
15. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (द्वितीय संस्करण), वर्मा, डॉ रामकुमार
16. हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, गुप्त,किशोरीलाल (1978), विभू प्रकाशन
17. हिंदुई साहित्य का इतिहास, गार्सा-दा-तासी,अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1953) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद
18. हिंदी साहित्य का रेखांकन, अनुवाद डॉ किशोरीलाल, (1995) हिंदुस्तान अकेडमी इलाहाबाद
19. हिंदी साहित्य का इतिहास, अनुवाद-सदानंद शाही, एफ ई केई,लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर

[1] सभी संदर्भों के क्रम का आधार A-Z है.

20. हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास
21. हिंदी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, रामचन्द्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
22. जायसी, साही, विजयदेवनरायण, (2017), हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद
23. जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन और बिहारी भाषा साहित्य,डॉ आशा गुप्त,आत्माराम एंड संस, नई दिल्ली
24. कवितवाली, गीता प्रेस गोरखपुर
25. कबीर हैं कि मरते नहीं, कुशवाहा, सुभाष चंद्र, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद
26. कबीर एंड कबीर पंथ,अनुवाद कँवल भारती,एफ. ई. केई, फॉरवॉर्ड प्रेस, नई दिल्ली
27. मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, शर्मा,रामविलास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
28. मेरी आत्मकहानी, दास, बाबू श्यामसुंदर
29. मिश्र बंधु विनोद, मिश्रबंधु(चौथा भाग)
30. मैकाले एल्फिंस्टन और भारतीय शिक्षा, संपादक हृदयकान्त, रमाकांत अग्निहोत्री, अरुण चतुर्वेदी,वेददान सुधीर ,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
31. मध्यकालीन धर्म साधना,द्विवेदी, हजारी प्रसाद, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली
32. मेरे अपने तुलसी, बुल्के, रेवरेंड फादर डाक्टर कामिल, रामायण मेला अयोध्या में
33. निर्गुण संतों के स्वप्न, लारेंजन,डेविड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
34. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अनुवाद, सिंह, आदित्य नारायण, रोमिला थापर, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली
35. पाश्चात्य विद्वानों का हिन्दी साहित्य, जे एच आनंद
36. पृथ्वीराज रासो, चंदबरदाई, संपादक- हजारी प्रसाद द्विवेदी (1952)
37. पद्मावत, शुक्ल, रामचन्द्र,जायसी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
38. रामचंद्रिका, गीता प्रेस, गोरखपुर
39. रामचारित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर
40. रागकल्पद्रुम , संपादक-नागेन्द्रनाथ बसु
41. रामकथा, बुल्के, फादर कामिल, हिन्दी परिषद, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,प्रथम संस्करण 1950
42. रामकथा और तुलसीदास, बुल्के,फादर कामिल, हिंदुस्तान अकेडमी, इलाहाबाद
43. साहित्य का इतिहास दर्शन, शर्मा, नलिन विलोचन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
44. सटीक भक्तमाल, श्रीकृष्णदास,खेमराज, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई

45. शिवसिंह सरोज, संपादक त्रिलोकीनारायण दीक्षित

46. तुलसीदास रचित रामचरितमानस का मूलाधार व रचनाविषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन,अनुवाद- जगबंश किशोर बलवीर,शर्तोल वोदिविल, इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी फ्रांसीसए, पॉन्डिचेरी

47. तुलसी काव्य के अध्ययन में विदेशी लेखकों का योगदान, मिश्रा,ऋचा, भावना प्रकाशन, 1999, नई दिल्ली

48. उत्तरी भारत की संत परंपरा,चतुर्वेदी,परशुराम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

49. विश्व का जन इतिहास, क्रिस हरमन, संवाद प्रकाशन, मेरठ

50. वर्चस्व और प्रतिरोध, अनुवाद- शुक्ल, रामकीर्ति, एडवर्ड सईद, नई किताब प्रकाशन, नई दिल्ली

51. विनयपत्रिका, गीता प्रेस, गोरखपुर

<u>अंग्रेजी स्रोत</u>

52. एनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान, जेम्स टॉड, खंड 1,डब्ल्यू. सी. सामन्ता ऐट द बंगाल प्रेस

53. Alberuni s india, ES.sachau,

54. A history of Indian literature, M. viternitz, motilal banarasidas publication

55. Alexander veselovsky-1940 Iztoriche sky a poetics(historical poetics) Leningrad.

56. बेबर ऑन दि रामायण, बेबर

57. बॉडीस ऑफ सॉन्ग, लिंडा हेस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015

58. द बीजक ऑफ कबीर, लिंडा हेस और सुकदेव सिंह, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर

59. द वर्क्स ऑफ सर विलियम जोन्स, खंड-3, gale ecco publicatin

60. द लाइफ एण्ड वर्क ऑफ रैदास, कैलवर्त,विनांद एम.,फ्रीडलेन्डर पीटर जी., (1992),मनोहर प्रकाशन,

61. द अरलिस्ट सॉन्स ऑफ मीरां, जर्नल ऑफ द ओरियंटल इंस्टीट्यूट,लेख, वर्ष 1900,अंक 39,

62. द मेमोरी ऑफ लव, हौली, जॉन स्ट्रैटन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,2009,

63. द रिलीजस सेक्टस ऑफ हिंदूज़, एच. एच. विल्सन

64. हंड्रेड पॉयम्स ऑफ कबीर, एडविन अंडरहिल

65. जर्नल ऑफ रॉयल एशिआटिक सोसाइटी

66. मलिक मुहम्मद जायसी:अलेग्री एंड रिलीजस सिम्बलिज़म इन हिज पद्मावत,जॉन, इरविन मिलिस, (1984) द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो,

67. मॉडर्न हिंदुइज्म एंड इट्स डेब्ट टू द नेस्टोरियन' जॉर्ज अब्राह्मम ग्रियर्सन

68. मीरां:हर लाइफ एंड टाइम्स, गोएत्जे, हरमन, भारतीय विद्या भवन मुंबई, पृष्ठ-2

69. Maithili chrestomathy's JASOB ,1881

70. Pargiter ,ancient Indian historical tradition

71. पद्मावती, ए.जी.शिर्रेफ, (1944) द रॉयल एशिआटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल

72. पश्चिमी भारत की यात्रा, कर्नल जेम्स टॉड,

73. रूबी इन द डस्ट, थॉमस द ब्रुइंज, लीडेन यूनिवर्सिटी प्रेस 2012

74. सूफिज़्म इन मिडिविल हिन्दी लिटरेचर, व्हाइट,एस. जे., (j store)

75. सीकिंग बेगमपुरा, ओमवेट,गेल, नावण्या प्रकाशन